

है कि श्रुतावतार कथामें त्रिन कौण्डकुण्डपुत्रनिवासी पद्मसिद्धिका उल्लेख है और जिन्होंने कि धवत जन्मपत्रलक्षी श्रुतिश्च कुण्ड अंग लिखा है, वे ही कुण्डकुण्डाचार्य हैं। पर यह बात भी हमारी समझमें नहीं आती है। यदि उन्होंने ऐसी कोई श्रुति लिखी होती तो उनके समयसार, प्रवचनसार, पंचस्तिक्रम्य आदि प्रसिद्ध ग्रन्थोंमें कहीं न कहीं उगका उल्लेख या नाम मिलता; पर ऐसा नहीं है। श्री-उमास्वामीसे श्रीकुण्डकुण्डाचार्यकी अधिक प्राचीनताका दूसरा कारण यह है कि भारतकी समस्त शास्त्रसमाजोंके प्रारंभमें मंगलाचरणके रूपमें कहा जाता है—

मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं मीतमो मणी ।

मंगलं कुण्डकुण्डाचार्यो, जैनधर्मोऽस्तु मंगलं ॥

यदि उमास्वामी प्राचीन होते तो पहले उनका ही नाम लिखा जाता; पर ऐसा न करके श्रीउमास्वामिद्वारा सत्कार्यसूत्रको पढ़ने हुए भी यह मंगलाचरण पढ़ा जाता है। अतः हमारे विषयके अनुसार स्वामी कुण्डकुण्डाचार्यका समय विक्रम सं० ४९ ही है। ये आचार्य बड़े प्राचीन, प्रामाणिक, आध्यात्मिक, वीर-रणी और जैनधर्मके मर्मज्ञ हो गये हैं।

अभीष्ट श्रीकुण्डकुण्डाचार्यके पंचस्तिक्रम्य, प्रवचनसार और समयसार वे तीन ही रत्न बहुत प्रसिद्ध हैं। सेदकी बात है कि इन्हींके समान बलिह करे अंतर्गमें इनमें भी बहुत जो नियमसार-रत्न है, उसकी प्रसिद्धि यहाँ तक कम है कि बड़े बड़े लो उगका नाम भी नहीं जानते हैं।

अन्यथा चार कां हुए मैने बरमानके चार महीने जयपुरमें बिगाये थे। वहाँ सेवेंके दिगम्बरजैनमन्दिरमें सेठ विजयचन्द्रजीने अष्टादिकाके मन दिये थे। उनके लाज्जामें उन्होंने मुझे बड़े मन्त्र भेट देना कहा था। मैने उग मंदिरके अंदरमें इस नियमसार देखके दर्शन दिये थे और उगका अध्ययन करके बहुत मन कटाया था। अनन्तर मैने उक्त सेठजीके वही ग्रंथ मँगवा और सेठजीने दिये थे दिवा। जयपुरमें विद्यालयकी शैली आध्यात्मिक रणके बड़े प्रेमी हैं, उन्होंने मुझे यह मन्त्र मुझ और उनके हिन्दी अनुवाद कर देनेके लिये मुझे कई बार अनुरोध दिया। अभीष्ट इस मन्त्ररत्नकी मंगलाच्छा नहीं हुई है, अनन्तर मैने उक्त सेठजीके अनुरोध तथा इस ग्रंथके मुद्रण जयपुरमें आस्थापन हिन्दी

भाषा-भाषियोंको करानेके हेतु इसकी संस्कृतटीकाके आधारसे हिन्दीमें टीका लिखनेका संकल्प किया और यह कार्य मिति माघ वदी ८ वीर सं. २४१७ से प्रारंभ करके वीर सं० २४३८ दीपमालिकाके दिन समाप्त किया ।

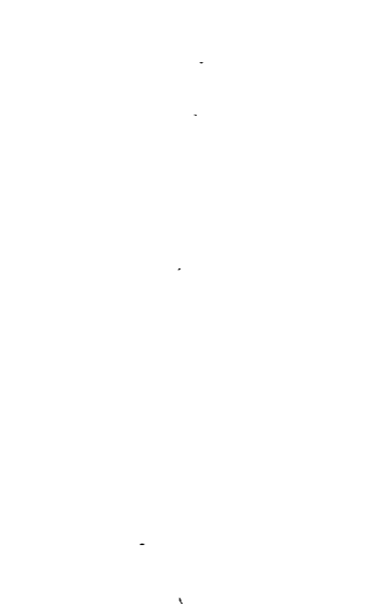
इस ग्रंथके संस्कृतटीकाकार निर्गन्ध मुनि धीपद्मप्रभ मलघारी देव हैं । इनका समय निश्चित नहीं है । अनुमानसे ये समयसारके टीकाकार तथा धीपुत्रपार्थमिद्वयुपायके रचयिता धीअमृतचन्द्रगुरिके पीछे हुए हैं । क्योंकि इन्होंने जगह जगहपर समयसारके कलशोंका उल्लेख किया है । ये टीकाकार आध्यात्मिक रसके बड़े प्रेमी थे । इन्होंने अपनी कृतिमें कई नवीन प्रन्थोंके श्लोक ' उक्तं च ' में दिये हैं । ये प्रन्थ अभी तक प्रकाशित नहीं हुए हैं । उनके नाम ये हैं—मार्गप्रकाश, अमृतसीति, एकत्वसप्तति, तत्त्वानुशासन और धृतबंधु आदि ।

इस पुस्तकमें पहले मूल प्राकृत गाथाका सामान्य अर्थ, और फिर संस्कृत-टीकाके अनुसार विशेष अर्थ लिखा गया है । जिस जगह विषयको अधिक स्पष्ट करनेके लिये अपनी ओरसे कुछ लिखा गया है वही ' भाषार्थ ' शब्द लिख दिया है । संस्कृतटीकाकारने प्रत्येक गाथाके अंतमें बहुत सुन्दर श्लोक लिखे हैं; उन श्लोकोंका अर्थ भी ' टीकाकार कहते हैं ' ऐसा लिखकर दिया गया है ।

मैं संस्कृत व्याकरण, न्याय, चाव्यादिसे अनभिज्ञ हूँ, धर्मशास्त्रोंकी भी मुझे पूर्ण जानकारी नहीं है, ऐसी दशामें मेरा यह ( अनुवाद करनेका ) साहस बाल्य-वर्षमें हास्यास्पद है । परन्तु इस ग्रंथके विषयमें मेरे मनमें जो अगाध भक्ति उत्पन्न हुई है उसकी प्रेरणासे मुझे इस कार्यमें बलपूर्वक हाथ डालना पडा । संभव है कि मेरी अज्ञानता या असावधानीसे कहीं कहीं भूलें रह गई हों, अतः मैं विद्वज्जनोंसे क्षमा-प्रार्थना करता हुआ आशा करता हूँ कि वे दयापूर्वक मुझे भूलें सूचित करेंगे जिससे दूसरे संस्करणमें वे भूलें या त्रुटियाँ न रहने पावें ।

बम्बई  
पूषवरी १५ वीर सं० २४४२ }

शीतलप्रसाद मलघारी ।



# विषय-सूची ।

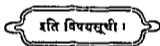


## मंगलाचरण.

विषय•	पृष्ठ.	विषय•	पृष्ठ.
<b>जीवाधिकार । १ ।</b>		<b>अस्तिकार्यका कथन ... ४६</b>	
मंगलाचरण और प्रपञ्चनेकी प्रतिज्ञा	३	द्रव्योंकी प्रदेशसंख्या ... ४७	
मोक्षमार्ग और उसके फलका कथन	४	अजीवद्रव्यका संक्षेप ... ४८	
नियम शब्दका अर्थ मोक्षमार्ग है	७	<b>शुद्धभाषाधिकार । ३ ।</b>	
स्ववहार सम्बन्धदर्शनका स्वरूप	७	स्याग्नेययोग्य और ग्रहणकरने योग्य तत्वों- का कथन ... ४९	
अठारह दोषोंके नाम ... ९		संसार और मुक्तजीवोंमें समानता ... ६१	
परमात्माका स्वरूप ... १४		दोनों नवोंकी सफलता ... ६५	
परमाणुका स्वरूप ... १५		रजप्रदका स्वरूप ... ६७	
छद्मद्रव्योंके नाम ... १७		<b>स्ववहारचरित्राधिकार । ४ ।</b>	
जीवका लक्षण ... १८		अद्विजाग्रतका स्वरूप ... ७०	
उपयोगके भेदोंका कथन ... १९		सत्यग्रतका स्वरूप ... ७१	
स्वभाव विभाव पर्यायोंका कथन ... २६		अचर्यग्रतका स्वरूप ... ७२	
चारणतियोंका कथन ... २८		ब्रह्मचर्यग्रतका स्वरूप ... ७३	
कर्ता भोक्तापनेका कथन ... ३०		परिग्रहत्यागग्रतका कथन ... ७४	
दोनों नवोंकी सफलता ... ३२		ईर्ष्यागमितिका लक्षण ... ७५	
<b>अजीवाधिकार । २ ।</b>		भाषासमितिका स्वरूप ... ७६	
पुत्रलद्रव्यके भेदोंका कथन ... ३४		एकणासमितिका स्वरूप ... ७८	
परमाणुका लक्षण ... ३७		आदाननिक्षेपणसमितिका स्वरूप ... ७९	
स्वभाव विभावपर्यायका स्वरूप ... ३९		प्रतिष्ठापनासमितिका लक्षण ... ८१	
पुत्रल द्रव्यका संक्षेपरूप ... ४०		मन्योगुतिजादिका स्वरूप ... ८२	
धर्मादि द्रव्योंका स्वरूप ... ४१		अरहान आदि पांच परमेशियोंका स्वरूप वर्णन ... ८५	
स्ववहार कालके भेद ... ४२			
मुख्यकारणका कथन ... ४४			



विषय.	पृष्ठ.	विषय.	पृष्ठ..
केवलज्ञानका स्वरूप	... २००	कारण परमात्माका स्वरूप	... २१०
गुण गुणीमें अभेद है	... २०५	मोक्षके होनेके हेतु	... २१३
केपटीके इच्छाके न होनेसे बंधका		निन्दभगवानके स्वभावगुणोंका कथन	... २१६
अभाव	... २०५	सिद्धसेत्रके आगे जीव पुत्रलके न जा- नेका हेतु	... २१७
ज्ञानीके बंधका अभाव	... २०६	प्रणकारकी प्रार्थना	... २१८
बंधके न होनेमें हेतु	... २०८	भय्यजीवको शिक्षा	... २१९
शुद्धजीवको स्वाभाविक गति होनेका		शास्त्रके रचनेका प्रयोजन	... २२०
कथन	... २०९		



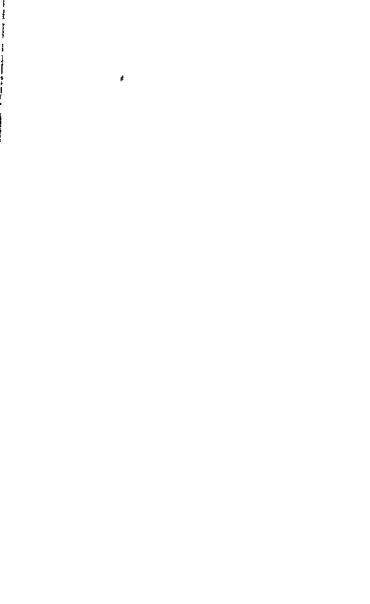
इति विषयसूची ।

विषय.	पृ.	विषय.	पृ.
निश्चयप्रतिक्रमाधिकार । ५ ।		मन-मार्गके विषय प्रतिक्रिया वि-	
दृढ आत्माके कर्मात्मके अभाव १३		स्वरूप है. ... ११९	
प्रतिक्रमणका स्वरूप ... १९		व्यापारिकके योग्यताका लक्षण १५३	
ध्यानको प्रवृत्त करना योग्य है... १०६		वासवधन्यधिकार । १० ।	
स्वयंसे प्रतिक्रमण होनेका उपाय १०९		परममनिके अतिक्रमणका स्वरूप ११०	
निश्चयप्रत्यापनाधिकार । ६ ।		विद्वान्तिका स्वरूप ... १११	
निश्चयप्रत्यापनका स्वरूप ... १११		नितारमान-भक्तिका स्वरूप ११२	
अपने गुणप्रमाण ही ध्यान कर-		निश्चय योग्यताका स्वरूप ... ११३	
नेका उपाय ... ११२		निश्चयवाच्यकाधिकार । ११ ।	
सब विचार भावोंके त्यागनेकी		निश्चय आत्म्यका लक्षण ... ११८	
विधि ... ११४		आत्मका स्वरूप ... ११०	
आत्माके दोष दूर करनेका उपाय १२०		पराधीनमुक्तिका स्वरूप ... १११	
निश्चय प्रत्यापनके योग्य		निश्चय आत्म्यका प्रमाणिका उपाय ११८	
जीवनका स्वरूप ... १२७		आत्म्यकने रहितको बहिरात्मा होनेका	
निश्चयालोचनाधिकार । ७ ।		कथन ... ११८	
निश्चय आलोचनाका स्वरूप ... १२७		वाच्य अन्वयतर बचनके त्यागका	
आलोचनाके भेद ... १२७		उपाय ... ११९	
उन भेदोंका स्वरूप ... १२९		शुभध्यानको उपादेयपना ... १२०	
निश्चयप्रापश्चित्ताधिकार । ८ ।		मौनप्रतकी उत्तमताका कथन ... १२४	
निश्चय प्रापश्चित्ताका स्वरूप ... १४७		बचनविवादके त्यागका उपाय ... १२५	
क्रोधादि कषायोंके जीतनेका		आवश्यककर्मका अंतिमफल ... १२७	
उपाय ... १२९		शुद्धोपयामोधिकार । १२ ।	
मृत तपकी प्रापश्चित्तास्वरूप		ज्ञानीजीवके स्वरूप प्रकाशकथना १२२	
होनेका कथन ... १४२		केवलीके ज्ञान दर्शनदोनों एकसाथ होते	
निश्चयकायोत्सर्गका स्वरूप ... १४६		हैं उसका दृष्टांत सहित कथन ... १२३	
परमसमाधि-अधिकार । ९ ।		स्वपत्यकायफलेमें विशेषका परिहार १२३	
निश्चय परमसमाधिकी स्वरूप... १४८			

विषय.	पृष्ठ.	विषय.	पृष्ठ..
केवलज्ञानका स्वरूप	... २००	कारण परमात्माका स्वरूप	... २१०
गुण गुणीमें अभेद है	... २०५	मोक्षके होनेके हेतु	... २१३
केवलीके इच्छाके न होनेसे बंधका		सिद्धभगवानके स्वभावगुणोंका कथन	... २१६
अभाव	... २०५	सिद्धक्षेत्रके आगे जीव पुद्गलके न जानेका हेतु	... २१७
ज्ञानीके बंधका अभाव	... २०६	प्रियकारकी प्रार्थना	... २१८
बंधके न होनेमें हेतु	... २०८	भव्यजीवकी शिक्षा	... २१९
सुद्धजीवकी स्वाभाविक गति होनेका		शास्त्रके रचनेका प्रयोजन	... २२०
कथन	... २०९		

इति विषयसूची ।







शब्द	पृ० सं०	गा० सं०	पृ० सं०	गा० सं०
कामकिरियागियती	...	८५७०	जाद स्रष्टादि कादुं जे	... १८३१५४
कायाहपरह्वे	...	१४६१२१	जस्स रागो दु दोसो दु...	... १५५१२८
काटुस्समोहसण्णा	...	८२१६६	जस्स सग्गिहिदो अप्पा...	... १५३१२७
किं काहदि वणवासो	...	१५०१२४	जाइजरमरणरहियं	... २१०१७७
किं बहुणा भणिएण दु	...	१४२११७	जाणादि पस्सदि सखं	... १८९११६
कुल्लोणिजीवमग्गाण	...	७०१५६	जाणंतो पस्संतो	... २०५१७२
केवलमिदियरहियं	...	१९१११	आ रणादिगियती	... ८४६६
केवलणाणसहावो	...	११२१९६	आरिसया सिद्धप्पा	... ६३४७
कोहादिसगम्मावं	...	१३८११४	त्रिणकहियपरममुत्ते	... १८४१११
कोईं खमया मार्णं	...	१३९११५	जीवा योगलकाया	... १७१९
ग			जीवो उवभोग्गममो	... १८१०
गमणाणिमित्तं धम्म	...	४१३०	जीवा दु पुग्गलादी	... ४४३२
गामे वा नयरे वा	...	७२१५८	जीवादीदब्बाणं	... ४५३३
ग			जीवादि बहिससं	... ४९३८
घणपाइकम्मरहिया	...	८५७१	जीवाण पुग्गलाणं	... २१७१८४
घ			जुगवं वद्धं णाणं	... १९११६०
चउगइभवसंभमणं	...	५५४२	ओ पस्सदि अप्पाणं	... १२९१०९
चउदहभेदा भणिया	...	२८१७	ओ समो सख्खमूदेमु	... १५२१२६
चउदु अवक्खु ओही	...	२४१४	ओ दु अइं च रइं च	... १५५१२९
धत्ता इग्गुत्तामावं	...	१०२१८८	ओ दु पुत्तां च पावं च...	... १५६१३०
धल्लमल्लिणमगाउत्तं	...	६७५२	ओ दु हन्टी रइं सोणं	... १५७१३१
ध			ओ दुग्गहा मयं वेदं	... १५७१३२
छायातवमादीया	...	३५३३	ओ दु धम्मं च मुक्कं च...	... १५८१३३
धुत्तदुमीरुपोसो	...	९६	ओ न हन्दि अग्गवमो	... १६८१४१
ण			ओ वरदि संजदो खलु	... १७११४४
धं किंवि मे दुपरित्तं	...	१२०१०३	ओ धम्ममुक्कमाणं	... १८०१५३

शाखा	पृ० सं० गा० सं०	पृ० सं० गा० सं०
इ		नियमं नियमस्तु फलं ... २१८१८५
ज्ञानाभिलाषी साहू ... १०८१९३		नियमावणाभिमितं ... २२०१९८०
उ		शिक्षाणमेव सिद्धा ... २१७१९८३
ठाणशिलेखविहार ... २०८१७५		शिक्षेसदोसरद्विषो ... ११७
ष		शोकम्मकम्मरदियं ... १२७१९०७
शुद्धकम्मबंधा ... ८७१७२		शो स्यायभाषठाणा ... ५२१४१
शंताणेतमवेण स ... १४३१११८		शो खल सहावजणा ... ५०१३५
शमिकण त्रिणं वीरं ... ३११		शो ठिदिबंधणा ... ५११४०
शरणारयत्रिरियमुदा ... २६११५		स
श वसो भवमो भवस ... १६९११४३		तस्स मुहगाहवयणं ... १५१८
श वि दुक्खं णवि सुक्खं ... २१३११७९		तह दंतणउवओगो ... २३११३
श वि इदिय उवसमा ... २१४१२८०		ष
श वि कम्मं शोकम्मं ... २१५११८१		सं.राअचोरमतक ... ८९१६७
शाणा जीवा शाणा ... १८५११५६		स
शाणं परपयासे ... १९२११६१		ददूण इणित्थं ... ७३१५९
शाणं प, ण हवदि ... १९४११६२		दध्वगुणपअयाणं ... १०३११४५
शाणं प, णया पर ... १९७११६४		दध्वत्थिएण जीवा ... ३२११९
शाणं अप्यापयासे ... १९८११६९		ध
शाणं अणसखं ... २०३११७०		धाउवठउत्तस पुणो ... ३६१२५
शाणं अणसभाणो ... ९२१७७		प
शाणं मणणठाणो ... ९३१७८		पंचाचारसमया ... ८९१७३
शाणं बाल्ले बुद्धो ... ९३१७९		पट्टिकमणणामधेमे ... १०९१९४
शाणं राणो दोसो ... ९३१८०		पट्टिकमणणपहुदि किरियं ... १८३११५२
शाणं कोहो माणो ... ९३१८१		पदकिंदि अणुभाग ... ११५१९८
शिकसायस्य दांतस ... १९३११७५		परिचर्य परमावं ... १०४११४६
शिरगंको शीराणो ... ६११४४		परिणामपुण्ववयणं ... २०६११७३
शिरुंको शिरुंको ... ५७१६३		पासुकभूमिपदेसे ... ८०१६५
शिरमेष य अं कळं ... ५१३		पाणुगममणेष दिवा ... ७५१६१
शिरमं भोजस्तउवायो ... ७१४		पुगलदध्वं मोत्तं ... ४८१३७
शियभणं णवि सुक्खं ... ११३११७७		पुणुणतणएभावा ... ६६१६०

गाथा	पृ० सं० गा० सं०		पृ० सं० गा० सं०
पुष्पुत्तसयत्तद्वं	... २०११६८	दोयायासे ताव	... ४७१३६
पुष्पुत्तसयत्तद्वं	... ७६१६२	दोयालोयं जाणइ	... २०२११६९
पोम्मलद्वं उच्चइ	... ४०१२६		
पोयइकर्मवलाई	... ७९१६४	व	
बंघणछेदणमारण	... ८३१६८	वयदि जो सी समणो	... १७०११४३
		वण्णरसर्गवकामा	... ६२१७५
म		वदममिदिसीत्तसंजम	... १३७१११३
भूषव्वदमादीया	... ३५१०२	वयणमयं पडिक्कणं	... १८२११५३
		वयणोवारणकिरिये	... १४८११२३
मग्गो मग्गफट्ठंति य	... ४१२	ववहारणमचरिते	... ६८१५५
मदमाणमायलोहवि	... १३५१११२	वात्तापविम्ममुक्का	... ९०१७५
ममत्ति परिवच्चांमि	... ११५१९९	विच्चदि केवल्लण्यं	... २१६११८२
माणुस्सा दुवियप्पा	... २८११६	विरदी सव्वसाववे	... १५१११२५
मिच्छत्ताहुदिभावा	... १०४१९०	विवरीयाभिणित्ते	... ६७१५१
मिच्छादंसणणाण	... १०६१९१	विवरीया, जो जुंजदि...	... १६५११३९
मुत्तममुत्तं दव्वं	... २००११६७	संखिच्चासंखिच्चा	... ४७१३५
मोक्खत्तवपुरिसाणं	... १६१११३५	संजमणियमतवेण दु	... १४९११३३
मोक्खत्तवहे अप्पाणं	... १६२११३६	सण्णाणं चउभेसं	... १९११२
मोत्तण अट्ठरई	... १०२१८९	समयावलिभेदेण दु	... ४२१३२
मोत्तण अणायारं	... ९८१८५	सम्मत्तणाणचरणे	... १५९११३४
मोत्तण वयणरयणं	... ९६१८३	सम्मत्तस्स गिमितं	... ६७१५३
मोत्तण सयलव्वप	... ११११९५	सम्मत्तं सण्णाणं	... ६८१५४
मोत्तण सद्धमावं	... १०११८७	सम्मं मे सव्वभूदेसु	... १२२११०४
		सव्वविअप्पाभावे	... १६४११३८
रयणत्तयसंतुत्ता	... ८९१७४	सव्वे पुराणपुरिसा	... १८७११५८
रायेण व दोसिअ व	... ७२१५७	सव्वेति संघाणं	... ७४१६०
रायादीपरिहारो	... १६३११३७	मुद्दममुद्दववणरयणं	... १४४११२०
		मुद्दमा इवति संघा	... ३५१२४
र			
रुद्धे मिदि एवो	... १८६११५७		
ल			

इति गाथासूची ।

# शुद्धिपत्र ।

[ भाषाटीकाका । ]

६० संज्ञि	अनुद	दुद
८...१ ५ वीं गायामें ४ वीं	४ वीं गायामें	बाहिये
	की पहली ५ संज्ञि हैं	
१०...१५ आत्माके मोही	निर्मोही	आत्मा
११...११ अनेन्द्र	अनेन्द्रके	
१५...१८ स	से	
१७...१ अर्थात्	अर्थात् यह अपत्य परमाणु	सन या विरम
	किरीसे बंधको प्राप्त न होगी	यह निर्बंध है ।
४७...११ संख्या	असंख्या	
६१...११ शब्द	शुद्ध	
६१...१४ हे तु भव्य	हे भव्य तु	
६५...७ इन्द्रियोसे	इन्द्रियोके	
६५...९ शान	शाना	
६५...१७ उस मिथ्यादृष्टि	यह मिथ्यादृष्टि है सम्बन्धित	
६६...११ बलने	यदापि प्रथम अवस्थामें बलने	
६७...९ धरमें	•	
७६...१४ मुख्य	मुख्य	
७७...८ भाव होनेपर	कर्मका उदय होनेपर भी	
८१...७ कटनेवाले ऐसे सं-	होने हुए संसारके त्यागके	निमित्त
	सारके निमित्त देहादिबो	
	तथा	
१०१...११ हे	हेय	
११०...११ सहित	रहित	
११०...१७ आगे	आगे	
१११...२१ समय	समय	
११२... ५ विज्ञान	विज्ञानके	
११५...१५ योगी	योगी निष्ययसे	

१५५...१२ ( ? )	अर्थात् उनके रागद्वेष हो ही नहीं सकते
१५७...२२ •	( १११ वीं गाथा आश्रिते )
१६१...१० मर्त्य	मन्य
१६९...१८ परद्रव्य अर्थात्	अर्थात् परद्रव्य
१६९...२३ उक्ति	युक्ति
१७४...१९ परमभाव	परमात्र
१७९... ९ स्थान	स्थानों से ११ में गुणस्थान तक
१८०...१२ समस्ता	समता
१८०...१३ मंद	भेद
१९१... ८ अनुभवमे	अनुभव

## [ संस्कृतटीकाका । ]

१९...२२ दभय	दमृत
१९...२३ नवि	नयति
२२...२३ स्कंध	स्निग्ध
२५...७ त्वाद् शुद्धः	त्वाद्शुद्धः
२५...२३ विकल्पे	विकल्पे
३२...११ परमद्रव्य	परद्रव्य
३७...६ द्वीदिय	द्वीदियत्रीदिय
३७...१२ विच्छीकते	विच्छक्ति
५०...४ पण्डं गजुगा	मज्जं, गच्छेज्ज
५०...५ देव अहजङ्गाण	गादेव अहं जम्हा
५१...४ युक्त	युक्त
५२...२ प्वाशुभं	च शुभं
५३...१२ केश	केश
५५...१५ बहा	बहार
६२...६ मंद	मह
७१...२० द्व	द्व

७५...१	गर्भ	र्ग
७५...५	गुर	घर
७६...९	गुह्य	गुह्य
७६...१५	विष	विष
८३...४	भुक्तये	भुक्तये
८४...१२	बहि	बाहि
८६...८	रभास	रभास
८८...२१	प्राप्त	प्राप्त
९४...७	मुदयक	मुदयक
९०...८	भाव	भावना व
९२...१३	प्रणमा	प्रणमा
९४...२	भाषा	भाव
९५...२०	भादेय	भादेय
१००...१८	मस्ताव	मस्ता व
१११...१२	बज्रदि	बज्रदि
१२५...६	पमरा	परा
१२५...१८	गुरो	गुरो
१२५...२०	यान्ति	यान्ति
१२९...८	कारेति	कारेति
१३०...५	क्षणम	क्षणम
१३१...१३	स्वन	स्वन
१३५...१०	जाला	जाला
१४२...१९	जंघी	जंघी
१४३...८	कारा	कार
१५१...५	कर्म	कर्म
१५३...१३	तान्तमुख	तान्तमुख
१५३...२०	भक्ति	भक्ति
१५४...७	तिर्यक् चेत	तिर्यक्चेत







समाख्येयं प्रियेदानं मेधिया  
केन कथ्यते  
वीकान्तर, (राजपुत्रान्)

ममः शुद्धस्वरूपाय ।

श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचितः

नियमसारः ।

श्रीपद्मप्रभमलधारिदेवविरचित-तात्पर्यवृत्तिसहित ।



त्वयि सति परमात्मन्माहेशान्मोहमुग्धान्  
कथमतनुवेशत्वान्बुद्धेकेसान्यजेऽहम् ?  
सुगतमगैर्धर्मं वा वागधीशं शिवं वा  
जितभवमभिवन्दे भागुरं श्रीजिनं वा ॥  
वाचं वाच्यमीन्द्राणां वक्रवारिजवाहनाम् ।  
वन्दे नयद्रयायनवाच्यसर्वस्वपद्धतिम् ॥  
सिद्धान्तोद्देश्यश्रीधके सिद्धमेनं  
तर्काङ्गार्क भद्रपूर्वाकलंकम् ।  
शब्दार्थान्दुं पूज्यपादं च वन्दे  
तद्विषयं वीरनन्दिं मनीन्द्रम् ॥  
अपवर्गाय भव्यानां शुद्धये स्वात्मनः पुनः ।  
वक्ष्ये नियमसारस्य वृत्तिं तात्पर्यसंज्ञकाम् ॥

१ अतनोः कामस्य वशत्वम् एषा तान् । २ कश्चिद्व्यक्तं ईश्वरयेति केशवमन्त्र-  
विशुद्धेश, च यो देवाः तान् इति । ३ धीकृष्णमित्यर्थः । ४ मन्त्रो ।

किं च—

गुणधरगणधग्गचितं श्रुतधरमन्ताननस्तु मुख्यकम् ।  
परमागमार्यसार्थं वक्तुममुं के वर्यं मन्त्राः ॥

अपि च—

अस्माकं मानसान्युच्चैः प्रेरितानि पुनः पुनः ।

परमागमसारस्य रुच्या मांसत्रयाऽधुना ॥

पंचास्तिकायपद्द्रव्यसप्ततन्वनवार्यकाः ।

प्रोक्ताः सूत्रकृता पूर्वं प्रत्याख्यानादिसत्क्रियाः ॥

अलमलमतिविल्लरेण स्वस्ति साक्षादस्मै विवरणाय ।

अत्र सूत्रावतारः—

अथात्र जिनं नत्वेत्यनेन शास्त्रस्यादावसाधारणं मङ्गलमभिहितं ।

णामिऊण जिणं वीरं अणंतवरणाणदंसणसहावं ।

वोच्छामि णियमसारं केवल्लिमुदकेवलीभणिइं ॥ १ ॥

नत्वा जिनं वीरं अनन्तवरज्ञानदर्शनस्वभावम् ।

वक्ष्यामि नियमसारं केवल्लिश्रुतकेवल्लिभणितम् ॥ १ ॥

नत्वेत्यादि—अनेकजन्माटुर्वा प्रापणहेतुम् समस्तमोहरागद्वेषादीन्  
जयतीति जिनः । वीरो विक्रान्तः, वीरयते शूरयते विक्रामति कर्मारतीन्  
विजयत इति वीरः—श्रीवर्द्धमान—सन्मतिनाथ—महतिमहावीराभिधानैः  
सनाथः—परमेश्वरो महादेवाधिदेवः पश्चिमतीर्थनाथः त्रिभुवनसचराचर-  
द्रव्यगतिपर्यायोक्तसमयपरिच्छित्तिसमर्थः सकलविमलकेवलज्ञानदर्श-  
नाभ्यां युक्तो यस्तं प्रणम्य वक्ष्यामि कथयामीत्यर्थः । कं, 'नियमसारं,  
नियमशब्दस्तावत् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्येषु वर्तते, नियमस्य सार-इत्यनेन  
शुद्धरत्नत्रयस्वरूपमुक्तम् । किंविशिष्टं, केवल्लिश्रुतकेवल्लिभणितं केवल्लिनः

सकलप्रत्यक्षज्ञानधराः, श्रुतकेवलिनः सकलद्रव्यश्रुतधरास्तैः केवलिभिः  
श्रुतकेवलिभिश्च भाषितं सकलभव्यनिकुरम्बहितकरं नियमसाराभिधानं  
परमागमं वक्ष्यामीति शिष्टेष्टदेवतास्तवनानंतरं सूत्रकृता पूर्वसूरिणा श्रीकु-  
न्दकुन्दाचार्यदेवगुरुणा प्रतिशातम्, इति सर्वपदानां तात्पर्यमुक्तम् ।

जयति जगति धीरः शुद्धभावास्तमारः

त्रिभुवनजनपूज्यः पूर्णबोधैकराज्यः ।

नतदिविजसभाजः प्रास्तनन्मद्बुधीजः

समवसृतिनिवासः केवलश्रीनिवासः ॥

मोक्षमार्गतत्कलस्वरूपनिरूपणोपन्यासोऽयम्,—

मग्गो मग्गफलंति य द्दुविहं जिणसासणे समक्खादं ।

मग्गो मोक्खउघायो तस्स फलं होइ णिट्ठवाणं ॥ २ ॥

मार्गो मार्गफलमिति द्विविधं जिनशासने समाख्यातम् ।

मार्गो मोक्षोपायः तस्य फलं भवति निर्वाणम् ॥ २ ॥

‘ मम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गं ’ इति वचनात् । मार्गं ताव-  
च्चुद्धरत्नत्रयं, मार्गफलमपुनर्भवपुरन्धिष्ठाभ्यूलभात्कथललीलादेकागति-  
लक्षता । द्विविधं क्विलेवं परमधीतरागसर्वज्ञशासनं चतुर्थज्ञानधारिभिः  
पूर्वसूरिभिः समाख्यातं । परमानिरपेक्षतया निजपरमात्मतत्त्वसाम्यवृत्त-  
रक्षितानुष्ठानशुद्धरत्नत्रयात्मकमार्गो मोक्षोपायः । तस्य शुद्धरत्नत्रयस्य  
फलं स्वात्मोपलब्धिरिति—

क्वचिद्भजति कामिनीरतिसमुत्सन्नसौख्यं जनः

क्वचिद्विणरक्षणे मतिमिमो च चक्रे पुनः ।

क्वचिज्जिनवरस्य मार्गमुपलभ्य यः पंडितो

निभात्मनि रतो भवेद्भजति मुक्तिमेतः हि साः ॥

अत्र नियमशास्त्रस्य सारव्यप्रतिपादनद्वारेण स्वभावव्यवस्थस्य कथमुक्तम्—

णियमेण य जं कजं तणियमं णाणइंसणवरित्तं ।  
त्रिवरीयपरिहरत्थं भणित्तं सत्तु सारमिदि ययणं ॥ ३ ॥

नियमेन य यन्तार्ये म नियमो ज्ञानदर्शनवारित्रय ।

त्रिवरीयपरिहरार्थं भणित्तं सत्तु सारमिति यवनम् ॥ ३ ॥

य सत्रयपरमार्थिणामिच्छभाषस्थित स्वभावानन्तगनुपपामहः शुद्ध-  
ज्ञानवेदान्तपरिणामो म नियमः । नियमेन य निश्चयेन यन्तार्ये  
वशोजनस्यार्थं ज्ञानदर्शनवारित्रं यावत्, तावत् तेषु त्रिवु पद्वय-  
नियमवैतरेण विशेषान्तर्भूययोगशक्तो महाशास्त्र नियमपरमार्थ-  
ज्ञानम् उपदेषे भवति । दर्शनमपि-भगवान्वरमात्ममुखाभिरुचिणो  
र्षेणम् शुद्धान्तास्त्यारित्यमन्मभूमिस्थाने निजशुद्धीवाग्निहाय-  
मभ्यतरे तदभ्य ज्ञानमेव भवति । चारित्र्यमपि-निश्चयज्ञानार्थ-  
ना महाकाण्यपरमात्मनि त्रिवरीयपरिहरितेव । अस्य तु नियमशास्त्र-  
वैतरेणकाण्य त्रिवरीयपरिहरार्थेन सारमिति भणित्तं भवति ।

इति त्रिवरीयपरमं सत्रयमनुत्तमं प्रथमतः ।

भगवन्मंत्रभाषित्वो मनुद्रव्यमनगशो वाचि ॥

सत्रयपरमं भद्रकाण्यपरमात्मनि

णियमं शोकमदुयायो तन्नफलं ह्यति परमणिद्वयानं ।  
गुंक्षिं निजतं वि य यसेयपरुयणा होइ ॥ ४ ॥

नियमो शोकमदुयायो तन्नफलं ह्यति परमणिद्वयानं ।

गुंक्षिं निजतं वि य यसेयपरुयणा होइ ॥ ४ ॥

यत्तु सत्रयपरमं भद्रकाण्यपरमात्मनि त्रिवरीयपरिहरितेव । अस्य तु नियमशास्त्र-  
वैतरेणकाण्य त्रिवरीयपरिहरार्थेन सारमिति भणित्तं भवति ।

दर्शन, —मिदं पारित्रमित्यनेन विकल्पेन । दर्शनज्ञानचारित्राणां लक्षणं  
दृश्यमाणभूत्रेषु ज्ञातव्यं भवति ।

मोक्षोपायो भवति यमिना शुद्धरत्नत्रयात्मा

स्वात्मज्ञानं न पुनरपरं दृष्टिरन्यापि नैव ।

शीलं तावन्न भवति परं मोक्षुभिः प्रोक्तमेत—

सुदृढा जन्तुर्न पुनरुदरं याति मातुः स मत्स्यः ॥

द्व्यवहारसम्यक्त्वस्वरूपाग्व्यानमेतत्—

ॐ अज्ञागमतच्चाणं सदहणादो हवेइ सम्मत्तं ।

वयगयअसेसदोसो सयलगुणप्पा हवे अत्तो ॥५॥

आज्ञागमतत्त्वानां श्रद्धानाद्भवति सम्यक्त्वम् ।

व्यपगतादोपदोषः सकलगुणात्मा भवेदाप्तः ॥ ५ ॥

आप्तः शंकारहितः । शंका हि सकलमोहरागद्वेषादयः । आगमः  
न्मुक्तारविन्दविनिर्गतसमस्तवस्तुविस्तारसमर्थनदक्षः चतुरवचनसंदर्भः ।  
चानि बहिस्तत्त्वान्तस्तत्त्वपरमात्मतत्त्वभेदाभिन्नानि अथवा जीवाजी  
तत्त्वमंवरानिर्जरावन्द्यमोक्षाणां भेदात्सप्तधा भवन्ति । तेषां सम्यक्श्रद्धानां  
द्व्यवहारसम्यक्त्वमिति ।

मवभयभेदिनि भगवति भवतः किं भक्तिश्च न क्षमस्ति

तर्हि भवाम्बुधिमध्याहमुत्तान्तर्गतो भवति ॥

अष्टादशदोषस्वरूपाग्व्यानमेतत्—

दुहतणहमीरुरोसो रागोमोहोचिंताजररुजाभिच्चू ।

स्वेदं खेदं मदो रइ विण्हयणिद्दा जणुध्वेमो ॥ ६ ॥

क्षुधा तृष्णा भयं रोषो रागो मोहदिबन्ना

नरा रुजा मृत्युः । स्वदः खेदो मदो रति-

विस्मयनिद्रे जन्मोद्वेगी ॥ ६ ॥

असातावेदनीयनीप्रमंद्रेऽशङ्गी श्रुया । अमानां रदनीयनीवर्नितर-  
 मंदमंदतरपीडया समुपजाना कृपा । इहलोकपरलोकाजगतामुनिर-  
 वेदनाकर्मिकमेदात् सतथा भाति मयम् । क्रोधनम्य तुम्ह्यं  
 द्वारिणामो रोषः । रागः प्रशम्भोऽप्रशम्भश्च, दानशान्तिरोषामगु-  
 ठजनवेयावृत्त्यादिसमुद्भवः प्रशम्भरागः, सीराजचोर्मकविक्रयाला-  
 पाकर्णनकोतूहलपरिणामो ह्यप्रशम्भरागः । चातुर्वर्ग्यभ्रमगसंख्यान्वयगतो  
 मोहः प्रशस्त इतरां प्रशस्त एव । चिन्तनं धर्म-शुद्धरूपं प्रशस्तमितरद-  
 प्रशस्तमेव । तिर्यङ्मानवानां वयःकुनदेहविकार एव जग । वातपित्तद्वे-  
 ष्मणां वैषम्यसंजातकलेऽरविर्गिडेव रुजा । मादिनिवृत्तमूर्तेन्द्रियविजापीद-  
 नरनारकादिविभावव्यअनपय्यार्यविनाश एव मृत्युरित्युक्तः । अशुभकर्म-  
 विपाकजनितशरीरायासममुपजातपूतिगंधमस्वन्धवामनावासितवादिन्दु-  
 संदेहः स्वेदः । अनिष्टलाभः सेदः । सहजचतुरकवित्त्रनिमित्त-  
 जनताकर्णामृतस्यांसिहजशरीरकुलबलेद्वेष्यैगत्माहंकारजन्मा मद् ।  
 मनोज्ञेषु वस्तुषु परमा प्रीतिरेव रतिः । परमममरसीभावनापरित्य-  
 क्तानां क्वचिदपूर्वदर्शनाद्विम्वयः । केवलेन शुभकर्मणा, केवलेनाशुभ-  
 कर्मणा, मायया शुभाशुभमिश्रेण, देवनारकतिर्यङ्मनुष्यपथ्ययिपूत्पतिर्जन्म ।  
 दर्शनावरणीयकर्मोद्भयेन प्रत्यस्तमितज्ञानज्योतिरेव निद्रा । इष्टवियो-  
 गेषु विक्रवभाव एवोद्वेगः । एभिर्महादोषैर्व्यासाश्रयां लोकाः । एतैर्विनिर्मुक्तो  
 वीतरामसर्वज्ञ इति । यथा चोक्तम्-

“सो धम्मो जत्त दया सोवि तवो विसयणिग्गहो जण्य ।

दसअड्ढोसरहिओ सो देवो णत्थि संदेहो ” ॥

तथा चोक्तं श्रीविद्यानंदिस्वामिभिः-

“अभिप्रतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः

स च भवति सुशास्त्रात्स्य चोत्पन्निरामात् ।

इति भवति न पूज्यस्तत्पसादाद्यपुद्गैः  
न हि इतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति ॥ ”

तथा धोत्रम्—

“ सानमसशतपूज्यः सायण्यसदोषराज्यः  
स्मरन्ति (गुरुराथः सास्तद्गुष्टाष्टयुध ।  
पदनवनवमाली भव्यपद्मशुमाली  
दिसानु शमनिगं नो नेमिरानन्दभूमिः ॥ ”

तीर्थत्रयमेवेश्वररूपारयानमेतत्—

णिम्सेसदोसरहिओ केवलणाणाइपरमविभवजुदो ।  
सो परमप्पा उच्चइ तद्विवरीओ ण परमप्पा ॥ ७ ॥

नि-शेषशेषरहितः केवलज्ञानादि-परमविभवयुतः ।

स परमात्मोच्यते तद्विपरिणो न परमात्मा ॥ ७॥

आत्मगुणघातकानि घातिकर्माणि ज्ञानदर्शनावरणान्तगायमोहनीय-  
कर्माणि तेषां निरवशेषेण मन्थनाग्निःशेषदोषरहितः, अथवा पूर्वसुत्रोपात्ता-  
ष्टादशमहादोषनिर्मूलनाग्निःशेषदोषनिर्मुक्त इत्युक्तः । सकलविमलकेवल-  
बोधकेवलहाष्टिपरमवीनगात्मात्मकानन्दाद्यनेकविभवसमृद्धः । यस्त्वेवविध  
त्रिकालनिगवरणानिन्यानैकैकस्वरूपनिजकारणपरमात्मभावनोत्पन्नकार्यपर-  
मात्मा न एव भगवान् अर्हन् परमेश्वरः । अस्य भगवतः परमेश्वरस्य  
विपरितगुणामकाः सर्वदेवाभिमानदग्धा अपि संसारिण इत्यर्थः । तथा  
चोक्तं श्रीकुन्दकुंदाचार्यदेवैः—

“ तेजोदिष्टीणाण इडी सोऽसं तहेव ईसरिय ।

तिहृवणपहाणइइयं मारुणं अस्स सो अरिहो” ॥

तथा चोक्तं श्रीमदसृतचन्द्रसूरिभिः—

“ कान्तयेव स्नपयन्ति ये दश दिशो धाम्ना निरुधन्ति ये



असातावेदनीयतीव्रमंदक्रेषकरी शुभा । असातावेदनीयतीव्रतीव्रता-  
 मंदमंदतरपीडया समुपजाता वृषा । इहलोकपरलोकात्राणारागुत्तिमरण-  
 वेदनाकरिमकमेदात् सप्तधा भवति मयम् । क्रोधनस्य पुंसर्त्ता  
 वपरिणामो रोषः । रागः प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च, दानशिलोपवासगु-  
 रुजनवैयावृन्त्यादिसमुद्भव. प्रशस्तरागः, स्त्रीराजचौरमक्तविकथाला-  
 पाकर्णनकोतूहलपरिणामो ह्यप्रशस्तरागः । चार्तुवर्ष्यभ्रमणसंप्रवात्सन्यगतो  
 मोहः प्रशस्त इतराऽप्रशस्ते एव । चिन्तनं धर्म-शुक्ररूपं प्रशस्तमितर-  
 प्रशस्तमेव । तिर्यङ्मानवानां वयःकृतदेहाविकार एव जरा । वातपित्तश्ले-  
 ध्मणां वैषम्यसंजातकलेवरविपीडैव रुजा । सादिनिघनमूर्तेन्द्रियविजातीय-  
 नग्नारकादिविभावव्यजनपर्य्यायविनाश एव मृत्युरित्युक्तः । अशुभकर्म-  
 विपाकजनितशरीरायाससमुपजातपूतिगंधसम्बन्धवासनावासितवाविन्दु-  
 संशोहः स्वेदः । अनिष्टलाभः रोदः । सहजचतुरकवित्वनिसिल-  
 जनताकर्णामृतस्यैदिसहजशरीरकुलबलैश्वर्यैरात्माहंकारजन्मा मद्दः ।  
 मनोजेषु वस्तुषु परमा प्रीतिरेव रतिः । परमसमरसीभावनापरत्यि-  
 क्तानां कचिदपूर्वदर्शनादिसमयः । केवलेन शुभकर्मणा, केवलेनाशुभ-  
 कर्मणा, मायया शुभाऽशुभमिश्रेण, देवनारकतिर्यङ्मनुष्यपय्ययिपूपातिर्जन्म ।  
 दर्शनादरणीयकर्मादयेन प्रत्यस्तमितज्ञानज्योतिरेव निद्रा । इष्टवियो-  
 गेषु विक्रवभाव एवोद्वेगः । एभिर्महादोषैर्व्याप्तान्त्रयो लोकाः । एतेविनिर्मुक्तौ  
 र्वातरागसर्वज्ञ इति । यथा चोक्तम्-

“सो धर्म्मा जत्थ दया सोवि तवो विसयणिग्गहो जत्थ ।

दमअद्दोसारत्तिओ सा देवा णत्थि सदेहो ” ॥

तथा चोक्तं श्रीविषानंदिम्बासिभिः-

“अभिमतफलसिद्धेभ्युपायः सुसौधः

स च भवति मुशाग्यानभ्य चोत्पन्निराप्तात् ।

इति भवति न पूज्यन्त-प्रसादान्प्रयुज्यः  
 न हि इतमुपकारं साधवो विभ्ररन्ति ॥ ”

तथा शौनद—

“ शतमरुतानपूज्य माज्यसदोभराज्यः  
 स्मरतिगुरुराथ प्रास्वदुष्टाष्टयुष ।  
 पदतनवनमाली भन्वपद्मशुमाली  
 दिशतु क्षमनिशं नो नेमिगतन्दभूमिः ॥ ”

तीर्थस्वरूपदेशम्बन्धुपाठ्याममेतत्—

णिम्मेसदंनरहिओ केयलणाणाहपरमविभवजुदो ।  
 मो परमप्पा उच्यद् तद्विधवरीओ ण परमप्पा ॥ ७ ॥

नि शेषदोपरहित केतज्ज्ञानादि—परमविभवयुत ।

म परमात्मोच्यते तद्विपरीतो न परमात्मा ॥ ७ ॥

आत्मगुणघातकानि धानिकर्माणि ज्ञानदर्शनावगणान्तगम्यमोहनीय-  
 कर्माणि तेषां निरवशेषेण शिवसाक्षि शेषदोपरहित, अथवा पूर्वगुणोपात्ता-  
 ष्टादशमहादेवनिर्मूलनाक्षि शेषदोपरनिर्मुक्त इत्युक्तः । सकलविमलकेवल-  
 बोधकेयदहाष्टिपरमवीतरागात्मकानन्दायनेकविभवसमृद्धः । यस्त्वेवविध  
 त्रिकान्तिरवगणानिन्याने देवस्वरूपनिजकारणपरमात्मभावनोत्पन्नार्थपर-  
 मात्मा न एव भगवान् अर्हन् परमेश्वरः । अस्य भगवतः परमेश्वरस्य  
 विपरीतगुणात्मका सर्वदेवाभिमानदग्धा अपि संसारिण इत्यर्थः । तथा  
 शौनः श्रीबुद्धुंदाचार्यदेवै—

“ त्रेजोदिडीणाण इडी सोसरो तरेव ईसत्थि ।

निहवणपहाणइइयं माहण्यं जसम सो अरिहो” ॥

तथा चोक्तं श्रीमद्भूतचद्रमुरिभिः—

“ ज्ञान्तयेव स्तपयन्ति ये दश दिशो धाम्ना निरुधन्ति ये

धामोद्दाममहरिनां जनमनो मुष्णानि रूपेण ये ।  
द्विध्यन् ध्वनिना सुरां श्रवणयोः साक्षात्कर्तव्यं  
वंगारतेऽमहम्यलक्षगधगर्भार्थिभ्यः सुभ्यः ॥”

तथाहि-

जगद्दिद्रमजगत्त्वं ज्ञाननरिद्वहान्त-  
र्भ्रमरवद्वभाति प्रसूत्रं यम्य निव्यं ।  
तंमविद्वलयदेहं नेमितीर्यकेशं  
जलनिधिमपि दोर्म्यामुतराम्युद्धर्वाचिम् ॥

परमागमस्वरूपाव्यानमेतन्-—

तस्मिन् मुहग्गद्वयणं पुड्वावरदोसविरहितं सुद्धं ।  
आगममिदि परिकहिय तेण दु कहिया  
हयंति तच्चत्था ॥ ८ ॥

तस्य मुखोद्गतवचनं पूर्वापरद्रोपविरहितं शुद्धम् ।

आगममिति परिकथितं तेन तु कथिता भवन्ति तत्त्वार्थाः ॥ ८ ॥

तस्य खलु परमेश्वरस्य वदनवनजात्रिनिर्गतचतुरवचनरचनाप्रपञ्चपूर्वा-  
परद्रोपरहितः, तस्य भगवतो रागाभावात् पापसूत्रवद्विसादिपापक्रिया-  
मावाच्छुद्धः परमागम इति कथितः । तेन परमागमामृतेन भव्यैः श्रव-  
णाञ्जलिपुटपेयेन मुक्तिसुन्दरीमुखद्रुष्येण संसरणवागिनिधिमहावर्तनिमग्न-  
समस्तभव्यजनतादत्तहस्तावहम्बनेन सहजवैराग्यशामादक्षिस्वरक्षित्वा-  
मणिना अञ्जुणमोक्षप्रासादप्रथमसोपानेन स्मरभोगसमुद्भूताप्रशस्तरामांगारैः  
पच्यमानसमस्तदीनजनतामहत्केशनिर्वाशनसमर्थसजलजलदेन कथिताः  
खलु सप्त तत्त्वानि नव पदार्थाश्चैति । तथा चोक्तं श्रीसमन्तभद्रम्बामिभिः-

१ तमपि किल यत्रेहमिति पाठान्तरं ।

“अन्धुनमनतिरिक्तं दादातर्धं विना च विपरीतात् ।

निःसन्धेहं वेदं यदाहुस्त्वज्जानमागमिनः ॥”

ललितकान्तिं हुन्दं निर्व्याणकारणकारण

निरिग्लभविनामेवस्वर्णाद्भूतं जिनमदृश ।

भवपरिभवारण्यज्याहिविषां प्रगामे जले

प्रनिदिनमहं वन्दे वन्दं सदा जिनयोगिभिः ॥

अत्र शृणां द्रव्याणां पृथक्पृथक् नामधेयमुक्तं:—

जीवा पौग्गलकाया धम्माधम्मा च काल आयासं ।

तद्यन्था इदि भणिदा णाणागुणपज्जएहिं संजुत्ता ॥९॥

जीवा पुद्गलकाया. धर्माधर्मौ च काल आयासं ।

तत्त्वार्थो इति भणिताः नानागुणपर्यायैः संयुक्ताः ॥ ९ ॥

सर्वानसन्नधीनचक्षुः—श्रोत्रमनोवायिकापापुच्छमासानिहवासाभिधानैर्-  
शभिः प्राणैः जीवनि जीविष्यनि जीवति ( स्म ) पूर्वो वा जीवः सदहनयो-  
यमुक्तः । निश्चयेन भावप्राणधारणाजीवः । व्यवहारेण द्रव्यप्राणधारणा-  
जीवः । शुद्धसद्गतव्यवहारेण केवलज्ञानादिशुद्धगुणानामाधारभूतत्वात्  
कार्यशुद्धजीवः । अशुद्धसद्गतव्यवहारेण प्रतिज्ञानादिविभावगुणानामाधार-  
भूतत्वात् कारणशुद्धजीवः । अयं चेतनः । अस्य चेतनगुणाः । अयममूर्त्तः ।  
अस्यामूर्त्तगुणाः । अयं शुद्धः । अस्य शुद्धगुणाः । अयमशुद्धः । अस्याशु-  
द्धगुणाः । पर्यायध्व । तथा गहनप्राणस्वभावसनाथः पुद्गलः । इवेनादि-  
धर्माधारो मूर्त्तः । अस्य हि मूर्त्तगुणाः । अयमचेतनः । अस्याचेतनगुणाः ।  
स्वभावविभावगतिक्रियापरिणतानां जीवपुद्गलानां गतिहेतुः धर्मः ।  
स्वभावविभावम्बितिपरिणतानां तेषां स्थितिहेतुरधर्मः । संचानामवकाश-  
ज्ञानलक्षणमाकाशम् । संचानां वर्तनाहेतुः कालः । चतुर्णाममूर्त्तानां  
शुद्धगुणाः, पर्यायार्थतया तथाविधाध्व ।

इति जिनपतिमार्गाभोधिमध्यस्थानं  
 बुनिपटलजटालं तद्वि पद्मद्रव्यजातम् ।  
 इदि मुनिशितबुद्धिर्मूपणार्थं विधने  
 स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥

अत्रोपयोगलक्षणमुक्तम्:—

जीवो उवओगमओ उवओगो णाणदंसणो होई ।  
 णाणुवओगो दुविहो सहावणाणं विमावणाणं त्ति ॥१०॥  
 जीव उपयोगमयः उपयोगो ज्ञानदर्शनं भवति ।

ज्ञानोपयोगो द्विविधः स्वभावज्ञानं विभावज्ञानमिति ॥ १० ॥

आत्मनश्चेतन्यानुवर्ती परिणामः स उपयोगः। अयं धर्मः । जीवो धर्मा ।  
 अनयोः सम्बन्धः प्रदीपप्रकाशवत् । ज्ञानदर्शनविकल्पेनामो द्विविधः । अत्र  
 ज्ञानोपयोगोपि स्वभावविभावमेदात् द्विविधो भवति । इह हि स्वभावज्ञानम्  
 अमूर्तम् अघ्याबाधम् अतीन्द्रियम् अविनश्वरम् तच्च कार्यकारणरूपेण  
 द्विविधं भवति । कार्यं तावत् सकलविमलकेवलज्ञानम् । तस्य कारणं  
 परमपाणामिकभावस्थितविकल्पानिरूपाधिरूपं सहजज्ञानं स्यात् । केवलं  
 विभावरूपाणि ज्ञानानि त्रीणि कृमतिकुश्रुतविभंगभाञ्जि भवन्ति । एतेषाम्  
 उपयोगभेदानां भेदो वक्ष्यमाणमूत्रयोर्द्वयोर्बोद्धव्यः इति ।

अथ सकलजिनोक्तज्ञानभेदं प्रबुद्धा  
 परिहृतपरमावः स्वस्वरूपे स्थितो यः ।  
 मपदि विशति यत्तच्चिच्चमत्कारमात्रं  
 स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥

अत्र च ज्ञानभेदमुक्तम्:—

केवलमिन्द्रियरहियं असहायं ते सहावणाणं त्ति ।  
 सण्णाणिदरविष्ये विहावणाणं हवे दुविहं ॥११॥

- ११ सण्णाणं चडभेयं मदि सुदओही तहेव मणपज्जं ।  
 अण्णाणं तिवियप्पं मदियाई भेददो चेव ॥ १२ ॥ जुम्मं ।  
 केवलमिन्द्रियरहिते असहायं तत्स्वभावज्ञानमिति ।  
 संज्ञानंतरविकल्पे विभावज्ञान भवेद्विविधम् ॥ ११ ॥  
 संज्ञानं चतुर्भेदं मतिश्रुतावधिमन्तं च मन पर्ययम् ।  
 अज्ञानं त्रिविकल्पं मत्यादेर्भेददर्शनं ॥ १२ ॥ जुम्मं ।

निर्गणाधिस्वरूपत्वान् केषलम् । निगवरणस्वरूपत्वान् क्रमकरणव्य-  
 वधानापांडम् । अप्रतिवग्नव्यापकत्वान् असहायम् । तत्कार्यस्वभावज्ञानं  
 भवति । कारणज्ञानमपि तादृशं भवति । कुतः, निजपामात्मास्थितसहजद-  
 र्शनमहज्जन्मिन्नमहज्जसुखमहज्जपरमचिच्छक्तिनिजकारणममयमारस्वरूपाणि  
 च युगपत् परिच्छेने समर्थत्वान् तथाविधमेव । इति शुद्धज्ञानस्वरूपमुत्तमम् ।

इदानीं शुद्धाशुद्धज्ञानस्वरूपभेदस्त्वयमुच्यते । अनेकवित्यस्यार्थं  
 मतिज्ञाने उपलब्धिभावनोपयोगाच्च अवग्रहादिभेदाच्च बहुबहुविधादि-  
 भेदाद्वा । लब्धिभावनाभेदात्तज्ज्ञानं द्विविधम् । द्विविधं । देश-  
 मर्त्यपरमभेदादवाधिज्ञानं त्रिविधं । ऋजुविपुलमतिविकल्पान्मनःपर्य-  
 यज्ञानं च त्रिविधम् । परमभावस्थितस्य सम्यग्दृष्टेरेतन्संज्ञान-  
 चक्षुष्यं भवति । मतिश्रुतावधिज्ञानानि मिथ्यादृष्टि परिप्राप्य कुमतिशुभ्र-  
 त्रिविभंगज्ञानानीनि नामान्तराणि प्रयेद्विरे । अत्र सहजज्ञानं शुद्धान्तस्तत्त्व-  
 परमतत्त्वव्यापकत्वात् स्वरूपपर्ययं केवलसकलप्रत्यक्षम् । 'रूपिष्व-  
 क्थे-रिति वचनादवाधिज्ञानं विकलप्रत्यक्षम् । तदनन्तभागवत्स्वंशप्राह-  
 कत्वान्मनःपर्ययज्ञानं च विकलप्रत्यक्षम् । मतिश्रुतिज्ञानद्वितयमपि  
 परमार्थतः परांशं व्यवहारतः प्रत्यक्षम् भवति । किं च उक्तेषु ज्ञानेषु  
 साक्षान्मोक्षमूलमेकं निजपरमतत्त्वनिष्ठसहजज्ञानमेव । अपि च वारणामिकभाव-  
 स्वभावेन भव्यस्य परमस्वभावत्वान् सहजज्ञानादपरमुपादेयं न शक्यते ।

अनेन सहजचिद्विलासरूपेण सदा सहजपरमवीतरागशर्माभूतेन अप्रतिहत-  
निरावरणपरमविच्छक्तिरूपेण सदान्तर्मुसे स्वस्वरूपाविचलस्थितिरूप-  
सहजपरमचारित्रेण त्रिकालेष्वव्युच्छिन्नतया सदा संनिहितपरमचिद्रूपप्रका-  
नेन अनेन स्वभावानंतचनुष्टयेन सनाथम् अनाथमुक्तिमुन्दरीनाथम् आत्मानं  
भावयेत् । इत्यनेनोपन्यासेन संसारव्रततिमूलवित्रेण ब्रह्मोपदेशः  
कृत इति ।

शति निगदितभेदज्ञानमासाद्य भव्यः

परिहरतु समस्तं घोरसंसारमूलम् ।

मुकृतममुकृतं वा दुःखमुच्येः सुखे वा

तत उपरि समग्रं शाश्वतं शं प्रयाति ॥

परिग्रहाग्रहं मुक्त्वा कृत्वोपेक्षां च विग्रहे ।

निर्व्यग्रप्रायचिन्मात्र-विग्रहं भावयेद् बुधः ॥

शस्ताशस्तसमस्तरागविलयान्मोहस्य निर्मूलनाद्

द्वेषाम्भःपरिपूर्णमानसघटप्रत्वंमनान्पावनम् ।

ज्ञानज्योतिरनुत्तमं निरुपाधि प्रव्यक्ति नित्योदिते

भेदज्ञानमहीजसत्फलमिदं वन्यं जगन्मंगलम् ॥

मोक्षे मोक्षे जयति सहजज्ञानमानन्दतानं

निर्व्याघ्राधं स्फुटितमहजावस्थमन्तर्मुसं च ।

लीने स्वामिन्महजविलमच्चिन्नमत्कारभात्रे

स्वस्य ज्योतिःप्रतिहततमोवृत्ति नित्याभिरामम् ॥

सहजज्ञानमात्राज्य सर्वम्बं शूद्रचिन्मयम् ।

ममात्मानमयं ज्ञान्वा निर्विकल्पा भवाम्यहम् ॥

दर्शनोपयोगभवरूपाभ्यानमेतत्—

तिह दंसणउधओगो ससहावेदरावियप्पदो दुयिहो ।

केवळमिदियरहियं असहायं तं सहायमिदि मणिदं ॥१३॥

तथा दर्शनोपयोग इत्यत्रभावेनरविकल्पनां त्रिविध ।

वेदादिभिर्नियतानि अथहाय तत्र स्वभाव इति भणित ॥ १३ ॥

एषा दर्शनोपयोगो बहुविधविकल्पयनाथ दर्शनोपयोगश्च तथा ।  
 इत्यादर्शनोपयोगो विभावदर्शनोपयोगश्च । स्वभावेति त्रिविधे ।  
 स्वभावस्वभावः कार्यस्वभावश्चेति । तत्र स्वभावाद्दृष्टि मदा पावनरूपस्य  
 अर्थोपदिशार्थवस्तुनि विभावस्वभावपरिग्रहमात्रान्तमगोचरस्य सत्त्वपरमपारि-  
 त्त्यादिस्वभावस्वभावस्य स्वभावात्स्वभावोपयोगस्य निराकरणस्वभावस्य स्वस्व-  
 भावसाक्षात्कारस्य परमार्थोपन्यासस्य अतुनिमपरमपरमरूपविविध-  
 विधौ स्वस्वभावाद्दृष्टव्यस्य निश्चयाद्दनिर्गतनवोपाय निमित्तपुनरुपवेदे-  
 विवेकानुपेक्षणवर्तिविशेषकारणस्य तस्य सत्त्वं स्वरूपभेदानिमात्रमेव ।  
 अन्यथा स्वभावेदृष्टि दर्शनज्ञानविरणीयप्रसूतौपातिसर्वभ्रंशेण जातेव ।  
 आस्य सत्त्वं स्वार्थिकजीवस्य स्वस्वविमलस्वभावसोपबुद्धभुवनत्रयस्य स्वा-  
 म्योपपरमार्थितासामुद्रमुद्रासमुद्रस्य यथास्वभावाभिधानकार्योद्देश्यव्यतिरेकस्य  
 सात्त्विकतासुतीर्थादिस्वभावोद्देश्यस्य स्वस्वभावसाक्षात्कारनयात्मकस्य वेदान्तपरमार्थ-  
 जन्तानुपन्यासदर्शनोपयोगस्य तीर्थस्वपरमार्थस्य स्वस्वज्ञानत्रयियमपि पुनर-  
 ह्येकार्थोपन्यासवर्तिनि । कार्यकारणरूपेण स्वभावदर्शनोपयोगः प्रोक्तः ।  
 विभावदर्शनोपयोगोपुनरमुद्राभिधानत्वात् तत्रैव दृश्यते इति ।

हृत्प्रतिवृत्त्यात्मकमेवैव सौतन्यमामान्यनिजात्मतत्त्वं ।

मुनिस्पृहाणामथर्न तदुत्तरेतेन मार्गेण विना न मोक्षः ॥

अगुहदृष्टिभुद्धाशुद्धकार्यायमुच्यतेयतः—

एकम् अचकम् ओही तिण्णावि भणिदं

विभावदिच्छिनि ।

पञ्जाओ दुवियप्पो सपरावेस्सो य णिरयेक्खो ॥ १४ ॥



चक्षुरनक्षुरवचयस्निग्धोपि भणिना विभावद्वष्टिरिति ।  
पथ्यायो द्विविकल्पः स्वरस्यैतदत्र निरोपसः ॥ १४ ॥

मतिज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमेन यथा मूर्तं वस्तु जानानि तथा चक्षुर्द-  
र्शनावरणीयकर्मक्षयोपशमेन मूर्तं वस्तु पश्यति च । यथा श्रुतजातावरणी-  
यकर्मक्षयोपशमेन श्रुतद्वारेण द्रव्यश्रुतनिगदितमूर्तामूर्तमममं वस्तुजानं  
परोक्षवृत्त्या जानाति तथैवाचक्षुर्दर्शनावरणीयकर्मक्षयोपशमेन स्पर्शनमनेप्राग-  
श्रावद्वारेण तत्तथोग्यविषयान् पश्यति च । यथा अब्रधिज्ञानावरणीयकर्मक्ष-  
योपशमेन समस्तमूर्तपदार्थं ? पश्यति । अत्रोपयोगव्याख्यानन्तरं पथ्या-  
यस्वरूपमुच्यते । परि समन्तात् भेदमेति गच्छतीति पथ्यायः । अत्र स्वमा-  
वपथ्यायः पदद्रव्यमाधारणः । अर्थपथ्यायः अवाङ्मनसगोचरः अविमूढः  
आगमप्रामाण्याद्भ्युपगम्योपि च पददानिवृद्धिविकल्पयुतः । अनन्तभागवृद्धिः,  
असख्यातभागवृद्धिः संख्यातभागवृद्धिः संख्यातगुणवृद्धिः अमंख्यातगुण-  
वृद्धिः अनन्तगुणवृद्धिः, तथा हानिश्च नीयते । अशुद्धपथ्यायो नरतामका-  
दिव्यजनपथ्याय इति ।

अथ सति परभावे शुद्धमात्मानमेकं  
सहजगुणमणीनामाकरं पूर्णबोधम् ।  
भजति निश्चितवृद्धिर्यः पुंमान् शुद्धदृष्टिः  
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥  
इति परगुणपथ्यायिषु सत्सूक्तमानां  
द्वयसरसि जाते राजते कारणात्मा ।  
सपदि समयसारं तं परं ब्रह्मरूपं  
भज भजसि निजोत्थं भव्यशार्दूल स त्वम् ॥

१ " जानानि तथा अब्रधिदर्शनावरणीयकर्मक्षयोपशमेन समस्तं मूर्तपदार्थं  
पश्यति " इति पाठो नुटितः प्रतीयते ।

इति मतिः सङ्गुले इतिदुःखरूपेण  
 इति मतिः सङ्गुले इतिदुःखरूपेण  
 इति मतिः सङ्गुले इतिदुःखरूपेण  
 इति मतिः सङ्गुले इतिदुःखरूपेण  
 इति मतिः सङ्गुले इतिदुःखरूपेण

स्वभावविभाषपर्यायसंज्ञेतिरिति—

परणारपतिरिपसुरा पञ्जापा ते विभाषमिदि भणिदा ।  
 कम्मोपाधियि वल्लियपञ्जापा ते सहावमिदि भणिदा १५

नरनारकनियंनसुराः पर्यायास्ते विभाषा इति भणिता ।  
 कम्मोपाधिविभिनपर्यायास्ते स्वभाषा इति भणिताः ॥ १५ ॥

मत्र स्वभावविभाषपर्यायाणां मध्ये स्वभावपर्यायत्वात् द्विमकारेणा-  
 च्यते । कारणशुद्धपर्यायः कार्यशुद्धपर्यायश्चेति । इह हि सहजशुद्ध-  
 निदधयेन अनादनिधनामूर्तान्द्रियस्वभावशुद्धसहजज्ञानसहजदर्शनसहज-  
 परिश्रमसहजपरमार्थनिरागसुरात्मकशुद्धान्तस्नत्त्वावरूपस्वभावान्तचतुष्टयस्व-  
 रूपेण सत्त्वित्तत्त्वमभावपरणतिरेव कारणशुद्धपर्याय इत्यर्थः । सादनिध-  
 नामूर्तान्द्रियस्वभावशुद्धसद्भूतव्यवहारेण केवलज्ञानकेवलदर्शनकेवलसुरा-  
 केवलज्ञानियुक्तफलरूपानेनचतुष्टयेन सार्द्धं परमोत्कृष्टशायिकभावस्य शुद्धपर-  
 णतिरेव कार्यशुद्धपर्यायश्च । अथवा पूर्वसुरापातमुष्मरुजुमूत्रनयाभिप्रायेण  
 पट्टद्रव्यमाधारणः सुष्मास्ते हि अर्थपर्यायाः शुद्धा इति बोद्धव्याः । उक्तः  
 समासतः शुद्धपर्यायविकल्पः ।

इदानीं व्यञ्जनपर्याय उच्यते । व्यञ्जने प्रकटीक्रियते अनेनेति व्यञ्ज-  
 नपर्यायः । कुतः । लाञ्छनगोचरत्वात् पट्टौदिवत् । अथवा सादिसनि-  
 धनमूर्तविज्ञानाधिकभावस्वभावत्वात्, इदयमाननिनाशस्वरूपत्वात् ।

१ \* पटादिबदि—ति भाति ।

व्यञ्जनपर्यायश्च-पर्यायिनमात्मबोधमन्तरेण पर्यायस्वमात्राद्युमाशुम-  
परिणामेनात्मा व्यवहारेण नरो जातः तस्य नराकारो नरपर्यायः । किञ्चि-  
च्छुभमिश्रमायापरिणामेन तिर्यक्कायजो व्यवहारेणात्मा, तस्याकारस्तिर्यक्  
पर्यायः । केवलं न शुभकर्मणा व्यवहारेण आत्मा देवमत्स्याकारो देव-  
पर्यायश्चेति । अम्य पर्यायस्य प्रपञ्चो ह्यागमान्तरे दृष्टव्य इति ।

अपि च बहुविभावे सत्ययं शुद्धदृष्टिः ।

सहजपरमतत्त्वाभ्यासनिष्णातबुद्धिः ॥

सपदि समयसाराभ्रान्यदस्तीति मत्त्वा ।

स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥

चतुर्गतिस्वरूपनिरूपणाख्यानमेततः—

माणुस्ता दुवियप्पा कम्ममहीभोगभूमिसंजादा ।

सत्तविहा णेरइया णादव्वा पुढविमेएण ॥ १६ ॥

चउदहभेदा भणिदा तेरिच्छा सुरगणा चउन्मेदा ।

एदेसिं वित्थारं लोयविभागेषु णादव्वम् ॥ १७ ॥ जुम्मं

मानुषा द्विविकल्पाः कर्ममहीभोगभूमिसंजाताः ।

सत्तविधा नारका ज्ञातव्याः पृथ्वीभेदेन ॥ १६ ॥

चतुर्दशभेदा भणितास्तिर्यग्धः सुरगणाश्चतुर्भेदाः ।

एतेषां विस्तारो लोकविभागेषु ज्ञातव्यः ॥ १७ ॥

मनोरपत्यानि मनुष्याः । ते द्विविधाः । कर्मभूमिजा, भोगभूमिजाश्चेति ।  
तत्र कर्मभूमिजाश्च द्विविधाः—आर्या म्लेच्छाश्चेति । आर्याः पुण्यक्षेत्रव-  
र्तिनः । म्लेच्छाः पापक्षेत्रवर्तिनः । भोगभूमिजाश्चार्यनामधेयधरा जपन्य-  
मध्यमोत्तमक्षेत्रवर्तिनः । रत्नशर्करात्रालुकापंकधूमतमोमहातमःप्रभाभिधसत-

१ अत्र “ केवलं न शुभकर्मणा नराकार आत्मा व्यवहारेण, तस्याकारो नारक-  
पर्याय इति.” पाठः खण्डित भाति ।

दुर्षानां भेदात्तरुर्जीवाः समधा भवन्ति । प्रथमनरकस्य नारकाः षोडशस्य-  
 रोपमायुवः १ । द्वितीयनरकस्य नारकाः त्रिंशत्स्योपमायुवः ३ । तृतीय-  
 नरकस्य सप्त ७ । चतुर्थस्य दश १० । पंचमस्य सप्तदश १७ । षष्ठस्य  
 द्वादशतिः १२ । सप्तमस्य अष्टादश १८ । अथ विन्मरभयात् संक्षेपगोच्यते ।  
 विषयः—सुरमैत्रेन्द्रियपर्याप्तकापपर्याप्तकवाद्देहेन्द्रियपर्याप्तकापपर्याप्तक-  
 र्दीन्द्रियपर्याप्तकापपर्याप्तकवीन्द्रिय—पर्याप्तकापपर्याप्तकचतुरिन्द्रियपर्याप्त-  
 कापपर्याप्तकामेक्षिपमेन्द्रियपर्याप्तकापपर्याप्तक—क्षिपमेन्द्रियपर्याप्तकाप-  
 पर्याप्तकभेदाद्यनुदर्शभेदा भवन्ति । भावनव्यंजनज्योति कल्पवासिकभेदा-  
 हेवादचतुर्जिवायाः । एतेषां चतुर्गतिर्जीवभेदानां भेदो लोकाविभागाभिधा-  
 नपरमागमे हृष्टव्यः । इहात्मस्वरूपप्रमाणान्तराद्यंतुरिति पूर्वश्रुतिभिः सूत्रक-  
 ङ्गिन्नत इति ।

स्वर्गो वाग्निन्मनुजभुवने रोच्येन्द्राय देवा-

ज्योतिर्लोकैः पणपतिपुरे नारकाणां निवासं ।

अन्यग्भिन् वा जिनपतिभवेन कर्मणां नोऽभु मृतिः

भूयो भूयो भवतु मवतः पादपङ्केजभक्तिः ॥

नानानूननगाधिनायविभवानाकर्ण्य चालोक्य च

स्व त्रिदशानि मुधात्र किं जहृमते पुण्यार्जितास्ते ननु ।

तच्छक्तिर्जिननाथपादकमलद्वन्द्वार्चनायामिधं

भानिस्ते यदि विद्यते बहुविधा भोगाः स्युरेते त्वयि ॥

कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रकारकथनमिदम्—

कत्ता भोक्ता आदा पोगालकम्मस्स होदि व्यवहारो ।

कम्मजभावेणादा कत्ता भोक्ता हु णिच्छयदो ॥१८॥

कर्ता भोक्ता आत्मा पुद्गलकर्मणो भवति व्यवहारान् ।

कर्मजभावे नात्मा कर्ता भोक्ता तु निश्चयतः ॥ १८ ॥

आसन्नगतानुपरिचितासद्भूतव्यवहारनयाद् द्रव्यकर्मणां कर्ता तत्कल-  
रूपाणां सुखदुःखानां भोक्ता च, आत्मा हि अशुद्धनिश्चयेन सकलमो-  
हरागद्वेषादिभावकर्मणां कर्ता भोक्ता च । अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण  
नोऽकर्मणां कर्ता । उपचरितासद्भूतव्यवहारेण षट्पटशकटादीनां कर्ता ।  
इत्यशुद्धजीवस्वरूपमुक्तम् ।

अपि च सकलरागद्वेषमोहात्मको यः

परमगुरुपदाब्जद्वन्द्वसेवाप्रसादात् ।

सहजसमयसारं निर्विकल्पं हि बुद्ध्वा

स भवति परमश्रीकामिनीकान्तकान्तः ॥

भावकर्मनिरोधेन द्रव्यकर्मनिरोधनम् ।

द्रव्यकर्मनिरोधेन संसारस्य निरोधनम् ॥

संज्ञानभावपरिमुक्तविमुग्धजीवः

कुर्वन् शुभाशुभमनेकविधं स कर्म ।

निर्मुक्तमार्गमणुमप्याभिवाञ्छितुं नो

जानाति तस्य शरणं न समास्ति लोके ॥

यः कर्मशर्मनिकरं परिहृत्य सर्वम्

निःकर्मशर्मनिकरामृतवारिपूरं ।

मज्जन्तमत्यधिकचिन्मयमेकरूपं

स्वं भावमद्वयममुं समुपैति भव्यः ॥

असति सति विभावे तस्य चितास्ति नो नः

मततमनुभवामः शुद्धमात्मानमेकम् ।

इदयकमलसंघं सर्वकर्मप्रमुक्तम्

न रत्नं न रत्नं मुक्तिर्नान्यथास्त्यस्ति तस्मात् ॥

मयनिभवगुणाः स्युः सिद्धजीविषि नित्यम् ।

निजपरमगुणाः स्युः सिद्धिसिद्धाः समस्ताः ॥

व्यवहारजनयोर्धं निश्चयात्तद्विधि-

र्धं च भवति भवो वा निर्णयोऽयं बुधानाम् ॥

इति नयद्वयस्य सफलत्वमुक्तम् -

द्वयवच्छिद्येण जीवा यदिरिक्ता पुण्यभणिद्रूपजाया ।

पञ्चदशयेण जीवा संयुक्ता ह्येति बुद्धिहेहि ॥ १९ ॥

द्रव्यार्थिकेन जीवा न्यनिरिक्ता पूर्वभणितपर्यायात् ।

पर्यायनयेन जीवा संयुक्ता भवन्ति द्वाभ्याम् ॥ १९ ॥

इति नयो भगवद्दर्शपदभ्रंशेण प्रोक्तो द्रव्यार्थिकः पर्यायिकश्चेति ।  
द्रव्यमेवार्थं प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः । पर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति  
पर्यायार्थिकः । न सत्त्वं एकनयापनोपदेशो वाच्यः । किं तदुभयाय-  
नोपदेशः ? सत्तात्प्राक्शुद्धद्रव्यार्थिकवलेन पूर्वोक्तव्यञ्जनपर्यायेभ्यः  
सत्ताशान्मुक्तानुगतममन्तर्जायराक्षसः सर्वथा व्यतिरिक्ता एव । कुतः “सर्वे  
सुद्धा ह्यसुद्धायाः” इति वचनात् । विभाव्यञ्जनपर्यायार्थिकवलेन ते  
सर्वजायाम्मुक्ता भवन्ति । किंच-सिद्धानामर्थपर्यायैः सह परिणतिः, न  
पुनर्व्यञ्जनपर्यायैः सह परिणतिरिति । कुतः, गदा निरञ्जनत्वात् सिद्धानां  
सदा निरञ्जनत्वे सति बहिर्द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयाभ्याम् द्वाभ्याम् संयुक्ताः  
सर्वे जीवा इति सूत्रार्थो ध्येयः । निगमो विकल्पः तत्र भवो नैगमः । स च  
नैगमनयस्तावत् त्रिविधः, भूतनैगमः । वर्तमाननैगमः । भाविनैगमश्चेति । अत्र  
भूतनैगमनयापेक्षया भगवतां सिद्धानामपि व्यञ्जनपर्यायत्वमशुद्धं च  
संभवति । पूर्वकाले ते तावन्तः संसाग्णि इति व्यवहारात् । किंचरुना सर्वे  
जीवा नयद्वयवलेन शुद्धाशुद्धाः इत्यर्थः ।

तथा चोक्तं श्रीमद्भयचन्द्रसूत्रिभिः—

उभयनविरोधत्वंसिनि स्यात्पदाकं

जिनवचसि रमंते ये स्वयं शान्तमोहाः ।

सपदि ममयगारं तं एषं ज्योतिर्यज्ञै-  
ग्नेऽमनयपक्षाभुष्णमीक्षीत एव ।

तथाहि—

अथ नययुगयुक्ति लंपयनेनो न संतः  
पग्मग्निपदाञ्जदन्दमन्दिग्गताः ।  
सपदि ममयगारं तं धुवं ग्रामुगान्नि  
क्षितिपु परमतोक्ते किं फले सज्जनानाम् ॥

इति सुकविजनपद्योजमित्र-पंचेन्द्रियप्रमत्तार्जितगात्रमात्रपरिग्रह-श्रीपद्म-  
प्रममलधारिवेवविगचिताया नियमगाग्ख्याग्ग्यायां तात्पर्यार्थानो जीवा-  
धिकारः प्रथमश्रुतस्कन्धः ॥ १ ॥

अधेदानीमर्जावाधिकार उच्यते । पुद्गलद्रव्यविक्ल्पन्यामोऽयम्—

अणुखंधवियप्पेण दु पोग्गलद्व्वं हवेइ दुवियप्पं ।  
खंधा हु छप्पयारा परमाणू चेव दुवियप्पो ॥ २० ॥

अणुस्कन्धविकल्पेन तु पुद्गलद्रव्यं भवति द्विविकल्पम् ।

स्कन्धाः खलु षट्प्रकाराः परमाणुश्चैव द्विविकल्पः ॥ २० ॥

पुद्गलद्रव्यं तावद्दु विकल्पद्वयसनाथम् । स्वभावपुद्गलो विभावपुद्गलश्चेति ।  
तत्र स्वभावपुद्गलः परमाणुः, विभावपुद्गलः स्कन्धः । कार्यपरमाणुः कारण-  
परमाणुरिति स्वभावपुद्गलो द्विधा भवति । स्कन्धाः षट्प्रकाराः स्युः, पृथ्वी-  
जलच्छायाचतुरक्षत्रियकर्मप्रायोग्याप्रायोग्यभेदाः । तेषां भेदो वक्ष्यमाणसूत्रे-  
पूच्यते विस्तरेणैति ।

गलनादणुरित्युक्तः पूरणात्स्कन्धनामभाक् ।

विनानेन पदाभेण लोक्यात्रा न वर्तेते ।

१ एवं आवरणेन रहितम् अनवम् । वा न नवम् अनवम् चिरेतनम् इत्यर्थः ।  
२ अनयपक्षा एकान्तवादिनस्तैरभुष्ण अभुमितम् अध्वस्तमित्यर्थः ।





सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-  
रनेत्रमनयपक्षाक्षुण्णमाक्षंत एव ।

तथाहि—

अथ नययुगयुक्ति लंघयंतो न संतः  
परमजिनपदाब्जद्वन्द्वमत्तद्विग्रेहाः ।

सपदि समयसारं ते ध्रुवं प्रामुवन्ति  
क्षितिषु परमतोक्ते किं फलं सज्जनानाम् ॥

इति सुकविजनपयोजमित्र-पंचेन्द्रियप्रसरवर्जिनगात्रमात्रपरिग्रह-श्रीपद्म-  
प्रभमलधारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ जीवा-  
धिकारः प्रथमश्रुतस्कन्धः ॥ १ ॥

अधेदानीमर्जावाधिकार उच्यते । पुद्गलद्रव्यविकल्पन्यासोऽयम्—

अणुखंधवियप्पेण हु पोग्गलद्व्वं हवेइ दुवियप्पं ।  
खंधा हु छप्पयारा परमाणू चेव दुवियप्पो ॥ २० ॥

अणुस्कन्धविकल्पेन तु पुद्गलद्रव्यं भवति द्विविकल्पम् ।

स्कन्धाः खलु षट्प्रकाराः परमाणुश्चैव द्विविकल्पः ॥ २० ॥

पुद्गलद्रव्यं तावड विकल्पद्वयसनाथम् । स्वभावपुद्गलो विभावपुद्गलश्चेति ।  
तत्र स्वभावपुद्गलः परमाणुः, विभावपुद्गलः स्कन्धः । कार्यपरमाणुः कारण-  
परमाणुरिति स्वभावपुद्गलो द्विधा भवति । स्कन्धाः षट्प्रकाराः स्युः, पृथ्वी-  
जलच्छायाचतुरक्षवियकर्मप्रायोग्याप्रायोग्यभेदाः । तेषां भेदो वक्ष्यमाणसूत्र-  
पूर्यते विस्तरेणेति ।

गलनादणुरित्युक्तः पूरणान्स्कन्धनाममाह ।

विनानेन पदार्थेण लोकाद्यात्रा न वर्तते ।

१ अत्र आवरण तेन रहितम् अनयम् । वा न नयम् अनयम् चिरेतनम् इत्यर्थः ।  
२ अनयपक्षा एहान्तवादिनोऽपि ध्रुवं अमुमितम् अपवर्णमित्यर्थः ।



सपदि ममयमारं ते परं ज्ञानिस्त्रै-  
रनेवमनयपक्षाशुष्णामीक्षत एव ।

तथाहि—

अथ नययुगयुक्तिं लंघयन्तो न मंतः  
परमजिनपदाच्चन्द्रन्दमत्तद्विरेकाः ।  
सपदि ममयमारं ते भुवं प्रामुवन्ति  
क्षितिपु परमतोने किं फलं सज्जनानाम् ॥

इति सुकविजनपयोजमित्र-पंचेन्द्रियप्रमस्वर्जितगात्रमात्रपरिग्रह-श्रीपद्म-  
प्रममलधारिदेवविगचिनायां नियममागव्याख्यायां तान्पर्यवृत्तीर्जाया-  
धिकारः प्रथमश्रुतस्कन्धः ॥ १ ॥

अथेदानीमर्जावाधिकार उच्यते । पुद्गलद्रव्यविकल्पन्यामोऽयम्—

अणुखंधवियप्पेण दु पोग्गलद्व्वं हवेइ दुवियप्पं ।  
खंधा हु छप्पयारा परमाणू चेव दुवियप्पो ॥ २० ॥

अणुस्कन्धविकल्पेन तु पुद्गलद्रव्यं भवति द्विविकल्पम् ।

स्कन्धाः खलु षट्प्रकाराः परमाणुश्चैव द्विविकल्पः ॥ २० ॥

पुद्गलद्रव्यं तावद् विकल्पद्वयसनायम् । स्वभावपुद्गलो विभावपुद्गलश्चेति ।  
तत्र स्वभावपुद्गलः परमाणुः, विभावपुद्गलः स्कन्धः । कार्यपरमाणुः कारण-  
परमाणुरिति स्वभावपुद्गलो द्विधा भवति । स्कन्धाः षट्प्रकाराः स्युः, पृथ्वी-  
जलच्छायाचतुरक्षविषयकर्मप्रायोग्याप्रायोग्यभेदाः । तेषां भेदो वक्ष्यमाणमूर्ते-  
पृच्यते विस्तरेणेति ।

गलनादणुरित्युक्तः पूरणात्स्कन्धनामभाक् ।

विनानेन पदार्थेण लोकायात्रा न वर्तते ।

१ अर्थं आवरणेन रहितम् अनवम् । वा न नवम् अनवम् चिरंतनम् इत्यर्थः ।  
२ अनयपक्षा एकान्तवादिनस्तैरशुष्णं अशुभितम् अध्वस्तमित्यर्थः ।

विभावपुद्गलस्वरूपास्यानमेततः —

अइधूलधूल धूलं धूलंसुहुमं च गुहुमधूलं च ।  
 सुहुमं अइसुहुमं इदि धरादियं होदि छम्भेयं ॥ २१ ॥  
 भूपव्यदमादीया भणिदा अइधूलधूलमिदि संधा ।  
 धूला इदि विण्णेया सप्पीजलतेलमादीया ॥ २२ ॥  
 छायातवमादीया धूलेदरसंधमिदि वियाणाहि ।  
 सुहुमधूलेदि भणिया संधा चउरक्खयिसया य ॥ २३ ॥  
 सुहुमा हयंति संधा पायोग्गा कम्मवग्गणस्म पुणो ।  
 तद्विवरीया संधा अइसुहुमा इदि परुवेदि ॥ २४ ॥ चउक्कं ।

अतिस्थूलस्थूलाः, स्थूलाः, स्थूलसूक्ष्माश्च, सूक्ष्मस्थूलाश्च ।  
 सूक्ष्मा, अतिसूक्ष्मा, इति धरादयो भवन्ति पद्भेदाः ॥ २१ ॥  
 भूर्पर्वाद्या भणिता अतिस्थूलस्थूला इति स्वभावाः ।  
 स्थूला इति विज्ञेयाः सप्पिजेजलतेलाद्याः ॥ २२ ॥  
 छायातवाद्याः स्थूलेतरस्वन्धा इति विनातीहि ।  
 सूक्ष्मस्थूला इति भणिता स्वन्धाश्चतुरस्रविषयाश्च ॥ २३ ॥  
 सूक्ष्मा भवन्ति स्वन्धप्रायोग्याः कर्मवर्गणम्य पुनः ।  
 तद्विवरीताः स्वन्धाः अतिसूक्ष्मा इति प्ररूपयन्ति ॥ २४ ॥  
 चतुष्कं ।

अतिस्थूलस्थूला इति ते सल्लु पुद्गलाः शुभेरकुम्भिर्नाभ्युत्तयः । एतन्ने-  
 लतेचक्षुर्निजलप्रभृतिगमस्तद्रूपानि हि स्थूलपुद्गलाश्च । छायातवमप्रभृत्तयः  
 स्थूलसूक्ष्मपुद्गलाः । स्पर्शनरसनघ्राणभोर्निद्रियाणां विषयाः सूक्ष्मस्थूलपुद्गलाः  
 सन्धस्पर्शसन्ध्याः । शुभाशुभरीतिभेदादङ्गणान्तराणां शुभाशुभवर्जना



विभाज्युद्गलम्बपायानमेतत् —

अद्भूलथूल धूलं धूलंमुहुमं च मुहुमधूलं च ।  
 मुहुमं अद्भुमं इदि धरादियं होदि छम्भेयं ॥ २१ ॥  
 भूपच्चदमादीया भणिदा अद्भूलधूलमिदि संधा ।  
 धूला इदि विण्जेया सप्पीजलतेलमादीया ॥ २२ ॥  
 छायातवमादीया धूलेदरखंधमिदि वियाणाहि ।  
 मुहुमधूलेदि भणिपा संधा चउरक्खयिसया य ॥ २३ ॥  
 मुहुमा हवंति संधा पावोग्गा कम्मवग्गणस्स पुणो ।  
 तद्धिवरीया संधा अद्भुमुहुमा इदि परूवेदि ॥ २४ ॥ चउक्कं ।

अतिस्थूलस्थूलाः, स्थूलाः, स्थूलमूमाश्च, सूक्ष्मस्थूलाश्च ।  
 मूमा, अतिमूमा, इति धरादयो भवन्ति षड्भेदाः ॥ २१ ॥  
 भूपर्वनाद्या भणिता अतिस्थूलस्थूलाः इति स्कन्धाः ।  
 स्थूला इति विज्ञेयाः सप्पिजेत्त्वैयाद्याः ॥ २२ ॥  
 छायातपाद्याः स्थूलेतरस्कन्धा इति विनानीहि ।  
 सूक्ष्मस्थूला इति भणिताः स्कन्धाश्चतुरस्रविषयाश्च ॥ २३ ॥  
 मूमा भवन्ति स्कन्धप्रायोग्याः कर्मवर्गणस्य पुनः ।  
 तद्विपरीनाः स्कन्धाः अतिमूमा इति प्ररूपयन्ति ॥ २४ ॥

चतुष्कं ।

अतिस्थूलस्थूला हि ते राहु पुद्गलाः सुमेरुकुम्भिर्नाश्रभृतयः । घृतै-  
 लतश्चक्षुर्निजलप्रभृतिषमस्तद्रव्याणि हि स्थूलपुद्गलाश्च । छायातपतमःप्रभृतयः  
 स्थूलसूक्ष्मपुद्गलाः । स्पर्शनरसनघ्राणश्रोत्रेन्द्रियाणां विषयाः सूक्ष्मस्थूलपुद्गलाः  
 शब्दस्पर्शसगन्धाः । शुभाशुभपणिणामद्भोरेणामच्छतां शुभाशुभकर्मणां

योग्याः सूक्ष्मपुद्गलाः । एतेषां विपरिताः सूक्ष्मसूक्ष्मपुद्गलाः कर्मणामप्रयोग्या इत्यर्थः । अयं विभावपुद्गलक्रमः । तथाचोक्तं पञ्चास्तिकायसमयमध्ये—

“पुद्ग्री जलं च छाया चउरिदियविसयकम्मपाओग्गा ।  
कम्मातीदा एवं छब्भेया पोग्गला होंति ”

उक्तं च मार्गप्रकाशे—

स्थूलस्थूलास्ततः स्थूला स्थूलसूक्ष्मास्ततः परे ।

सूक्ष्मस्थूलास्ततः सूक्ष्माः सूक्ष्मसूक्ष्मास्ततः परं” ॥

तथा चोक्तं भीमदमृतचन्द्रमूगिभिः—

“अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकानाञ्चो

वर्णादिमान् नटति पुद्गल एव नान्यः ।

रागादिपुद्गलविभागविरुद्धशुद्ध-

चेतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीव ॥

इति विविधविकल्पं पुद्गले दृश्यमाने

न च कुरु रतिभाव भव्यशार्दूल तस्मिन् ।

कुरु रतिमतुलां त्व चिच्चमत्कारमात्रे

भवमि हि परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥

कारणकार्यपरमाणुद्रव्यस्वरूपाव्यानमेतत्:—

धाउचउक्कस्स पुणो जं हेऊ कारणंति तं णेयो ।

संधाणां अवसाणो णावदवी कज्जपरमाणु ॥२५॥

धातुचतुष्कम्य पुन यो हेतु कारणमिति म ज्ञेयः ।

स्वन्धानामवमानो ज्ञानव्य कारणपरमाणुः ॥ २६ ॥

पुद्विष्यनेजावायसे धातुश्चत्वाः तेषां यो हेतुः स कारणपरमाणुः, स एव जपन्यपरमाणुः स्वन्धरूपागुणानामानन्त्याभावात्, समविपरिवर्तयोग्ययोग्य इत्यर्थः । ध्रुन्धरूपागुणानामनन्तत्वम्योपनि दाभ्याश्च चतुर्भिः समन्धः ।

विधिः पदविधिर्महत्तमः । अयमुत्पृष्टपरमाणाः । शक्त्या पुद्गलद्वयगत्या  
 कर्तव्यप्रमाणविधिम् विधत्ते य ए कार्यपरमाणु । अणवदचतुर्भेदाः कार्य-  
 पण्यप्रमाणद्वयभेदः, तस्य परमाणुद्वयस्य परमपरिणतत्वात् विभागा-  
 मन्वत् परमाणुभावे इति । तथा शान्तं प्रवचनमात्रे—

“ जिज्ञासा कृत्वा वा अल्पपरिणतामा शान्तां च विमता वा ।

शक्तो ह्यपरिणतं जज्ञि कर्तव्यं हि आदिपरिणता ” ॥

“ विभक्तयेण दुर्गुणो बहुगुणशिष्टेण बहुमणुहर्षि ।

दुर्गुणेण वा त्रिगुणितो अणु शक्तादि परगुणनुत्तो ”

तथा हि—

स्वर्भेदे कृत्वाः किं चतुर्भिर्दुर्भिर्मम ।

आत्मानमक्षयं शुद्धं भावयामि सुदुर्महं ॥

परमाणुविशेषोनिश्चयः—

अभादि अक्षमज्जलं अक्षतं णेव इंदिए मेज्ज ।

अविभागी जं दध्यं परमाणुं तं विआणाहि ॥२६॥

आत्माद्यात्ममायमात्मान्तन्त्रैरेन्द्रियैर्मांगस्य ।

अविभागी यद्व्यं परमाणुं तद् विजानीहि ॥ २६ ॥

यथा जीवानां निव्यान्वित्प्रतिगादादिसिद्धक्षेत्रपर्यन्तस्थितानां सृष्ट-  
 परमपरिणामिकभावविश्रुतासमाश्रयणं सृष्टजनिश्चयनयेन स्वस्वरूपानु-  
 द्बन्धनत्वमुत्तमं, तथा परमाणुद्वयाणां पंचमभावेन परमस्वभावत्वा-  
 द्वात्मपरिणामं ताप्येवादि, मध्यो हि आत्मपरिणतेरात्मैव । अतोपि  
 स्वस्यात्मैव परमाणुगतः न चेन्द्रियज्ञानमोक्षत्वाद् अनिलोन्मत्ता-  
 दिभिर्विनिश्चयत्वाविभागी हे शिष्य स परमाणुमिति त्व तं जानीहि ।

अप्यात्मनि स्थिति बुद्ध्या पुद्गलस्य जहात्मनः ।

सिद्धान्ते किं न तिष्ठति स्वस्वरूपे चिदात्मनि ॥



योग्याः सूक्ष्मपुद्गलाः । एतेषां विपरीताः सूक्ष्मसूक्ष्मपुद्गलाः कर्मणामप्रयोग्या इत्यर्थः । अयं विभावपुद्गलक्रमः । तथाचोक्तं पंचास्तिकायसमयमध्ये—

“पुद्ग्वी जलं च छाया चउरिदियविसयकम्मपाओगा ।  
कम्मार्तादा एवं उच्चेया पोग्गला होंति ”

उक्तं च मार्गप्रकाशे—

स्थूलस्थूलास्ततः स्थूला स्थूलसूक्ष्मास्ततः परे ।

सूक्ष्मस्थूलास्ततः सूक्ष्माः सूक्ष्मसूक्ष्मान्ततः परे” ॥

तथा चोक्तं श्रीमद्भुवनचन्द्रमूगिभिः—

“ अस्मिन्ननादिनि महत्याविवेकानादये  
वर्णादिमान् नटति पुद्गल एव नान्यः ।

रगादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध-

चेतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः ॥

इति त्रिविधविकल्पे पुद्गले दृश्यमाने

न च कुरु गतिभावं भव्यशार्दूल तस्मिन् ।

कुरु गतिमतुलां त्व चिच्चमन्काग्मात्रे

भवसि हि परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥

कारणकार्यपरमाणुद्रव्यस्वरूपाभ्यानामेतत्.—

धातुचतुष्कसस पुणो जं हेऊ कारणंति तं णेयो  
संधाणां अवसाणो णाददशो कज्जपरमाणू ॥२८

धातुचतुष्कस्य पुन यो हेतु कारणमिति म ज्ञेय ।

स्वन्धानामवसानो ज्ञानव्य कार्यपरमाणु ॥ २९ ॥

पृथिव्यग्नेजोवायवो धातवश्चन्द्रावः तेषां यो हेतुः स कारणपरमाणुः,  
एव त्रयन्दशपरमाणुः स्वन्धरूपाणानामानन्त्याभावात्, सामविषमबंधध्यायोग्या  
इत्यर्थः । धिन्धरूपाणानामनन्त्वम्योपरि द्वाभ्याम् चतुर्भिः समबन्धः



स्वभावपुद्गलस्वरूपास्यानमेतत्—

एयरसरूचगंधं द्रोफासं तं हवे सहावगुणं ।

विहावगुणमिदि भणिदं जिणसमये सव्वपयडत्तं २७॥

एकरसरूपगंधः द्विस्पर्शः स भवेत्स्वभावगुणः ।

विभावगुणा इति भणितो जिनसमये सर्वप्रकटत्वम् ॥ २७ ॥

तिक्तकटुककषयायाम्लमधुराभिधानेषु पंचसु रसेष्वेकगतः । श्वेतपी-  
तहरितारुणकृष्णवर्णेष्वेकवर्णः सुगन्धदुर्गन्धयोरेकगंधः । कर्कशमृदुगुल-  
घुर्शीतोष्णस्निग्धरूक्षाभिधानामष्टानामन्त्यचतुरपर्शाविरोधस्पर्शनद्वयम् ।  
एते परमाणोः स्वभावगुणाः जिज्ञानां मते । विभावगुणात्मको विभावपुद्गलः ।  
अस्य द्व्यणुकादिस्कंधरूपस्य विभावगुणाः सकलकरणग्रामग्राहा इत्यर्थः ।  
तथा चोक्तं पंचास्तिङ्गयिसमये—

“ एयरसरूचगंधं द्रोफासं सइकारणमसइं ।

संधंतरिदं दध्वं पग्माणुं तं रियाणाहि ” ॥

उक्तं च मार्गप्रकाशे—

“ वसुधान्त्यचतुर्पर्शो-पु चिन्त्यं स्पर्शनद्वयम् ।

वर्णो गन्धो रसश्चैकः पग्माणो न चेतरे ॥ ”

तथा रि—

अथ मति पग्माणोरेकवर्णाद्विभासव-

ध्रिजगुणानिचयेप्रस्मिन् नाम्नि मे क्वार्थमिदिः ।

इति निजएदि मत्त्वा शुद्धमानमानमेकम्

पग्ममुसपदार्थी भावयेद्भग्यलोकः ॥

पुद्गलार्यांश्वरूपास्यानमेतत्—

अण्णापिरावेक्खो जो परिणामो सो सहायपज्जायो ।

संधसरूचंण पुणो परिणामो सो विहायपज्जायो ॥ २८ ॥



सापि प्राथमिकानां स्यान्न स्यान्नियन्त्रयोगिनाम् ॥

अचेतने पुद्गलकायकेऽस्मिन्

सचेतने वा परमान्तत्वे ।

न रोपभावो न च रागभावो

भवेदियं शुद्धदशा यतीनाम् ॥

धर्माधर्माकाशानां संक्षेपोक्तिरियम्: —

गमणानिमित्तं धम्ममधम्मं ठिदि जीवपुद्गलाणं च ।

अवगहणं आयासं जीवादीसव्वदब्बाणं ॥ ३० ॥

गमननिमित्तो धर्मोऽधर्मः स्थितेः जीवपुद्गलानां च ।

अवगाहनस्याकाशं जीवादिमर्वद्व्याणाम् ॥ ३० ॥

अयं धर्मास्तिकायः स्वयं गतिक्रियाग्रहितः दीर्घिकोदकवत् । स्वभावग-  
तिक्रियापरिणतस्य योगिनः पञ्चहम्वाक्षरोच्चारणमात्रस्थितस्य भगवतः सिद्ध-  
नामधेययोग्यस्य षट्कायकमविमुक्तस्य मुक्तिवामलोचनालोचनगौरवस्य  
त्रिलोकेशिगर्गोसारस्य अपहस्तितसमन्तकेशावामपंचविधसंसारस्य पञ्चम-  
गनियान्तस्य स्वभावगतिक्रियाहेतुः धर्मः । अपि च । षट्कायकमपुतानां  
संमार्गिणां विभाषणतिक्रियाहेतुश्च । यथादकः पाटीनानां कारणं तथा तेषां  
जीवपुद्गलानां गमनकारणं, स धर्मः सोऽयममूर्तः अष्टस्पर्शनविनिर्मुक्तः वर्ण-  
रसापंचकर्मध्विनपरिनिर्मुक्तश्च अगुम्कलघुत्वादिगुणाधारः लोकमात्राकाश-  
अगणैकपदार्थः ।

सहभुवो गुणाः कर्मवर्तिनि पर्यायाश्चेति, पचनादस्य गतिहेतोर्धर्मद्वयस्य  
शुद्धगुणाः शुद्धपर्याया भवन्ति । अधर्मद्वयस्य स्थितिहेतुविशेषगुणः ।  
अस्यैव तस्यधर्मास्तिकायस्य गुणपर्याया सर्वे भवन्ति । आकाशस्यावका-  
शादानुक्षणमेव विशेषगुणः इति धर्मधर्मयोगुणाः स्मर्यापि सदृशा इत्यर्थः ।  
लोकमात्राधर्मास्तिकायां समाप्तप्रमाणत्वे मति न इत्येकाकाशस्य ह्यस्यमिति ॥

इह समनभिमितं परिधौ वारणं वा  
 एद्वगमसित्तानां मयानदानपर्याणं ।  
 मद्रितमवरोक्य ह्यन्यत्प्रेणमभ्यक  
 मद्रितानु निमेषं गर्भदा भव्यलोकाः ।

एवताम्बान्तरमपरिधिधरिकन्यकधनामिदम् —

समयापत्तिभेदेण दु द्विवियप्पं अहय होह तिवियप्पं ।  
 तीदो संगेज्जापत्तिहृदसंठाणप्पमाणं तु ॥ ३१ ॥

समयापत्तिभेदेन तु द्विविरल्योऽथवा भवति धिविकल्प ।

अतीतोऽमन्यानावत्तिनमेस्थानं प्रमाण तु ॥ ३१ ॥

एवमिच्छाःप्रदेशे यः परमाणुमिति समन्यः परमाणुमन्दचलनात्तुपयति  
 ए समयो व्यवगतवान्ः साहसोरसंस्पृशतममयेः निमेषः, अथवा नयनपुटघट-  
 नायनो निमेषः । निमेषाष्टौः बाष्ठा, षोडशाभिःबाष्ठाभिकृत्वा, द्वात्रिंशत्कला-  
 निर्यःशिका, षष्टिनालिकमणोगत्रम् । त्रिंशद्द्वारेत्रैर्मासः । द्वाभ्याम् मामाभ्याम्  
 क्तु । क्तुभिधिभिग्यनम् । अयनद्वयेन संवत्सरः । इत्यादिहिन्यवहारकालक्रमः ।  
 इत्थं समयापत्तिभेदेन द्विधा भवति । अतीतानामतर्तमानभेदात् त्रिधा । अती-  
 तकालप्रसंशोपमुख्ये—अतीतमिद्धानां सिद्धपर्यायप्रादुर्भावममयात् पुरागतो  
 ह्यवस्थादिव्यवगात्वात् न कालम्येषा मंगगवस्थाया यानि संस्थानानि  
 गतानि तैः सदृशान्वादनन्तः अनागतकालोप्यनागतमिद्धानामनागमशरीरा-  
 णि यानि तैः सदृशान्याः मुक्तेः सकाशादित्यर्थः ।

तथा धोर्न पंचामित्कायसमये—

“ समभो णिमिसो क्हा क्हा य णाली म्दो दिवा रती ।

मामोहुअयणमंवस्मगेनि क्हालो पगयतो ”

तथा हि

समयनिमित्तकाष्ठा सत्कलानाडिकाया—

दिवसरजनिभेदाज्जायते काल एषः ।

न च भवति फलं मे तेन कालेन किञ्चि-

न्निरनिरूपमतत्त्व शुद्धमेकं विहाय ॥

मुख्यकालस्वरूपाख्यानमेतत्:—

जीवाद् पुग्गलादोऽणंतगुणा चावि संपदा समया ।

लीयायासे संति य परमदो सो हवे कालो ॥ ३२ ॥

जीवान् पुद्गलतोऽननगुणाश्चापि संप्रति समयाः ।

लोकाकाशे सति न परमार्थः स भवेत्कालः ॥ ३२ ॥

जीरगशोः पुद्गलशोः सद्दशादनन्तगुणाः । के ते । समयाः कालावतः  
लोकाकाशदेशेषु पृथक् पृथक् तिष्ठन्ति स कालः परमार्थः इति । तथा  
शोकः प्रवचनमाह—

“ समओ दु, अण्देमो पदेममेतस्म द्वियजादस्म ।

वदिवददो गो वदुदि पदेममागामद्विअस्म ”

अस्यापि समयशब्देन मुख्यकालाणस्वरूपमुक्तं । समओ समयपर्याय-  
स्योपादानकारणत्वात् समयः । दु पुनः । अण्देमो, द्वितीयादिप्रदेश-  
रहितो भवति । गो वदुदि, स पूर्वोक्तकालाणुः गतिपरिणतः सहकारित्वेन  
वर्तते । पदेममेतस्म द्वियजादस्म प्रदेशमात्रपुद्गलजातिरूपपरमाणुद्रव्यस्य ।  
द्वि कुर्वतः । वदिवददो, व्यतिपन्न मंदगत्या गच्छतः । कम् । पदेमो का-  
लाणुव्यपत्तमेकप्रदेशी । कस्य सवर्धनः । आगामद्वियस्म, आकाशद्रव्याभ्यां ।

अन्यथा—

“ लोकाकाशपदेम एकेके मे द्विया दू एकेका

वदगतां रग्गी इव ते काटाणु भागवद्व्याणि ”

उत्तं च मार्गजकाशं—“ बालाभावे न भावानां परिणामस्तदन्तर्गत ।  
न द्रव्यं नापि पर्यायाः, सर्वाभावे प्रपञ्चयेत् ॥

मया हि—

“ वर्तनांतुषे म्यात्, बुम्भृच्चमेव तत् ।

पंचानामग्निकायानां मान्यया वर्तना भवेत् ॥

प्रतीतिगोचरा सर्वे जीवपुद्गलरसाय ॥

धर्माधर्मनभकायाः सिद्धा गिद्धान्ताद्भूतेः ।

बालादिशुद्धामूर्तान्निवद्रव्याणां स्वभावगुणपर्यायाभ्यामनेतत् ।

जीवादीद्द्रव्याणं परिवहणकारणं ह्ये कालो ।

धर्मादिचओसेणं सहाउगुणपञ्जया हांति ॥३३॥

जीवादिद्रव्याणां परिवर्तनकारणं भवेत्कालः ।

धर्मादिचतुर्णां स्वभावगुणपर्याया भवन्ति ॥ ३३ ॥

इत हि मुख्यकालद्रव्ये जीवपुद्गलधर्मोपमाकाशानां पर्यायपरिणतिहेतुत्वात्  
परिवर्तननिवृत्तिमित्युक्तं । अथ धर्माधर्माकाशकालानां स्वजातीयव्यवसम्ब-  
न्धाभावात् त्रिभावगुणपर्यायाः न भवन्ति, अपि तु स्वभावगुणपर्याया भव-  
न्तीत्यर्थः । ते गुणपर्याया पूर्वं प्रतिपादिताः अत्रैवात्र संक्षेपतः सूचिता इति ।

इतिविग्नितमुच्चैर्द्रव्यपट्टस्य माम्बद्ध—

द्विवर्णमानिगम्यं भव्यवर्णामृतं यत् ।

तदिह निजमुनीनां दत्तचिन्तयमाद्

भवतु भवविमुक्तये सर्वदा भव्यजन्तोः ॥

अत्र कालद्रव्यमन्तर्गण पूर्वोक्तद्रव्याण्येव पंचाग्निकाया भवन्तीत्युक्तम् ।

एदे छद्द्रव्याणि य कालं मोक्षुण अत्थिकायसि ।

णिदिहा जिणसमये काया हु बहुप्पदेसत्तं ॥ ३४ ॥





लोकाकाशे तद्भूदितरस्यानन्ता भवन्ति देशाः ।

कालस्य न कायत्वं एकप्रदेशो भवेद्यम्मान् ॥ ३६ ॥ गुम्भं ।

शुद्धपुद्गलपरमाणुना गृहीतं नभस्यलमेव प्रदेशाः । एवंविधा पुद्गलद्रव्यस्य प्रदेशाः संख्याता अमंख्याता अनन्ताश्च । लोकाकाशाधर्माधर्मैकजीवानाम्-संख्यातप्रदेशा भवन्ति । इतरस्यालोकाकाशास्यानन्ताः प्रदेशा भवन्ति कालस्यैक-देशो भवति अतःकारणादस्य कायत्वं न भवति अपि तु द्रव्यत्वमस्त्येवेति ।

पदार्थोत्थाभरणं मुमुक्षोः

कृतं मया कंठविभूषणार्थम् ।

अनेन धीमान् व्यवहारमार्गं

शुद्धा पुनर्बोधति शुद्धमार्गम् ॥

अजीवद्रव्यव्याख्यानोपमेयार्थम्—

पुग्गलद्रव्यं मोक्षं मुक्तिविरहिया हृषति संसाणि ।

चेदणभावो जीओ चेदणमुणवज्जिया संसा ॥ ३७ ॥

पुद्गलद्रव्यं मूर्तं मूर्तिविरहितानि भवन्ति शेषाणि ।

चेतन्यभावो जीवः चेतन्यगुणवर्जितानि शेषाणि ॥ ३७ ॥

तेषु मूलपदार्थेषु पुद्गलस्य मूर्तत्वम् । इतरेषाममूर्तत्वम् । जीवाय चेतनत्वम् इतरेषामचेतनत्वम् । इवमासीद्यविमार्गस्य चेतनत्वनापेक्षया जीवपुद्गलयोस्तुद्धत्वम्, धर्मादीनां चतुर्णां विशेषगुणापेक्षया शुद्धत्वमेवेति ।

इति ललितपदानामावृत्तिर्भूति नित्यम्

वदुनससि जाते घग्ग भव्योत्तमग्ग ।

तापदि तमयगात् तस्य इत्थुग्गीके

त्तपति निरीत्तपुद्दः दिं पुनत्थिज्जमेत्त ॥

इति सुकविजनप्रयोगमिदंनेन्द्रियमरचर्जितागानपरिपह-भीषद्यमभ-  
मलधारिदेवविगचिनायं नियममारच्यारस्यायी तात्पर्यद्वयी अजीपाधि-  
कारो दिगीक श्रुतमन्त्रः ॥ २ ॥

अथेदानीं शुद्धभाषणिकार उच्यते ।

हेतुसादेयान्यमाख्यायानमेतात् ।

जीषादिबहिषत्तयं हेयमुयादेयमप्यणो अप्या ।

कर्मोपाधिसमुद्भवगुणपञ्जाणहिं वदिरत्तो ॥ ३८ ॥

जीषादिबहिषत्तयं हेयमुयादेयमप्यणो अप्या ।

कर्मोपाधिसमुद्भवगुणपञ्जाणहिं वदिरत्तो ॥ ३८ ॥

जीषादिबहिषत्तयं हेयमुयादेयमप्यणो अप्या । आत्मनः सत्ततो-  
र्यथाप्यस्यैवार्थिमागर्जितागानपरिपह-भीषद्यमभ-  
मलधारिदेवविगचिनायं नियममारच्यारस्यायी तात्पर्यद्वयी अजीपाधि-  
कारो दिगीक श्रुतमन्त्रः ॥ २ ॥  
अथेदानीं शुद्धभाषणिकार उच्यते ।  
हेतुसादेयान्यमाख्यायानमेतात् ।  
जीषादिबहिषत्तयं हेयमुयादेयमप्यणो अप्या ।  
कर्मोपाधिसमुद्भवगुणपञ्जाणहिं वदिरत्तो ॥ ३८ ॥

अथेदानीं शुद्धभाषणिकार उच्यते ।

हेतुसादेयान्यमाख्यायानमेतात् ( ? )

जीषादिबहिषत्तयं हेयमुयादेयमप्यणो अप्या ।

कर्मोपाधिसमुद्भवगुणपञ्जाणहिं वदिरत्तो ॥

॥ ३८ ॥

जीषादिबहिषत्तयं हेयमुयादेयमप्यणो अप्या ।

कर्मोपाधिसमुद्भवगुणपञ्जाणहिं वदिरत्तो ॥ ३९ ॥

न सत्त्व स्वभावस्थानानि न मानापमानभावस्थानानि वा ।

न हर्षभारस्थानानि न भीरुस्य हर्षस्थानानि वा ॥ १९ ॥

विकारनिष्ठाधिकारस्य शुद्धजीवात्मिकापस्य न सत्त्व विभाव-  
स्वभावस्थानानि । प्रशान्ताप्रशान्तसमस्तमोहरागद्वेषाभावात् न मानापमान-  
हेतुभूतकर्मोदयस्थानानि । न सत्त्व परिणतेरभावान्नुभक्त्यभावात् शुभसंसार-  
सुखं संसारसुखस्याभावात् हर्षस्थानानि । न चाशुभरणतेरभावाद्दुःखकर्म ।  
अशुभकर्मभावात् दुःखं, दुःखस्याभावात् चार्हस्थानानि चेति ।

प्रतिवर्तीनिविमुक्तसाम्बलपदे निःशेषतोऽन्तर्मुखा-

निर्भेदेदित्तर्भनिर्मितविषदिवाङ्मनाशत्मनि ।

येनन्यामृतपूरपूर्णवपुषे श्रेयसवतां गोचरे

शुद्धिं हि न ऋगोषि वाञ्छसि सुखं त्वं संसृतेर्दुःखतेः ॥

णो षिदिवंधटाणा पयडिटाणा पदेसठाणा वा ।

णो अणुभागटाणा जीवस्स ण उदयठाणा वा ॥ ४० ॥

न स्थितिवंधस्थानानि प्रकृतिस्थानानि प्रदेशस्थानानि वा ।

नानुभागस्थानानि जीवस्य नोदयस्थानानि वा ॥ ४० ॥

• अत्र प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबन्धोदयस्थानानि, ज्ञानावरणापट्टकर्मणां  
तत्तयोग्यपुद्गलद्रव्यम्बाधारः प्रकृतिबन्धः, तस्य स्थानानि न भवन्ति । अणु-  
द्धान्तस्त्वकर्मपुद्गलयोः परस्परप्रदेशानुप्रवेशः प्रदेशबन्धः, अस्य बंधस्य  
स्थानानि वा न भवन्ति । शुभाशुभकर्मणां निर्जरात्ममये. सुखदुःखफलप्र-  
दानशान्तियुक्तौ ह्यनुभागबन्धः, अस्य स्थानानां वा न चावकाशः । न च  
द्रव्यभावकर्मोदयस्थानानामप्यवकाशोऽस्ति इति ।

एतन्मन्त्रं श्रीगणेशाय नमः ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥  
 श्रीगणेशाय नमः ॥  
 श्रीगणेशाय नमः ॥  
 श्रीगणेशाय नमः ॥

ॐ नमः ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥  
 श्रीगणेशाय नमः ॥  
 श्रीगणेशाय नमः ॥  
 श्रीगणेशाय नमः ॥  
 श्रीगणेशाय नमः ॥  
 श्रीगणेशाय नमः ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥  
 श्रीगणेशाय नमः ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥  
 श्रीगणेशाय नमः ॥  
 श्रीगणेशाय नमः ॥  
 श्रीगणेशाय नमः ॥  
 श्रीगणेशाय नमः ॥  
 श्रीगणेशाय नमः ॥  
 श्रीगणेशाय नमः ॥  
 श्रीगणेशाय नमः ॥  
 श्रीगणेशाय नमः ॥  
 श्रीगणेशाय नमः ॥  
 श्रीगणेशाय नमः ॥

क्षेत्राभ्यन्तरे, यथायथाचारिण्य, क्षेत्रज्ञानं, क्षेत्रदर्शनं च, अन्तः-  
 र्वर्त्मभ्यन्तरेण जनितादानशामभोगोपभोगवीर्याणि चेति । क्षायंपशामिकभावस्य  
 मतिभूतावधिमनःस्पर्शज्ञानानि चचारि, कुमतिकुभ्रुतविभेगभेदाज्ञानानि  
 र्ज्ञानि, अक्षुतक्षुतवधिदर्शनभेदाज्ञानि दर्शनानि, त्रिकालकरणोपदेशोपशाम-  
 प्रायोग्यताभेदाज्ञानाः पक्ष, वेदकसाम्यकृत्वं, वेदकचारिण्य, सयमासंयम-  
 पणनिश्चेति । औदयिकभावस्य, नारकतिर्यहमनुष्येदेवभेदाद् गतप-  
 र्यतः । त्र्यंशमानमापानोभेदाद् कृपायाश्चत्वारः । स्त्रीपुनपुंसकभेदा-  
 दिहानि र्ज्ञानि । सामान्यमज्ञानयापेक्षया मिथ्यादर्शनमेकम् अज्ञानं चैकम्,  
 अमंयमता चैका, अविद्वत्त्वं चैकम्, शुक्रपक्षपातकपोतनीलकृष्णभेदाहोस्याः  
 षट् च भवन्ति । पाणिणामिकस्य, जीवस्य जीवत्वपाणिणामिकः, भव्यत्व-  
 पाणिणामिकः, अभव्यत्वपाणिणामिकः, इति त्रिभेदाः । अथायं जीवत्वपाणिण-  
 मिकभावो भव्याभव्याना सहसाः भव्यत्वपाणिणामिकभावो भव्यानामेव भवति,  
 अभव्यत्वपाणिणामिकभावोऽभव्यानामेव भवति । इति पंचभावप्रपंचः ।

पंचानां भावानां मध्ये क्षायिकभाक् कार्यसमयमारूपः स त्रैलोक्य-  
 द्रष्टोभेतुभूततीर्थकरत्वोपाज्जितसफल—विकलकेवलाववांथमनाभतीर्थनाथस्य  
 भगवतः सिद्धस्य वा भवति । औदयिकोपशामिकशायोपशामिकभावाः  
 समागिणामेव भवन्ति न मुनानाम् ॥ पूर्वोक्तभावचतुष्टयं सावरणसंयुक्तत्वात्  
 न मुक्तिकारणम् । त्रिकालनिरुपाधित्वरूपनिर्जननिजपरमपंचमभावभावतया  
 पंचमगिनं मुमुक्षुवो यान्ति यास्यन्ति गताश्चेति ।

अचितपंचमगतये पंचमभावं स्मरन्ति विद्वान्म् ।  
 संचितपचाचाराः किंचन भाव प्रपंचपरिहीणाः ॥  
 सुकृतमपि समस्त भोगिनी भोगमूलम्  
 त्वजतु परमतत्त्वाभ्यामनिष्णातचित्तः ।  
 उभयसमयसागः सागतत्त्वरूपम्  
 भजतु भवविमुक्त्यै कोऽत्र दोषो मुनीशः ॥



रानि, चतुर्गुणनिनिगोर्दीर्घावानां सप्तलक्षयोनि, मुररानि वनस्पतिकायिकर्जावानां दशलक्षयोनिमुखानि, दीर्घान्द्रियर्जावानां दशलक्षयोनिमुररानि, त्रीन्द्रियर्जावानां दशलक्षयोनिमुखानि, चतुर्गुणान्द्रियर्जावानां दशलक्षयोनिमुखानि, देवानां चतुर्लक्षयोनिमुररानि, नागकाणां चतुर्लक्षयोनिमुररानि, तिर्यग्जीवानां चतुर्लक्षयोनिमुररानि, मनुष्याणां चतुर्दशलक्षयोनिमुररानि ।

सृष्टसृष्टमैकेन्द्रियमंशुभंशुभेन्द्रियदीर्घान्द्रियचतुर्गुणान्द्रियपरम्यन्तापरम्यन्त-  
कभेदमनायचतुर्दशर्जावस्थानानि । गतीन्द्रियकाययोगवेदकपाथज्ञानसंय-  
मदर्शनलेइयाभव्याभव्यसंख्याहागविकल्पलक्षणानि मार्गणास्थानानि । एतानि  
सर्वाणि च तस्य भगवतः परमात्मनः शुद्धनिश्चयनयवलेन न सन्तीति  
भगवतां सूत्रकृतामभिप्रायः । तथाचोक्तं श्रीमद्भूतचद्रसूत्रिभिः—

“ सकलपि विहायाद्वायविच्छनिरिक्तम्  
सृष्टतग्मवगाय स्वं च विच्छीनेमात्रम् ।  
इममुपरि चरन्तं न्यक्तं विद्वस्य साक्षात्  
कलयंतु परमात्मात्मानमात्मन्यनन्तम् ॥ ”

“ विच्छुनिय्याप्तसर्वस्य, मारो जीव इवानयः ।  
अतोऽतिगितास्ते सर्वे भावाः पौष्टिका इमे ” ॥

तथाहि ।

अनवरतमरणदृष्टज्ञानसद्भावनात्मा  
व्रजति स च विकल्पं संभ्रंतेर्पौरुषं ।  
अतुलमनघमात्मा निर्विकल्पः समाधिः  
परपरणति दूरे याति सन्मात्र एषः ॥  
इत्थं बुद्धोपदेशो जननमृतिहरं यं जरानाशहेतुं  
भक्तिप्रद्वामरेन्द्रयकटमुकुटसद्ब्रह्ममाहाचित्तभिः ।



वीरगतिर्गतिनाभारं दुग्धिमपानकुतन्तं तदि वंनरुधं  
 ह्ये मंते म्मानोपगमराम्नी गतिं कर्त्तव्येण ॥

इह दि शुद्धमानः सम्यगविमताभावात्तमुच्यते:-

णिवृद्धो णिवृद्धो णिम्ममो णिज्जाडो णिरालंबो ।  
 णीरागो णिद्धोमो णिम्मूढो णिम्मयो अप्पा ॥ ४३ ॥  
 निर्दग्धः निर्दग्धः निर्दग्धः निर्दग्धः निर्दग्धः ।  
 नीरागो निर्दग्धो निर्दग्धो निर्दग्धः भावमा ॥ ४३ ॥

मनोदग्धो वचनदग्धो वागदग्धोऽप्येतेषां योग्यद्वयभावाद्धर्मभाव-  
 भावाभिर्दग्धः । निश्चयेन परमाद्वयैर्गतिभिः सम्यक्त्वद्वयैर्माता-  
 माताभिर्दग्धः । यथा तावज्जगत्साम्यामोहसमोहाभावात्तन्निर्दग्धः । निश्चये-  
 नोदादिर्दग्धोऽपि विद्यातादृशे जगत्तामसाभिः तान्तरान्तर्गतैर्गतिभिः तद्-  
 लः । निश्चयेन परमात्मनः परमार्थनिश्चयत्वात् निर्दग्धः । निश्चय-  
 वेद्द्वयसंज्ञकस्यैव निश्चयैर्दग्धमप्यनुगमात्तदोपमानमायादोभाभिधानात्पन्था-  
 चनुर्दृशपरिग्रहाभावात्तन्निर्दग्धः । निश्चयेन निश्चयदुर्लभत्वात्तद्व्यभिर्दग्ध-  
 क्तमर्थमात्रपरमरीतरागमुत्सामुद्रमध्यनिर्ममंस्तुष्टिनमत्तजगत्स्थाम्मात्र-  
 ज्ञानगात्रपरित्यागिर्दोषः । मत्तजनिश्चयनयवदेन मत्तजगत्तन्त्र-  
 दर्शनसहजचारित्रसहजपरमरीतरागमुत्सायने च परमसमार्थात्तन्त्र-  
 परिच्छेदनसमर्थत्वात्तन्निर्दग्धः । अथवा सायनिधनामूर्त्तौ तन्निश्चयत्वात्-  
 शुद्धसद्भूतव्यवहारनयवलेन त्रिकालत्रिलोकवर्तिस्थावर्जंगमात्मकनिश्चि-  
 लद्रव्यगुणपदार्थैकसमयपरिच्छित्तिसमर्थमकलविमलकेवलज्ञानावस्थत्वात्  
 निर्दग्धं निश्चिलदुरितवीरवेरिवाहिनी दुःप्रवेशनिजशुद्धान्तमन्त्रवमहा-  
 दुर्गनिलयत्वात्तन्निर्दग्धः अयमात्मा ह्युपादेयः इति ।

तथा चोक्तममृतशीतौ--

“स्वरनिकरविसर्गाद्यर्जनाक्षैर्यद्रहितमहितहानं शाश्वतं मुक्तसंख्यं ।  
 अरसतिमिररूपस्पर्शगंधाम्बुवायुक्षितिपवनसरराणुस्युलदिक्चक्रवालम् ॥”



समेकत्वसप्तती-

“ आत्मा भिन्नस्तदनुगतवत् कर्मभिन्नं तयोर्था  
प्रत्यामतेर्भवति विकृतिः सापि भिन्ना तथैव ।  
कालक्षेत्रप्रमुखमपि यत् तच्च भिन्नं मतं ये  
भिन्नं भिन्नं निजगुणकलालंकृतं सर्वमेतत् ॥ ”

तथाहि—

असति च सति बन्धे शुद्धजीवस्य रूपाद्  
रहितमसिलमूर्तद्रव्यजालं विचित्रम् ।  
इति जिनपतिवाक्यं वक्ति शुद्धं बुधानां  
भुवनविदितमेतद् भव्य जानीहि नित्यम् ॥

शुद्धद्रव्यार्थिकनयाभिप्रायेण संसारिजीवानां मुक्तजीवानां विशेष्ये-  
भावोपन्यासोयम्:--

जारिसिया सिद्धप्पा भवमल्लिय जीव तारिसा हांति ।  
जरमरणजन्ममुक्ता अट्टगुणालंकिया जेण ॥ ४७ ॥

यादृशाः सिद्धात्मानो भवमालीना जीवास्तादृशा भवन्ति ।

जरामरणजन्ममुक्ता अष्टगुणालंकृता येन ॥ ४७ ॥

ये केचिद् अत्यासन्नभव्यजीवाः ते पूर्वं संसागवस्थायां संसारकृंशाया-  
साचिताः संतः सहजवैराग्यपरायणाः द्रव्यभावलिङ्गधराः परमगुरुप्रसादित-  
परमागमाभ्यासेन सिद्धक्षेत्रं परिप्राप्य निर्व्याबाधकसकलत्रिमलकेवलज्ञान-  
केवलदर्शनकेवलसुसकेवलशक्तियुक्ताः सिद्धात्मानः कार्यसमयसाररूपाः  
कार्यशुद्धास्ते यादृशास्तादृशा एव भविनः शुद्धनिश्चयेन येन कारणेन तादृ-  
शेन जरामरणजन्ममुक्ताः सम्यक्त्वायष्टगुणपुष्टितुष्टाश्चेति ।

१ विशेषाभावः प्रतीयतेऽत्र ।

प्रणोष शुद्धता येषाम् भुषियां भुषियामपि ।

नयेन वेनाचित्तेषां मिदं कामपि वेद्यहम् ॥

अथ च शार्दङ्गाण्यस्यसारयोर्विशेषाभाशोपन्यासः—

असरीरा अविणासा अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा ।

जह लोयग्गे सिद्धा तह जीया संसिदी जेया ॥ ४८ ॥

असरीरा अविनाशा अनीन्द्रिया निर्मला विशुद्धात्मानः ।

यथा लोकाय सिद्धाम्नाया जीयाः संमृती ज्ञेया ॥ ४८ ॥

निश्चयेन पंचशरीरप्रपंचाभावादसरीराः । निश्चयेन नरनारकादिपर्याय-  
परित्यागर्वाकाराभावादविनाशा । सुगपत्परमतत्त्वास्थितसहजदर्शनादि-  
काण्यशुद्धस्वरूपपरीक्षितिसमर्थमहजज्ञानज्योतिरपहस्तितसमस्तसंशयस्व-  
रूपत्वादनीन्द्रिया । मलजनकक्षायोपशमिकादिविभावस्वभावा-

नामभावान्निर्मलाः । द्रव्यभाक्कर्मभावाद् विशुद्धात्मानः यथैव लोकाय  
मगवन्तः सिद्धपरमेष्ठिनस्तिष्ठन्ति तथैव समुतावपि अमी केचिन्नयवलेन  
संसारिजीवाः शुद्धा इति ।

शुद्धाशुद्धविद्वन्पना भवति सा मिथ्याहृशि प्रत्यहम्

शुद्धं कारणकार्यतत्त्वयुगलं सम्याहृशि प्रत्यहम् ।

इत्थं च. परमागमार्थमतुलं जानाति सदृक् स्वयम्

सारासागविचारचारुधिपणौ वन्दामहे तं वयम् ॥

निश्चयव्यवहारानययोर्लपादेयन्वप्रघोतनमेतत्—

एदे सध्वे भावा व्यवहारणयं पडुच्च भणिदा हु

सध्वे सिद्धसहावा सुद्धणया संसिदी जीया ॥ ४९ ॥

एते सर्वे भावा व्यवहारणयं प्रतीत्य भणिता खलु ।

सर्वे सिद्धस्वभावाः शुद्धनयान् संमृती जीवाः ॥ ४९ ॥

१ प्रथमान्ते “ विद्वन्ते,, इतिहते सदृशो विशेषणं भवेत् ।

ये पूर्व न विद्यन्ते इति प्रतिपादितास्ते सर्वे विभावयन्त्याः सन्तु  
 ध्यरक्षणयादेशेन विद्यन्ते । संसृता अपि ये विभावयोः धनुर्भिः पङ्क्ति  
 मन्ताम्लिष्ठन्ति, अपि च । ते सर्वे भगवतां सिद्धान्तान् शुद्धगुणार्थवि-  
 सहजाः शुद्धनयादेशादिति ।

तथाशोभ्य श्रीमद्भूतयन्द्रमुरिभिः-

“ ध्यरक्षणाय स्यात् यद्यपि प्राक्पद्व्या-

भिर् निक्षिप्यन्तः इत एतान्तरम्बः ।

तदपि परममर्थं निघमकास्मादे

परिगणितमन्तः पश्यतां नैव किंचित् ॥”

तथा हि --

शुद्धनिर्देशनार्थेन विमुक्तौ, संसृता अपि च नास्ति विशेषः ।

प्रागप्य शब्द मन्ताम्लिष्ठान्, शुद्धतन्त्रगमिकाः प्रवदन्ति ॥

तयोपाद्य-यामांशादान-वसणकथनमिदम् -

पुच्छुत्तमगदभाया परद्वयं परसाहायमिदि हेयं ।

गगद्वयमुयादयं अंतरतयं हयं अप्या ॥ ५० ॥

पुच्छुत्तमगदभाया परद्वयं परमभाया इति हेयः ।

गगद्वयमुयादयं अन्तरतयं अंतरतया ॥ ५० ॥

ये पूर्व न विद्यन्ते इति प्रतिपादितास्ते सर्वे ध्यरक्षणयादेशादुपादेय इत्येवम्.  
 पुच्छुत्तमगदभाया परद्वयं परसाहायमिदि हेयं । पुच्छुत्तमगदभाया परद्वयं परसाहायमिदि हेयं ।  
 गगद्वयमुयादयं अंतरतयं हयं अप्या ॥ ५० ॥

“ सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यताम्  
 शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमज्योतिरसद्देवास्म्यहम् ।  
 एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावाः पृथग्लक्षणाः  
 तेषां नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समघा अपि ॥ ”

तथा हि—

नयस्माकं शुद्धजीवास्तिकायादन्ये सर्वे पुद्गलद्रव्यभावाः ।  
 इत्थं व्यक्तं वस्ति यस्तन्ववेदी, सिद्धं सोऽयं याति तामत्यपूर्वं ॥

रुद्रयाम्बुपाख्यानमेतत्—

विवरीयाभिनिवेश-विवर्जियसद्ग्रहणमेव सम्मत्तं । ६  
 संशयविमोहविभ्रमविवर्जियं होदि सण्णाणं ॥ ५१ ॥  
 चलमलिणमगाढतविवर्जियसद्ग्रहणमेव सम्मत्तं ।  
 अधिगमभावे णाणं हेयोपादेयतच्चारणं ॥ ५२ ॥ १  
 सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा ।  
 अंतरहेयो मणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी ॥ ५३ ॥ १  
 सम्मत्तं सण्णाणं विज्जदि मोक्खस्स होदि सुण चरणं ।  
 ववहारिणिच्छएणहु तद्दा चरणं पवक्खामि ॥ ५४ ॥ १  
 ववहारणयचरित्ते ववहारणयस्स होदि तवचरणं ।  
 णिच्छयणयचारित्ते तवचरणं होदि णिच्छयदो ५४ पंचयं १ १

विवरीयाभिनिवेशविवर्जितश्रद्धानमेव सम्यक्त्वम् ।

संशयविमोहविभ्रमविवर्जितं भवति संज्ञानम् ॥ ५१ ॥

चलमलिनम गाढतविवर्जितश्रद्धानमेव सम्यक्त्वम् ।

अधिगमभावो ज्ञान हेयोपादेयत्वानाम् ॥ ५२ ॥

सम्यक्त्वस्य निमित्तं जिनमूर्त्रं तस्य ज्ञायकाः पुरुषाः ।

अन्तर्हेतवे मणिताः दर्शनमोहस्य क्षयप्रभृतेः ॥ १३ ॥

सम्यक्त्वं संज्ञानं विद्यते मोक्षस्य भवति शृणु चरणम् ।

व्यवहारनिश्चयेन तु तस्माच्चरणं प्रवक्ष्यामि ॥ १४ ॥

व्यवहारनयचारित्र्ये व्यवहारनयस्य भवति तपश्चरणं ।

निश्चयनयचारित्र्ये तपश्चरणं भवति निश्चयतः ॥ १५ ॥ पंचकं ।

भेदोपचाररत्नत्रयमपि तावद् विपरीताभिनिवेशविवर्जितश्रद्धानरूपं भग-  
वतां सिद्धिपरंपराहेतुभूतानां पंचपरमेशिनां चलमालिनागाडविवर्जितसमुप-  
जनितनिश्चलभक्तियुक्तत्वमेव । विपरिते हिरण्यगर्भादिप्रणीते पदार्थसार्थे  
ह्यभिनिवेशाभाव इत्यर्थः । संज्ञानमपि च संशयविमोहविभ्रमविवर्जितमेवातव  
संशयः तावत् जिनो वा शिवो वा देव इति । विमोहः शाक्यादिप्रोक्ते वस्तुनि  
निश्चयस्वरूपं । चलमालिनादिविवर्जितश्रद्धानमेव अमेदोपचाररत्नत्रय-  
परिणतिः तत्र जिनप्रणीतहेयोपादेयतत्त्वपरिच्छित्तिरेव सम्यग्ज्ञानम्' अय्य  
परिणामस्य बाह्यसहकारिकारणं वीतरागसर्वज्ञमुक्तमलादिनिर्गतसम-  
स्तवस्तुप्रतिपादनसमर्थद्रव्यश्रुतमेव तत्त्वज्ञानमिति । ये मुमुक्षवः  
तेषुपचारतः पदार्थनिर्णयहेतुत्वात् अंतरंगहेतव इत्युक्ताः । दर्शनमोहनी-  
यकर्मक्षयप्रभृतेः सकाशादिति अभेदानुपचाररत्नत्रयपरिणतज्जीवस्य  
टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावनिजपरमतत्त्वश्रद्धानेन, तत्परिच्छित्तिमा-  
त्रं तर्मुत्तपरमबोधेन, तद्रूपाविचलस्थितिरूपसहजचारित्र्येण, अभूतपूर्वः निश्च-  
यपर्यायो भवति । य. परमजिनयोगीश्वरः प्रथमं पापक्रियानिवृत्तिरूपस्य-  
चहाग्नयचारित्र्ये तिष्ठति, तस्य सलु व्यवहारनयगोचरतपश्चरणं भवति ।  
सहजनिश्चयनयात्मरूपपरमस्वभावात्मपरमात्मानि प्रतपनं तपः, स्वस्वरूपा-  
विचयस्थितिरूपं सहजनिश्चयचारित्र्यम् अनेन तपसा भवतीति । तथा-  
चोक्तमेकत्वसततो-

“ दर्शनं निश्चयः पुंसि बोधस्तद्बोध इष्यते ।  
स्थितिरत्रैव चारित्रमिति योगः शिवाश्रयः ॥ ”

तथा च—

जयति सहजबोधस्तादृशी दृष्टिरेषा  
चरणमपि विशुद्धं तद्विधं चैव नित्यम् ।  
अथ कुलमलपङ्कानीकनिर्मुक्तमूर्तिः  
सहजपरमतन्त्रे संस्थिता चेतना च ॥

इति सुकविजनपथोजमिधपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिमहश्रीपद्म-  
प्रभमलधारिदेवविरचितायां नियमसाग्व्याख्याया तात्पर्यवृत्तौ  
शुद्धभाषाधिकारस्तृतीयः श्रुतस्कन्धः ॥ ३ ॥

अधेदानीं व्यवहारचारित्र्याधिकार उच्यते ।

अहिंसाव्रतस्वरूपाख्यानमेतत्—

कुलजोणिर्जीवमग्गण-टाणाद्गुरु जाणऊण जीवाणं ।  
तस्सारंमणियत्तण-परिणामो होइ पढमवदं ॥ ५६ ॥  
कुलयोनिर्जीवमार्गणास्थानादिषु ज्ञात्वा जीवानाम् ।  
तस्यारम्भनिवृत्तिपरिणामो भवति प्रथमघनम् ॥ ५६ ॥

कुलविकल्पो योनिविकल्पश्च जीवमार्गणास्थानविकल्पश्च प्रागेव प्रति-  
पादिताः । तत्रैव तेषां भेदान् बुद्ध्या तद्द्रष्टापरणतिरेव भवत्यहिंसा । तेषां  
सृतिर्भवतु वा न वा, प्रथमपरिणाममन्तरेण सावधपरिहारो न भवति ।  
अतएव प्रथमपरैरहिंसाव्रतं भवतीति ॥ तथाचोक्तं श्रीसमन्तभद्रस्वामिभि-

“ अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं  
न सा तत्रारम्भोऽत्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ ।  
तनस्तस्तिद्धर्षं परमकरणो ग्रन्थमुभयं  
भगवैशतपार्श्व हि विवृतिवैशेषधिगतः ॥ ”



संशयानां निवृत्तिसाधनेऽप्युक्तं तत्रैव निवृत्तिसाधनं चोक्तं ।  
 विदग्धां चोक्तं, वाच्यं चोक्तं चोक्तं चोक्तं चोक्तं चोक्तं ।  
 संशयानां निवृत्तिसाधनेऽप्युक्तं तत्रैव निवृत्तिसाधनं चोक्तं ।

तत्रैव निवृत्तिसाधनेऽप्युक्तं तत्रैव निवृत्तिसाधनं चोक्तं ।  
 तत्रैव निवृत्तिसाधनेऽप्युक्तं तत्रैव निवृत्तिसाधनं चोक्तं ।

तत्रैव

तत्रैव निवृत्तिसाधनेऽप्युक्तं तत्रैव निवृत्तिसाधनं चोक्तं ।  
 तत्रैव निवृत्तिसाधनेऽप्युक्तं तत्रैव निवृत्तिसाधनं चोक्तं ।  
 तत्रैव निवृत्तिसाधनेऽप्युक्तं तत्रैव निवृत्तिसाधनं चोक्तं ।  
 तत्रैव निवृत्तिसाधनेऽप्युक्तं तत्रैव निवृत्तिसाधनं चोक्तं ।

अत्रैव निवृत्तिसाधनेऽप्युक्तं तत्रैव निवृत्तिसाधनं चोक्तं ।

पातुगमगणेण दिवा अयलोगतो नृगण्यमाणं हि ।  
 गच्छद्द पुरदो ममणो इरिया ममिदी ह्ये तम्स ॥ ६१ ॥

पातुगमगणेण दिवा अयलोगतो नृगण्यमाणं मत्तु ।  
 गच्छति पुरतः श्रमणः इत्यो समितिर्भवेत्तस्य ॥ ६१ ॥

यः परममार्गं गच्छेत्तदादिप्रशस्त्यस्यो जनमृदिदो ह्युत्तमं  
 मार्गं अयलोगतो नृगण्यमाणं मत्तु ।  
 परमश्रमणस्यैवैव्यसमितिर्भवति । अयलोगतो नृगण्यमाणं मत्तु ।  
 निश्चयसमितिस्वरूपमुच्यते-

अभेदानुपचारव्यवहाराणां परमधर्मोऽस्वामिनि सम्यग् इति परमनिः  
 समितिः । अथवा निजपरमत्त्वानिरतमहजपरमवैवादिपरमधर्मोऽस्वामिनिः  
 समितिः । इति निश्चयव्यवहारसमितिर्भवेद् बुद्ध्या तत्र परमनिश्चयसमितिः  
 सुगुणानुभव इति ।

इत्थं बुद्ध्वा परमसमितिं मुक्तिकान्तासखीं यो  
 भुक्त्वा संगं भवमयकरं हेमरामात्मकं च ।  
 स्थित्वा पूर्वं सहजं विलसच्चिद्धमत्कारमात्रे  
 भेदाभावे समयति च यः सर्वदा युक्त एव ॥  
 जयति समितिरेषा शीलमूलं मुनीनाम्  
 असहतिपरिदूरा स्थावराणां हतेर्ष्यां ।  
 भवद्वयपरितापकेशजीमूतमाला  
 सकलसमितिमुख्यानेकसन्तोषदायी ॥  
 नियतमिह जनानां जन्म जन्माणविश्विन्  
 समिनिविष्टनिष्ठानां कामरोगतुराणाम् ।  
 मुनिषु कुरु ततस्त्वं स्वप्ननोगेहमध्ये  
 ह्यपवरकममुस्याश्चाकरोषित्सुमुनेः ॥  
 शममयरूपां समितिं सूते यदि मुक्तिभाग्भवेन्मोक्षः ।  
 स हि न च लभतेऽप्यायात् संसारमहार्णवे भ्रमति ॥  
 अत्र भाषासमितिस्वरूपमुक्तम्—

८ पैसुण्णहासककसपरणिंदप्पप्पसंसियं घयणं ।  
 परिचित्ता सपरहिदं भासासमिदी घदंतस्स ॥ ६२ ॥  
 पैसून्यहास्यकर्कशापरनिन्दात्मप्रशंसितं वचनम् ॥  
 परित्यजत्वा स्वपरहितं भाषासमितिर्वदतः ॥ ६२ ॥

कर्णेजपमुखाविनिर्गतं नृपतिकर्णाभ्यर्णमितिं वैकपुरुषस्य एककुटुंबस्य  
 एक ग्रामस्य वा महत्प्रियत्कारणं वचः पैसून्यम् । क्वचित् कदाचित् क्वचित्  
 परजनविकाररूपमवलोक्य त्वाकर्ण्य च हास्याभिधाननोक्त्वायसमुपजनितम्  
 ईषत्कुभमिश्रितमप्यनुभक्त्यकारणं पुरुषमुखाविकारजनितं हास्यकर्म ।  
 कर्णाश्वकुट्टिविशराभ्यर्णमोक्षरमात्रेण परंपार्यतीतिजननम् हि कर्कशात् ॥

परेषां भूताभूतद्रुषणपुरस्सरवास्यं परनिन्द्रा । स्वम्य भूताभूतगुणानुनिगम  
प्रशंसा । एतत्सर्वमप्रशस्तवचः परित्यज्य स्वम्य च परस्य चाशुभं शुद्धपरिज  
तिकारणं वचो भाषाममिति रिति १

तथाचोकं श्रीगुणमद्रस्वामिभिः--

“ समधिगतमममन्ताः सर्वमावयद्दूराः  
स्वहितनिहितचित्ताः शांतसर्वप्रचागाः ।  
स्वपरसफलजल्पाः सर्वसंकल्पमुक्ताः  
कथमिव न विमुक्तेर्भाजनं ते विमुक्ताः ”

तथा च—

परब्रह्मप्यनुष्ठानंनिरतानां मनीषिणाम् ।  
अन्तरैरप्यरं जल्पैः बहिर्जल्पैश्च किं पुनः ॥

अत्रैषणासमितिस्वरूपमुक्तम्—

कदकारिदाणुमोदणरहिदं तह पासुगं पसत्थं च  
दिण्णं परेण भत्तं समभुत्ती एसणासमिदी ॥ ६३ ॥

कृतकारितानुमोदनरहितं तथा प्राशुकं प्रशस्तं च ।  
दत्तं परेण भक्तं संभुक्तिः एषणासमितिः ॥ ६३ ॥

तद्यथा—मनोवाकायानां प्रत्येकं कृतकारितानुमोदनैः कृत्वा नव विक-  
ल्पा भवन्ति, न तैः संयुक्तमन्नं नवकोटिविशुद्धमित्युक्तं । आतिप्रशम्नं  
मनोहरं हरितकायान्मकं सुहृमप्राणिसंचारागोचरं प्रामुक्कमित्यामिहितम् ।  
प्रतिग्रहोच्चस्थानपादक्षालनार्चनप्रणामयोगशुद्धिभिश्चाशुद्धिनामधेयैर्नवविधि-  
पुण्यैः प्रतिपत्तिं कृत्वा श्रद्धाशक्तिअलुब्धताभक्तिज्ञानदयाक्षमाभिधान-  
सप्तगुणसमाहितेन शुद्धेन योग्याचारेणोपासकेन दत्तं भक्तं भुञ्जन्

१ यद्वत्कारिदोपरहितं यद्गदिविशुद्धं ममनषवादके विशुद्धि च ॥ इति  
श्लोके लिखितं ।



अभ्यन्तरोपकरणनिजपरमतत्त्वप्रकाशदृशं निरुपाधिस्वरूपसहजज्ञानमन्-  
रेण किमप्युपादेयमस्ति । अपहृतसंयमधराणां परमागमार्थस्य पुनः पुन  
प्रत्यभिज्ञानकारणं पुम्नकं ज्ञानोपकरणमिति यावद् । शौचोपकरणं च  
कार्यविशुद्धिहेतुः कमण्डलुः । संयमोपकरणहेतुः पिच्छः । एतेषां ग्रहणवि-  
सर्गयोः समयसमुद्भवप्रयत्नपरिणामविशुद्धिरेव हि आदाननिक्षेपगा-  
समितिरिति निर्दिष्टयति ।

समितिषु समितीयं राजते सोत्तमानां  
परमजिनमुनीनां संहतो क्षांतिमैत्री ।  
त्वमपि कुरु मनःपंकेरुहे भव्य नित्यम्  
भवसि हि परमश्रीकामिनीकांतकांतः ॥

मुनीनां कायमलादित्यागस्थानशुद्धिकथनमिदम्:-

पासुगभूमिपदेशे गूढे रहिए परोपरोहेण ।  
उच्चारदित्यागो पइहा समिदी हवे तस्स ॥ ६५ ॥

प्रासुकभूमिप्रदेशे गूढे रहिते परोपरोधेन ।  
उच्चारदित्यागः प्रतिष्ठा ममितिर्भवेत्तस्य ॥ ६६ ॥

शुद्धनिश्चयतो जीवस्य देहाभावात्त चाग्रहणपरिणतिः, व्यवहारतो  
देहः विद्यते तस्यैव हि देहे सति आहारग्रहणं भवति आहारग्रहणान्म-  
लमूत्रादयः संभवन्त्येव अत एव संयमिनां मलमूत्रविसर्गस्थानं निर्जन्तुकं  
परेषामुपरोधेन विरहितं, तत्र स्थाने शरीरधर्मं कृत्वा पश्चात्तस्मात्स्थानादुत्तरेण  
कतिचित् पद्मानि गत्वा ह्युद्भूतः स्थित्वा चोत्सृज्य कार्यकर्माणि संसा-  
रकारणं परिश्रमं घटमानश्च संसृतेर्निमित्तं स्वात्मानमव्यग्रो मुन्वा ध्याय-  
ति यः परमसंयमी मुहुर्मुहुः कलेवरस्याप्यशुचित्वं वा परिभावयति, तस्य  
सलु प्रतिष्ठापनसमितिरिति नान्येषां स्वेरवृत्तीनां यतिनामधारिणां काचित्  
समितिरिति ।



इह वाग्गुप्तिस्वरूपमुक्तम्:—

तृतीयाचारमत्तकहादिवयणस्स पावहेउस्स ।  
परिहारो वचगुत्ती अलीयादिणियत्तिवयणं वा ॥ ६७ ॥

स्त्रीरानचौरमत्तकयादिवचनस्य पापहेतोः ।

परिहारो वाग्गुप्तिरलीकादिनिवृत्तिवचनं वा ॥ ६७ ॥

अतिवृद्धकालः कामुकजनैः स्त्रीणां संयोगविप्रलंभजनितविविधवचनरचना कर्तव्या श्रोतव्या सैव स्त्रीकथा । राज्ञां युद्धहेतूपन्यासो राजकथाप्रपंचः । चौराणां चौरप्रयोगकथनं चौरकथाविधानम् । अतिप्रवृद्धभोजनप्राप्त्या विचित्रमंडकावलीरांडदधिसंडाशीताशनपानप्रशंसा मत्तकथा । आसामपि कथानां परिहारो वाग्गुप्तिः । अलीकनिवृत्तिश्च वाग्गुप्तिः । अन्येषां अप्रशस्तवचनानि निवृत्तिरेव वा वाग्गुप्तिः ।

तथाचोक्तं पूज्यपादस्वामिभिः—

“ एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं त्यजेदन्तर्विशिष्यतः

एष योगः समासेन प्रदीपः परमात्मनः । ”

तथाहि—

त्यक्त्वा वाचं मयमयकर्षा मध्यर्जीवः समस्ताम्

ध्यात्वा शुद्धं सहजविलसच्चिच्चमत्कारमेकं ।

पद्मान्मुक्तिं सहजमहिमानंदसौख्याकर्षी ताम्

प्राप्नोत्युच्चैः प्रहृतत्वग्निष्वातसघातरूप ॥

अत्र कायगुप्तिस्वरूपमुक्तम्:—

कतिपयं कालं पादुणमारणआकुंचण तह पसारणादीया ।  
बंधणं पादुणमारणआकुंचण तह पसारणादीया ।  
कायकिरिणं पादुणमारणआकुंचण तह पसारणादीया ॥ ६८ ॥  
बन्धनत्रेदनात्तत्पसारणाकुंचनानि तथा प्रसारणादीनि ।  
कायक्रियानि तत्तत्पसारणाकुंचनानि तथा प्रसारणादीनि ॥ ६८ ॥





कायक्रियानिवृत्तिः कायोत्सर्गः शरीरके गुप्तिः ।

हिंसादिनिवृत्तिर्वा शरीरगुप्तिरिति निर्दिष्टा ॥, ७० ॥

सर्वेषां जनानां कायेषु बद्धव्यः क्रिया विग्रन्ते तासां निवृत्तिः कायो-  
त्सर्गः स एव गुप्तिर्भवति । पञ्चम्यावगणां व्रसाणां च हिंसानिवृत्तिः  
कायगुप्तिर्वा परमसंयमधरः परमजिनयोगीश्वरः यः स्वर्क्रीयं वपुः स्वम्य  
वपुषा विवेकेन तस्याप्यपरमूर्तिरिव निश्चयकायगुप्तिरिति । तथाचोक्तम्  
तत्त्वानुशासने ।

“ उत्सर्प्य कायकर्माणि भावे च भवकारणम् ।

स्वात्मावम्यानमव्यग्रं कायोत्सर्गः स उच्यते ॥”

तथाहि—

अपरिस्पन्दरूपस्य परिस्पन्द्रात्मिका तनुः ।

व्यवहाराद्भवेन्मेऽतस्त्यजामि विकृतिं तनोः ॥

भगवतोऽर्हत्परमेश्वरस्य स्वरूपाख्यानमेतत्—

घनघाटकम्मरहिया केवलाणाण्डपरमगुणसहिया ।

चोत्तिसअदिसअजुत्ता अरिहन्ता एरिसा हांति ॥ ७१ ॥

घनघातिकर्मरहिताः केवलज्ञानादिपरमगुणसहिताः ।

चतुस्त्रिंशदतिशययुक्ता अर्हन्त ईदृशा भवन्ति ॥ ७१ ॥

आत्मगुणघातकानि घातिकर्माणि, घनरूपाणि सान्द्राभूतात्मकानि ज्ञान-  
दर्शनावरणान्तरायमोहनीयानि तैर्विरहितास्तथोक्ताः । प्रागुक्तघातिचतुष्क-  
प्रध्वंसनासादितत्रैलोक्यप्रक्षोभहेतुभूतसकलविमलकेवलज्ञानकेवलदर्शनकेव-  
लशक्तिकेवलमुखसहिताश्च । निःस्वेदनिर्मलादिचतुस्त्रिंशदतिशयगुणनिलयाः ।  
ईदृशा भवन्ति भगवन्तोऽर्हन्त इति ।

१ कयाचिद् क्रिया भवितव्यम् ।

जयति विदितगात्रः स्मेरनीरेजनेत्रः  
सुतृप्तनिलयगोत्रः पंडिताम्भोजमित्रः ।  
मुनिजनवनचेत्रः कर्मवाहिन्यमित्रः  
सकलहितचरित्रिः श्रीसुसीमासुपुत्रः ॥  
स्मरकाम्बिराजः पुण्यकंजादिराजः  
सकलगुणसमाजः सर्वकलावनीजः ।  
स जयति जितराजः प्रास्तादुःकर्मबीज  
पद्भुतमुरराजस्त्यक्तसंसारभूजः ॥  
जितरातिपतिचापः सर्वविद्याप्रदीपः  
परिणतिसुरसरूपः पापकीनाशरूपः ।  
हतभवपरितापः श्रीपद्मानम्रभूषः  
स जयति जितकोपः प्रह्वविद्वत्कलापः ॥  
जयति विदितमोक्षः पद्मपद्मायताक्षः  
प्रभित्तदुरितक्षयः प्रास्तकंदूर्ध्वपक्षः ।  
पद्मगुणतयक्षः तत्त्वविज्ञानदक्षः  
कृतबुधजनशिक्षः प्रोक्तनिर्वाणदीक्षः ॥  
मदननगामुदेशः कान्तकायप्रदेशः  
पद्मिनतयमीशः प्रास्तकीनाशपक्षः ।  
दुरपवनहृताशः कीर्तिसंपूरिताशः  
जयति जगदधीशः चारुपद्मप्रदेशः ॥

भगवता सिद्धिपरंपराहेतुभूतानां स्वरूपमत्रोक्तम्:—

षडष्टकम्मबंधा अष्टमहागुणसमण्डिता परमा ।

लोकगगतिदा शिवा सिद्धा जे एरिसा होंति ॥ ७१ ॥

नष्टाष्टकर्मबंधा अष्टमहागुणममन्विताः परमाः

लोकगगतिदा शिवाः सिद्धास्ते ईदृशा भवन्ति ॥ ७१ ॥



“ पंचाचारपगजकिंचनपतीश्टकपायाभमान्  
 चंचलज्ञानबलप्रचिनमहो पंचाम्तिकायस्थितान् ।  
 ग्नागर्चचलयोगचंचुराधियः सूरीनुदचहृणान्  
 अंचामो भवदुःससंचयमिदे मन्तिकियाचंचवः ॥

तथाहि—

सकलकरणयामालंघादिमुनमनावुलं  
 स्वहितनिरतं शुद्धं निर्वाणकागणकागणं ।  
 शमदममावासं मैत्रीदयादममंदिरम्  
 निस्पममिदं वंद्यं श्रीचन्द्रकीर्तिमुनेर्मनः ॥

अध्यापकाभिधानपरमगुरुस्वरूपारयानमेतद्—

रपणसयसंजुक्ता जिणकहियपयत्थदेसया सूरा ।  
 णिकंरमावसहिा उवज्झाया एरिसा हंति ॥ ७४ ॥

रत्नत्रयसंयुक्ता. जिनकथिनपदार्थदेशका सूरा ।

निःकांशभावसहिताः उपाध्याया ईदृशा भवति ॥ ७४ ॥

अविचलताऽप्रदादैनपरमसिद्धपुत्रदानपरिशानानुष्ठानशुद्धनिश्चयस्वभा-  
 वरत्नत्रयजिनेन्द्रवदनारविंदविनिर्गतजीवादिसमस्तपदार्थसार्थोपदेशशुभ्र,  
 निःसिलपरिमहपरित्यागलक्षणा निरंजननिजपरमात्मतत्त्वभावनोत्पन्नपुत्र-  
 वीतरागमुखाभृतपानेनोन्मुखास्त एव निष्कांशभावनासनाधाः एवभन-  
 लक्षणलक्षितास्ते जनानामुपाध्याया इति ।

रत्नत्रयमयान् शुद्धान् मन्वीमोत्रद्विवावरान् ।

उपदेष्टुपाध्यायान् नित्यं वंदे पुनः पुनः ॥

निगन्तगासंहितपरमतपश्चरणनिरतसर्वसाधुस्वरुपाध्यायानमेतद्—

षाषारविष्पमुक्ता चलव्विहाराहणासयारत्ता ।

णिग्गंथा णिम्मोहा साहू एदेरिसा हंति ॥ ७५ ॥

व्यापारविप्रमुक्ताः चतुर्विधाराधनामदारक्ताः ।

निर्ग्रन्था निर्मोहाः साधवः एतादृशा भवन्ति ॥ ७५ ॥

ये महान्तः परमसंयमिनः त्रिकाञ्जनिरावरणनिरंजनपरमपंचमभाव-  
भावनापरिणताः, अत एव समस्तवाच्यव्यापारविप्रमुक्ताः, ज्ञानदर्शन-  
चारित्रपरमतपश्चरणामिधानचतुर्विधाराधनासंपदानुरक्ताः । बाह्याभ्यन्तर-  
समस्तपरिर्ग्रहविनिर्मुक्तत्वाभिर्ग्रन्थाः । सदा निरंजननिष्कारणसमयसाग-  
स्वरूपसम्यक्भ्रद्धानपरिज्ञानाचरणप्रतिपक्षमिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रामावात्रि-  
मोहाः । इत्थंभूतपरमनिर्वाणसीमंतिर्नाचाठसीमंतसीमाशोभानाममृणरजः  
पुंजपिंजरितवर्णालंकारावलंबनकौतूहलत्रुद्धियोपि ते सर्वेपि साधवः इति ।

भावनां भवसुखविमुक्तं त्यक्तं सर्वाभिपंगसम्बन्धात् ।

मंशु विमंश्व निजात्मनि वंद्यं नमनमनः साधोः ॥

व्यवहारचारित्राधिकारव्याख्यानोपसंहारनिश्चयचारित्रिसूचनोपन्यासोयद-

एरिसयभावणाए व्यवहारणयस्स होदि चारित्तं ।

णिच्छयणयस्स चरणं एत्तो उट्ठं पवक्खामि ॥ ७६ ॥

इदंभावनायां व्यवहारणयस्य भवति चारित्र्यम् ।

निश्चयणयस्य चरणं एतदूर्ध्वं प्रवक्ष्यामि ॥ ७६ ॥

इत्थंभूतायां प्रागुक्तपंचमहावनपंचसमितिनिश्चयव्यवहारीगतिपंचपर-  
मोष्ठिध्यानसंयुक्तायां अतिप्रशस्तशुभभावनायां व्यवहारणयाभिप्रायेण परम-  
चारित्रं भवति, वक्ष्यमाणपंचमाधिकारे परमपंचमभावनिरतपंचमग-  
तिहेतुभूतशुद्धनिश्चयान्मपंचमचारित्रं द्रष्टव्यं भवतीति । तथाचोक्तं  
मार्ग्यकाशे—

“ कुशीलगर्भम्यनिर्वाणसोदरं  
भवेद्दिना येन हुदाष्टिषोपनम् ।

तदेव देवासुरमानवस्तुतम्  
नमामि जैर्न चरणं पुनः पुन ॥

तथाहि—

शीलमपवर्गयोषिद्वनंगमुस्रस्यापि मूलमाचार्याः ।

माहुर्व्यवहारात्मकवृत्तमपि तस्य परो हेतुः ॥

इतिमुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपाग्निहर्धापद्म-  
प्रभमलधारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायाम् तात्पर्यवृत्तौ  
व्यवहारचारित्र्याधिकारः चतुर्थः श्रुतस्कन्धः ॥ ४ ॥

नमोऽस्तु ते संयमबोधमूर्तये  
स्मरेभकुंभस्थलभेदनाय वै ।  
विनेयपंकेरुहविकाशमानवे  
विराजते माधवसेनसुरये ॥

अथ सकलव्यावहारिकचारिवनत्कलप्रतिप्रतिपक्षशुद्धनिश्चयनयात्म-  
कपरमचारित्रप्रतिपादनपरायणपरमार्थप्रतिक्रमणाधिकारः कथ्यते । तथा ।  
पञ्चरत्नावतारः । अत्र शुद्धात्मनः सकलकर्तृत्वाभावं दर्शयतिः—

णाहं मग्गणठाणो णाहं गुणठाण जीवठाणो ण ।  
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेय कत्तीणं ॥ ७७ ॥  
णाहं णारयभायो तिरियत्थो मणुवदेवपज्जाओ ।  
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥ ७८ ॥  
णाहं षाटो बुद्धो ण चेव तरुणो ण कारणं तेसिं ।  
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेय कत्तीणं ॥ ७९ ॥  
णाहं रगो दोसो ण चेव मोहो ण कारणं तेसिं ।  
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥ ८० ॥

णाहं कोहो माणो ण चैव माया ण होमि लोहो हिं ।  
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥ ८१ ॥

पंचयं

नाहं मार्गणास्थानानि नाहं गुणस्थानानि जीवस्थानानि वा ।  
कर्ता न हि कारयिता अनुमंता नैव कर्तृणाम् ॥ ७७ ॥

नाहं नारकभावस्तिर्यङ्मानुपदेवपर्यायः ।

कर्ता न हि कारयिता अनुमंता नैव कर्तृणाम् ॥ ७८ ॥

नाहं बालो वृद्धो न चैव तरुणो न कारणं तेषाम् ।

कर्ता न हि कारयिता अनुमंता नैव कर्तृणाम् ॥ ७९ ॥

नाहं रागो द्वेषो न चैव मोहो न कारणं तेषाम् ।

कर्ता न हि कारयिता अनुमंता नैव कर्तृणाम् ॥ ८० ॥

नाहं क्रोधो मानो न चैव माया न भवामि लोभोऽहम् ।

कर्ता न हि कारयिता अनुमंता नैव कर्तृणाम् ॥ ८१ ॥

पंचकं

बद्धारभपरिमहाभावादहं तावन्नारकपर्यायो न भवामि संसारिणो जी-  
वस्य बद्धारभपरिमहत्वं व्यवहारतो भवति अत एव तस्य नारका-  
शुक्लहेतुभूतनिसिलमोहरागद्वेषा विद्यन्ते, न च मम शुद्धनिश्चय-  
वलेन शुद्धजीवास्तिकायस्य तिर्यक् पर्यायः शुद्धनिश्चयतो न सम-  
स्तीति । देवनामधेयाधारदेवपर्याययोग्यमुरसमुगंधस्वभावात्मक-  
पुद्गलद्रव्यसम्बन्धाभावात्त मे देवपर्यायेः' इति । चतुर्दशमेऽभिधानि  
मार्गणास्थानानि तथाविधमेऽविभिन्नानि जीवस्थानानि गुणस्थानानि वा

शुद्धनिश्चयनयतः परमभावस्वभावस्य न विद्यन्ते । मनुष्यतिर्यक्पर्व्याय-  
कायनिकायवयःकृतविकारसमुपजनितबालयोवनस्थविरबुद्धावस्थायनेकस्यू-  
लकृशविधिभेदाः शुद्धनिश्चयनयाभिप्रायेण न मे सन्ति । सत्ता-  
वबोधपरमचैतन्यसुसानुभूतिनिरतविशिष्टात्मतत्त्वमाहकशुद्धद्रव्याधिकनय-  
बलेन मे सकलमोहरागद्वेषा न विद्यन्ते । सहजनिश्चयनयतः सदा  
निरावरणात्मकस्य शुद्धावबोधरूपस्य सहजचिच्छक्तिमयस्य सहजदृक्स्फु-  
र्तिपरिपूर्णमूर्तेः स्वरूपाविचलस्थितिरूपसहजयथाख्यातचारित्रस्य न मे नि-  
मित्तसंमृतिहेतवेतवः श्लेषमानमायालोभाः स्युः । अथामीषां विविधविकल्पा-  
कुलानां विभावपर्य्यायाणां निश्चयतो नाहं कर्ता, न कारयिता वा भवामि,  
न चानुमता वा कर्तृणाम् पुद्गलकर्मणामिति । नाहं नारकपर्य्यायं कुर्वे,  
सहजचिद्द्विलासात्मकमात्मानमेव संचितये नाहं तिर्यक्पर्व्यायं कुर्वे, सहज-  
चिद्द्विलासात्मकमात्मानमेव संचितये । नाहं मनुष्यपर्यायं कुर्वे, सहजचिद्द्वि-  
लासात्मकमात्मानमेव संचितये । नाहं देवपर्यायं कुर्वे, सहजचिद्द्विला-  
सात्मकमात्मानमेव संचितये । नाहं मिथ्यादृष्ट्यादिगुणस्थानभेदं कुर्वे,  
सहजचिद्द्विलासात्मकमात्मानमेव संचितये । नाहमेकेन्द्रियादिजीवस्थान-  
भेदं कुर्वे सहजचिद्द्विलासात्मकमात्मानमेव संचितये । नाहं शरीरगत-  
षालावस्थानभेदं कुर्वे, सहजचिद्द्विलासात्मकमात्मानमेव संचितये ।  
नाहं रागादिभेदभावकर्मभेदं कुर्वे, सहजचिद्द्विलासात्मकमात्मानमेव  
संचितये । नाहं भावकर्मात्मकपापचतुष्टकं कुर्वे, सहजचिद्द्विलासात्म-  
कमात्मानमेव संचितये । इति पंचरत्नांचितोपन्यासप्रपंचनसकलविभा-  
षपर्य्यायसंन्यासविधानमुक्तं भवतीति ।

भज्यः समस्ताविषयाग्रहमुक्तचिन्तः

स्वद्रव्यपर्य्यायगुणात्मनि दत्तचित्तः ।

मुक्तवा विभावमरिष्टं निजभावभिन्नम्

प्राप्नोति मुनिमच्चिरादिति पंचरत्नात् ॥



अत्र भेदविज्ञानात् क्रमेण च निम्नयचारित्रं भवतीत्युक्तं—

एरिसभेदभ्यासे मज्झत्यो होदि तेण चारित्तं ।  
तं दिढकरणणिमित्तं पडिक्कमणादी पवक्खामि ॥८२॥

ईदृग्भेदाभ्यासे मध्यस्यो भवति तेन चारित्रं ।  
तद्दृढीकरणनिमित्तं प्रतिक्रमणादि प्रवक्ष्यामि ॥ ८२ ॥

पूर्वोक्तपंचरत्नाचितात्यपरिज्ञानेन पंचमगतिप्राप्तिहेतुभूते जीवक-  
र्म्मपुद्गलयोर्भेदाभ्यासे सति, तस्मिन्नेव च ये मुमुक्षवः  
सर्वदा संस्थितास्ते ह्यत एव मध्यम्याः तेन कारणेन तेषां परम-  
संयमिनां वा स्तत्रनं चारित्रं भवति । तस्य चारित्राविचलम्यतिहेतोः प्रति-  
क्रमणादिति निश्चितक्रिया निगद्यते । अतीतदोषपरिहारार्थं यत्प्रायश्चित्तं  
क्रियते तत्प्रतिक्रमणम् । आदिशब्देन प्रत्याख्यानादीनां संभवश्चोच्यते  
इति । तथाचोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन ।  
अस्यैव भावतो वद्धा वद्धा ये किल केचन ॥

तथाहि—

इति सति मुनिनाथस्योच्चकैर्भदभावे  
स्वयमयमुपयोगाद्भाजते मुक्तमोहः ।

शमजलनिधिपूरक्षाटिताहःकलंकः

स सलु समयसारस्यास्य भेदः क एषः ॥

दैनं दैनं मुमुक्षुजनसंस्तुयमानवाद्दम्यप्रतिक्रमणनामधेयसमस्तपापक्षय-  
हेतुभूतसूत्रसमुदयनिरासोयनः—

मोक्षार्थं यदप्यारण्यं रागादीभायधारणं किञ्च ।  
अप्याणं जो ह्यापदि तस्य दु होदिति पटिकमणं ॥८३॥

मुक्त्वा वचनरचनां रागादीभायधारणं कृत्वा ।

आत्मानं यो ध्यायति तस्य सु भवर्गीनि प्रतिव्रमणं ॥ ८३ ॥

सो हि परमाध्यायणकारणात्तदेवैतदमुखातिशुभाद्यस्य रागादि-  
द्विषिनीनाथ अप्रशान्तवचनपरिमृशोऽपि प्रतिव्रमणमुच्चविषमवचनरचनां  
मुक्त्वा संसारसामुल्लंघनां निमित्तमोदरागद्वेषभावानां निराकरणं कृत्वा  
संशान्तवचनं निराकरणपरमात्मानं ध्यायति, तस्य सद्गुण परमात्म-  
सद्गुणानुष्ठानाभिमुख्यत्वात्तद्विषयव्यापारविरहितनिधयप्रतिव्रमणं  
भवतीति ।

तथाप्यांनं ध्यायन्मुक्तसंशुक्तिभिः—

अत्रमत्रमत्रिमर्त्यैर्दुर्विकल्पैरान्ये—

एयमिह परमार्थविषयतां नित्यमेकः ।

एवमाविसरपुणंज्ञानविसृतिमाम—

अ सद्गुण समदमागदुनां द्विविदमि ॥

तथाहि—

अतिनीममाहसोभवपूर्वार्जितवत्प्रतिक्रम्य ।

आत्मनि सद्गोधात्मनि नित्यं वर्तेहमात्मना तस्मिन् ॥

अत्राध्यायनायां वर्तमानस्य जन्तोरेव प्रतिव्रमणस्वरूपमुक्तः—

आराहणाद्द पट्टद् मोक्षार्थं विराहणं विसेसेण ।

सो पट्टिकमणं उच्यद् पट्टिकमणमओ हये जम्हा ॥८४॥

आराधनाया वर्तते मुक्त्वा विराधन विरोधेण ।

तन् प्रतिव्रमणमुच्यते प्रतिव्रमणमयो भवेद्यस्मात्

यस्तु परमतन्त्रज्ञानी श्रीः। निरतगभिमुग्नया ऋष्यपगिगाम-  
संतत्या माशान् म्मागस्थितागन्मागधनार्था वर्तते अयं निरपगध-  
विगतान्माराधनः सापगधः अन एव निरपगधेण विगधनं मुग्धा,  
विगताराधो यस्य परिणामस्य स विगधनः यन्मात्रिभयप्रतिक्रमणमयः  
स जीवस्तत एव प्रतिक्रमणम्यरूपमुच्यते । तथा चोक्तं समयसारं—

“ संसिद्धिगधमिद्धीसागतिमाराधणं च पृष्टं ।

अपगयराधय जो राहु चेत्ता सो सलु होदि अविराहो ”

उक्तं हि समयसारव्याख्यायाम् च—

अनवरतमनन्तैर्विच्यते सापगधः

सृशति निरपराधो बंधनं नैव जातु ।

नियतमयमशुद्धं स्वं मजन् सापराधो

भवति निरपराधस्साधु शुद्धात्मसेवी ”

तथाहि—

अपगतपरमात्मध्यानसंभावनात्मा

नियतमिह भवासा ( ? ) सापराध स्मृतः सन् ।

अनवरतमसंज्ञाद्वैतचिद्धावयुक्तो

भवति निरपराधः कर्मसंन्यासदक्षः ॥

अत्र निश्चयचरणत्तमकस्य परमोपेक्षासंयमधरस्य निश्चयप्रतिक्रमण-  
स्वरूपं च भवतीत्युक्तम्—

मोक्षुण अणायारं आयारे जो दु कुणदि थिरमावं ।

सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥८५॥

मुक्त्वानाचारं आचारे यस्तु करोति स्थिरभावम् ।

स प्रतिक्रमणं उच्यते प्रतिक्रमणमयो भवेद्यस्मात् ॥ ८५ ॥

निर्वाणं दशमोद्देशस्यैकनिः । बुद्ध्यामागमनादनिर्वाणः सर्वोप्यनाथाः,  
 अथवा सर्वोप्यनाथाः शुक्रवाद्यानां सहजविद्विदागतज्ञाननिर्वाणे  
 निजप्रसादात्प्रभावनानाश्रये च साहजदेवापभावनानादग्निः स्थिर-  
 भावैर्बभूव, स एवमन्तर्धन एव प्रतिबन्धमजायकपद्मपुष्पने । एवमात्  
 परमसमार्थभावनानादग्निः साहजनिर्वाणप्रतिबन्धमन्तर्धनो भवतीति ।

अथ निजप्रसादात्तद्दर्शयुपसाङ्ग-  
 त्पुलितसाहजसंभोगमानमाप्तमानमात्मा ।

निजप्रसादमपदाभिर्निर्भगनेद्भवत्यथा  
 छपयतु बहुभिर्दि लोकेष्वानापमातेः ॥  
 मुषन्त्यानाथारमुद्येर्जननमूलकरं सर्वदोषप्रभावं  
 स्थित्वात्मन्यात्मनामा निष्पन्नसहजानेद्दृष्टगतिशक्तौ ।  
 बाह्यपारममुक्तं सामजलनिषिन्नाभिन्दुसंशोहपूतः  
 सोऽयं पुण्यः पुताणः क्षयितमलकर्तृर्भाति लोकोपसार्थी ॥  
 अह उन्मार्गपरित्यागः सर्वशर्वान्नागामार्गशीकाग्धेनः ।

उन्मगं परिचिता जिणमगो जो हु कुणदि धिरभायं ।  
 सो पटिकमणं उद्यदं पटिकमणमओ हवे जम्हा ॥८६॥

उन्मार्गं परित्यज्य जिनमार्गं यस्तु करोति स्थिरभाव ।  
 स प्रतिबन्धममुच्यते प्रतिबन्धमणमयो भवेद्यस्मान् ॥ ८६ ॥

यस्तु हांदाकांक्षाविचिद्विस्ताऽन्यदृष्टिप्रसंसारतत्त्वमलकलंकरणनिर्मुक्तः  
 ह्यनिधयमदहाष्टिः बुद्ध्यादिषर्णात्ममिथ्यादर्शनज्ञानचारित्र्यात्मकं मार्गा-  
 भासाम्नागं परित्यज्य स्थवराणेण महादेवाभिदेवपरमेश्वरसर्वज्ञवीत-  
 रागमार्गे पंचमहावतर्पचसमिति त्रिगुणसिंपंचेन्द्रियनिरोधपटावश्यकायहा-  
 र्दिशतिमूढगुणात्मके स्थिरपरिणामं करोति, ह्यनिधयनयेन सहजबो-  
 धादिह्युद्गमण्यन्तेकृते साहजपरमाचित्सामान्यविशेषभासिनि निः

तुभ्यो विद्ययात्तं सुवृत्तानि कृतानि, स एतन्निर्दिष्टं प्रमाणं त्वत्प्रमाणं  
 इत्युच्यते, यथाऽप्येवमस्ति त्वत्प्रमाणं त्वत्प्रमाणं त्वत्प्रमाणं त्वत्प्रमाणं  
 इत्युच्यते । त्वत्प्रमाणं त्वत्प्रमाणं त्वत्प्रमाणं त्वत्प्रमाणं

१ इत्येवं चकारं प्रमाणं त्वत्प्रमाणं त्वत्प्रमाणं  
 त्वत्प्रमाणं त्वत्प्रमाणं त्वत्प्रमाणं त्वत्प्रमाणं  
 त्वत्प्रमाणं त्वत्प्रमाणं त्वत्प्रमाणं त्वत्प्रमाणं  
 त्वत्प्रमाणं त्वत्प्रमाणं त्वत्प्रमाणं त्वत्प्रमाणं

तथापि

विद्ययात्तं सुवृत्तानि कृतानि  
 त्वत्प्रमाणं त्वत्प्रमाणं त्वत्प्रमाणं त्वत्प्रमाणं  
 त्वत्प्रमाणं त्वत्प्रमाणं त्वत्प्रमाणं त्वत्प्रमाणं  
 त्वत्प्रमाणं त्वत्प्रमाणं त्वत्प्रमाणं त्वत्प्रमाणं

इति विद्ययात्तं सुवृत्तानि कृतानि त्वत्प्रमाणं त्वत्प्रमाणं त्वत्प्रमाणं त्वत्प्रमाणं

मोक्षं महत्तमं विद्ययात्तं सुवृत्तानि कृतानि त्वत्प्रमाणं त्वत्प्रमाणं त्वत्प्रमाणं त्वत्प्रमाणं  
 त्वत्प्रमाणं त्वत्प्रमाणं त्वत्प्रमाणं त्वत्प्रमाणं ॥८७॥

मुक्त्वा शान्त्यर्थं निःशान्त्ये त्वत्प्रमाणं त्वत्प्रमाणं त्वत्प्रमाणं त्वत्प्रमाणं  
 त्वत्प्रमाणं त्वत्प्रमाणं त्वत्प्रमाणं त्वत्प्रमाणं ॥ १ ॥

निश्चयतो निःशान्त्यस्वरूपस्य परममनन्यत्वं यथाशान्त्यवच्छेदं कर्म-  
 पङ्क्त्यात् निश्चयमायाभिध्याशान्त्यर्थं विषय इत्युच्यते, अत एव  
 शान्त्यर्थं परित्यज्य परमनिःशान्त्यस्वरूपेऽतिशयिष्योपरमयोगी स निश्चय-  
 प्रतिक्रमणस्वरूप इत्युच्यते यस्मात् स्वरूपगतशान्त्यप्रतिक्रमणमन्येवेति ।

शान्त्यर्थं परित्यज्य निःशान्त्ये परमात्मनि ।  
 स्थित्वा विद्वान् सदा शुद्धमात्मानं भावयेन्नुत्तरं ॥

व्यापकं त्रिगुणस्य तनुं विनमुद्धेर्भवान्  
 भवभ्रमणकारणं स्मरशास्त्रिदुर्गं सुतः ।  
 स्वभावनिघ्नं तु गं विविक्तादनागादिन्य  
 भज स्वमतिर्न घने प्रचलमंगुनेर्भानिनः ॥

त्रिगुणस्य तनुं व्यापकं तनुं विनमुद्धेर्भवान्—

पणा ह्यगुक्तिमायं तिगुक्तिगुप्तो हवेह जो साह ।  
 सो पटिकमणं उच्चह पटिकमणमओ हवे जम्हा ॥८८॥

स्वकत्वा ह्यगुमिभावं त्रिगुमिगुप्तो भवेयः साधुः ।  
 स प्रतिव्रमणमुच्यते प्रतिव्रमणनयो भवेद्यम्मान् ॥ ८८ ॥

यः परमत्रयध्वजगतःगामीश्चरत्त्वरचं दृष्टदृष्टिस्मरत्याससभय्यो मुनीश्वरः  
 वाद्यस्यैव रूपम् अगुमिभावं स्वकत्वा त्रिगुमिगुप्तनिर्विकल्पपरमसमाधिद्वय-  
 दक्षिण्य अत्यपूर्वमात्मानं ध्यायति, यस्मात् प्रतिव्रमणमयः परमसंयमी  
 अत्र एव स य निधयप्रतिव्रमणारवरूपो भवतीति ।

अथ तनुमनोवाप्यो स्वकत्वा सदा विवृतिं मुनिः  
 सत्परमो मुनिं संज्ञानपूर्वमर्षमिमाम् ।  
 भजतु परमां भव्यः शुद्धात्मभावतया सत्  
 भवति विशदं शान्तं तस्य त्रिगुणमयस्य तत् ॥

ध्यानविषयस्वरूपस्य तनुमेतत्—

मौलूण अहरुहं ज्ञाणं जो ज्ञादि धम्मसुखं वा ।  
 सो पटिकमणं उच्चह जिणवरणिद्धिसुत्तेसु ॥ ८९ ॥

मुक्त्वानैरीदं ध्यानं यो ध्यायति धर्मशुद्धं वा  
 स प्रतिव्रमणम् उच्यते त्रिगुणनिर्विकल्पेषु ॥ ८९ ॥

स्वदेशत्यागात् द्रव्यनाशात् मित्रजनविदेशगमनात् कर्मनीयकामिनी-  
 वियोगात् अनिष्टसंयोगाद्वा समुपजातमार्तध्यानम् । चौरजाशात्रजन-  
 वधबंधननिबद्धमहदुद्वेपजनितगौद्रध्यानं च एतद्भद्रितयम् अरगमितस्वर्गा-  
 पवर्गमुसप्रतिपक्षं संसारदुःसमूलत्वं निरवशेषेण त्यक्त्वा स्वर्गापवर्गनि-  
 सीममुसमूलस्वात्मश्रितनिश्चयपरमधर्मध्यानम्, ध्यानध्येयविविधविकल्प-  
 विरहितान्तर्मुक्ताकारसकलकरणधामार्तनिर्मदपरमकलात्मनाथनिश्चयशुद्ध-  
 ध्यानं च, ध्यात्वा यः परमभावभावनापरिणतः मन्व्यवरपुंडरीकः  
 निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूपं भवति । परमजिनेन्द्रवदनारविन्दविनिर्गत-  
 द्रव्यश्रुतेषु विदितमिति, ध्यानेषु च चतुर्षु हेयमाद्यं ध्यानद्वितयं, त्रिनयं  
 तावदुपादेयं, सर्वदोषादेयं च चतुर्थमिति ।

तथा चोक्तं—

“ निष्क्रियं करणार्तितं ध्यानध्येयविवर्जितं ।  
 अन्तर्मुखं तु यद्ध्यानं तच्छुद्धं योगिनो विदुः ॥ ”  
 ध्यानावलीमपि च शुद्धनयो न वक्ति  
 व्यक्तं सदाशिवमये परमात्मतत्त्वे ।  
 सास्तीत्युवाच सततं व्यवहारमार्ग—  
 स्तत्त्वं जिनेन्द्र तद्गहो महदिन्द्रजालम् ॥  
 सद्दोषमंडनमिदं परमात्मतत्त्वं  
 मुक्तं विकल्पनिकरैरखिलैः समन्तात् ।  
 नास्त्येष सर्व्वनयजातगतप्रपंचा  
 ध्यानावली कथय सा कथमत्र जाता ॥  
 आसन्नासन्नमव्यर्जीवे पूर्व्वपरपरिणामस्वरूपोपन्यासोऽयम्—

मिच्छत्तपहुदिभावा पुर्व्वं जीवेण भाविया सुइरं ।  
 सम्मत्तपहुदिभावा अभाविया ह्यंति जीवेण ॥ ९० ॥

मिथ्यात्वप्रभृतिभावाः पूर्वं जीवेन भाविताः सुचिरं ।

सम्यक्त्वप्रभृतिभावाः अभाविता भवन्ति जीवेन ॥ ९० ॥

मिथ्यात्वावतकपाययोगपरिणामास्सामान्यप्रत्ययाः, तेषां विकल्पा-  
स्त्रयोदश भवन्ति 'मिच्छादिद्विगुणहाणादिसयोगिस्स चरमित्तं, इति  
वचनात् मिथ्याद्विगुणस्थानादिसयोगिगुणस्थानचरमसमयस्थित इत्यर्थः ।

अत्यासन्नभव्यजीवेन निरंजननिजपरमात्मतत्त्वप्रदानविकलेन पूर्वं  
सुचिरं भाविताः खलु सामान्यप्रत्ययाः, तेन स्वरूपविकलेन बहिरात्मजीवे-  
नानासादितपरमनैष्कर्म्यचरित्रेण सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि न भावितानि  
भवन्तीति अस्य मिथ्यादृष्टेर्विपरीतगुणत्रिचयसंपन्नोऽत्यासन्नभव्यजीवः ।  
अस्य सम्यग्ज्ञानभावनाकथमिति चेत्—

तथा चोक्तं श्रीगुणभद्रस्वामिभिः—

“ भावयामि भवावर्ते भावनाः प्रागभाविताः ।

भावयेद्भाविनानेति भवाभावाय भावनाः ” ॥

अथ भवजलराशौ मग्नजीवेन पूर्वं

किमपि वचनमात्रं निर्वृतेः कारणं यत् ।

तदपि भवभवेपु श्रूयते वाच्यते वा

न च न च वन कष्टं सर्वदा ज्ञानमेकम् ॥

अत्र सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां निरवशेषस्वाकारेण मिथ्यादर्शन-  
ज्ञानचारित्राणां निरवशेषत्यागेन च परममुमुक्षोर्निश्चयप्रतिकर्मणं च  
भवति इत्युक्तम्—

मिच्छादंसणणाणचरित्तं चहृऊण गिरवसेसेण ।

सम्मत्तणाणचरणं जो भावह सो पडिक्कमणं ॥ ९१ ॥

मिथ्यादर्शनज्ञानचरित्रं त्यक्त्वा निरवशेषेण ।

सम्यक्त्वज्ञानचरणं यो भावयति स प्रतिकर्मणं ॥ ९१ ॥





तस्मै नमः सकलसंयमभूषणाय  
श्रीवीरनन्दिमुनिनामधराय नित्यं ।

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहभीषण-  
प्रममहृषारिदेवविराचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ  
निश्चयप्रतिक्रमणाधिकारः पंचमः श्रुतरसबंधः ॥ ५ ॥

अपेक्षानीं सकलप्रव्रज्यासांभ्राज्यवैजयन्तीर्युलदंढर्मद्विनायमानसकल-  
कर्मनिर्जराहेतुभूतनिःश्रेयसश्रेणीभूतमुनिभामिर्नामप्रथमदर्शनोपायनीभूत नि-  
श्चयप्रत्याख्यानाधिकारः कथ्यते । तथा—

अत्र सूत्रावतारः ।

निश्चयनयप्रत्याख्यानमेततः—

मौञ्जुण सयलजप्प-मणागयसुहमसुहवारणं किञ्चा ।  
अप्पाणं जो ज्ञायदि पचक्खसाणं हवे तस्स ॥ ९५ ॥

मुक्त्वा सरुद्धमल्पमनागतशुभाशुभनिवारणं कृत्वा ।

आत्मानं यो ध्यायति प्रत्याख्यानं भवेत्तस्य ॥ ९९ ॥

अत्र व्यवहारनयोदेशात् मुनयो मुक्त्वा देनं देन पुनर्योग्यकाल-  
पर्यन्तं प्रत्यादिष्टाभयानरांघलेऽरुचयः, एतद् व्यवहारप्रत्याख्यान-  
स्वरूपं, निश्चयनयतः—प्रज्ञास्ताप्रज्ञस्तसमस्तवचनरचनाप्रपंचपरिहारेण  
शुद्धज्ञानभावनामेवाप्रसादाद्भिनवशुभाशुभद्रव्यभावकर्मणा संवतः प्रत्या-  
ख्यानम् । यः सदान्तर्मुक्ते परिणत्या परमकलाधारमपूर्वमात्मानं ध्यायति  
तस्य नित्यं प्रत्याख्यानं भवतीति ।

तथाचोक्तं समयसारे—

“ जाणं सच्छे भावे पचक्सादीपरोति णादूणे ।

तम्हा पचक्साणं जाणं णियमा मुणेद्व्या ॥ ”

तथा समयमारव्यास्यायां च

“ प्रत्यास्याय भविष्यत्कर्मसमस्तं निरस्तसंमोहः ।

आत्मनि चैतन्यात्मनि निःकर्माणि नित्यमात्मना वर्ते ॥ ”

तथाहि—

सम्यग्दृष्टिस्त्यजति सकलं कर्मनोर्कर्मजातं

प्रत्याख्याने भवति नियतं तस्य संज्ञानमूर्तेः ।

सञ्चारिण्यकुलक्षुण्णिण्यस्य तानि स्युरुच्चैः

ते वरेहे भावपरिभ्रष्टेशनाशाय नित्यम् ॥

अनन्तगुणुष्टयारमकनिजात्मध्यानोपदेशोपन्यासोपमः—

केवलपाणसहायो केवलदंसणसहाय सुहमदओ ।

केवलसत्तिसहायो सोहं इदि चिंतए णाणी ॥ १६ ॥

केवलज्ञानस्वभावः केवलदर्शनस्वभावः सुगमयः ।

केवलशक्तिस्वभावः सोहमिति चिंतयेत् ज्ञानी ॥ १६ ॥

समस्तवाक्यार्थवचनानादिनिर्मुक्तस्य नित्यशोणान्तामूर्त्तस्य प  
 लम्बशानिनो दीपस्य शिवा प्रोता । कथंकारे अनापत्तिनामूर्त्ता विवि  
 स्वभावदृष्टमहत्त्वव्यापारोण, शुद्धस्वर्णस्यार्थवर्णनामाभावात्पुत्रपु  
 त्रवत्तानां केवलज्ञानं इत्यद्वैतं इत्यद्वैतं इत्यद्वैतं इत्यद्वैतं इत्यद्वैतं इत्यद्वैतं  
 इति भावना कर्तव्या ज्ञानंती, निजयेन सहजज्ञानव्यवर्ण  
 कथंकारेण स्वभावोत्पत्तौ, सहजमतिरस्यव्यवर्णन, सहजव्यवर्णन  
 केन, इति भावना कर्तव्या चेति—

तथाचोक्तमेकत्वसप्तती—

“ केवलज्ञानदृक्सौख्यस्वभावं तत्परं महः ।  
तत्र ज्ञानेन किं ज्ञाते दृष्टे दृष्टं श्रुते श्रुतं ” ॥

तथाहि—

जयति स परमात्मा केवलज्ञानमूर्तिः  
सकलविमलदृष्टिः शाश्वतानंदरूपः ।  
सहजपरमचिच्छक्त्यात्मकः शाश्वतोयं  
निरिच्छमुनिजनानां चित्तपंकेजहंसः ।

अत्र परमभावनाभिमुख्यस्य ज्ञानिन शिक्षणमुक्तः—

णियमावं णाबि मुञ्चइ परमावं णेव गेण्हए केइ ।  
जाणदि पस्सादि सव्वं सोहं इदि चिंतए णाणी ॥ ९७ ॥  
निजभावं नापि मुंचनि परमावं नैव गृह्णाति किमपि ।  
जानाति पश्यति सर्वं सोहमिति चिंतयेद् ज्ञानी ॥ ९७ ॥

यस्तु कारणपरमात्मा सकलदुरितवीरवेरिसेनाविजयवैजयन्तीदुष्टार्क  
त्रिकाटनिरावरणनिरंजननिजपरमभावं क्वचिदपि नापि मुंचति, पंचविध-  
संसारप्रवृद्धिकारणं विभावपुद्गलद्रव्यमेयोगजातं रागादिपरभावं नैव  
गृह्णाति, निश्चयेन निजनिरावरणपरमबोधेन निरंजनसहजज्ञानसहज-  
दृष्टिसहजशीलादिस्वभावधर्माणामाधाराधेयविकल्पनिर्मुक्तमपि सदा मुक्तं  
सहजमुक्तिभामिनीसंयोगसंभवपरतानिलयं कारणपरमात्मानं जानाति, तथा-  
विधसहजावटोक्तेन पश्यति च, स च कारणसमयसारोहमिति भावना  
सदा कर्तव्या सम्यग्ज्ञानिभिरिति । तथा चोक्तं श्रीपूज्यपादस्वामिभिः—

“ यद्भाष्यं न गृह्णाति गृहीतं नापि मुंचति ।  
जानाति सर्वथा सर्वं तत्त्वसंवेद्यमस्यहम् ॥ ”



मेधावद्भिः सहजपरमानंदचिद्रूपमेवं  
 संसाद्यै तैर्निष्कममिद् मुक्तिगामान्यमूर्तं ।  
 ताम्नादुष्टैः स्वयमपि च सते मद्बचस्तारमस्मिन्  
 धुर्याः शीघ्रं बुद्ध तत्र मतिं विश्वमत्कारमात्रे ॥

अत्र सङ्कटाविभावसंन्यासविधिः प्रोक्तः ।

ममत्तिं परित्यज्यामि णिमममत्तिमुपहृदो ।  
 आलंबणं च मे आदा अवसेसं च षोसरे ॥ ९९ ॥

ममत्वं परित्यज्यामि निर्म्ममत्वेप्सुस्थितः ।

आलम्बनं च मे आत्मा आरोपं च विवृणामि ॥ ९९ ॥

कर्मनिरपेक्षामिनीकांचनप्रभृतिगमस्तपद्मव्यगुणरूप्यादेषु ममकारं संत्य-  
 ज्यामि । परमोपेक्षात्क्षणादक्षिणे निर्म्ममकारात्मनि आत्मनि स्थित्वा  
 ह्यात्मानमवलम्ब्य च संसृतिपुरांष्टिकासंभोगसंभवसुसदुःसायनेकविभाव-  
 परिणतिं परित्येमि । तथाशोकः भीमदमृतचन्द्रसूक्तिभिः—

“ निषिद्धे सर्वेस्मिन् सुहृत्तदुरिति कर्मणि किल  
 मृते नैष्यम्ये न सत् मुनयः सन्त्यशरणम् ।  
 तदा ज्ञाने ज्ञानं चरितमिदमेयां हि शरणम्  
 स्वयं विन्दन्त्येने परमममृतं तत्प्रनिरताः । ”

तथाहि—

अथ निपतमनोवाद्यायृत्त्वेन्द्रियोन्वो  
 भववनपिसामुन्धं मोहयादेऽमूर्हं ।  
 कनकमुवतिवीच्छामप्यहं सर्वशक्त्वा  
 प्रवहत्तगविशुद्धं ध्यानमप्या त्यजामि ॥

तथाहि—

आत्मानमात्मनि निजात्मगुणाद्ब्रह्मात्मा

जानाति पश्यति च पंचमभावमेकं ।

तत्याज नैव सहजं परमावमन्यं

शृङ्गाति नैव सलु पौद्गलिकं विकारं ॥

मत्स्वान्तं मयि लग्नमेतद्दानिशं चिन्मात्रचिंतामणा-

वन्यद्वयकृताग्रहोद्भवमिमं मुक्त्वाधुना विमहं ।

तच्चित्रं न विशुद्धिपूर्णसहजज्ञानात्मनो शम्भणे

देवानाममृताशनोद्भवर्षिचं ज्ञात्वा किमन्याशने ॥

निर्दिष्टं निरुपद्रवं निरुपमं नित्यं निजात्मोद्भवं

नान्यद् द्रव्यविभावनोद्भवमिदं शर्माभृतं निर्मलं ।

पीत्वा यः सुकृतात्मकः सुकृतमप्येतदिहायाधुना

प्राप्नोति स्फुटमद्वितीयमतुलं चिन्मात्रचिंतामणिम् ॥

को नाम वक्ति विद्वान् मम च परद्रव्यमेव स्यात् ।

निजमहिमानं जानन् गुरुचरणसमर्चना समुद्भूतम् ॥

अत्र बन्धनिर्मुक्तमात्मानं भाष्येदिनि भव्यस्य शिक्षणमुक्तम्—

पयटिठिदिअणुभागप्पदेसबंधेहिं यज्जिदो अप्पो ।

सोहं इदि चिंतिज्जो तत्थेय य कुणदि धिरमावै ॥९८॥

प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबोधोर्वाचित आत्मा ।

सोहमिनि चिंतयन् तत्रैतच्च करोति धिरभावम् ॥ ९८ ॥

शुभाशुभमनीवाकायकर्मभिः प्रकृतिप्रदेशबोधो स्यात्, अतुभिः कदापि स्थित्यनुभागबन्धो स्यात्, एभिश्चतुर्निर्बन्धोर्निष्मुक्तः सदानिकराधित्वात्सोह्यात्मा संश्रमिनि सम्यग्ज्ञानिना निश्चरं भावना कर्तव्येति ।





अत्र सर्वब्रह्मनोपदेश्य इत्युक्तः ।

आदा सु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य ।

आदा पचक्खणाणे आदा मे संवरे जोगे ॥ १०० ॥

आत्मा मनु मम ज्ञाने आत्मा मे दर्शने चरित्ते य ।

आत्मा प्रत्याख्याने आत्मा मे संवरे योगे ॥ १०० ॥

अनादिनिधनामूर्तातीन्द्रियस्यभावाशुद्धमहजसौख्यारमा ह्यात्मा, स एतु सप्तमशुद्धज्ञानेभवनतापीरिणतस्य मम साम्यज्ञाने य, स य प्राधि-  
परमेशमगातिप्राप्तितुभूषणमभावनतापीरिणतस्य मम सत्त्वसाम्यदर्शन-  
रिणये य, गान्धाभिर्माणशारदयुपायमस्वरूपाविचल्लिखितिरूपमहज-  
वाम्बाराविश्रिणतेर्मम मरुजचारित्तेपि स परमात्मा सदा संगित्तिरथ,  
य चात्मा महाममस्यः शुभाशुभगुणव्यापामुत्तुःराना वरुणा सत्त्वदमे-  
म्यागत्वकनिश्चयकपाख्याने य मम भेद्विज्ञानिनः पारुष्यगडमुगभ्य  
पंचेद्विद्यमस्यजित्नागवामावपरिधिस्य मम सत्त्वयोग्यपरासावृक्षिसर-  
दिवःमणा मरुगमृगस्य पापादृषिपात्रस्य शुभाशुभमंशयोध अशुभो-  
वदोक्तस्य मुगभ्य शुभोपायिभ्युदासीनस्य साभाच्युद्धोपयोगानि-  
म्यस्य मम परमात्मकं वृत्तियन्त्रिगुणव्यपमस्य शुद्धोपयोगेपि य  
॥ परमात्मा मन्ताननस रभापय्यवित्तुनि

तथा अत्रैवैव वयानती-

“ न इहं वरुमे ज्ञानं न इहं वृत्तिं वृत्तौ नय ।

यादि न न इहं व्याप्तं न इहं निर्धर्मं न्याः ॥

नमस्य न न इहं सत्त्वैहं न मोक्षस्य ।

इत्ये न न इहं सत्त्वैहं सत्त्वैहं सत्त्वैहं ॥

अत्रैवैव न इहं न इहं सत्त्वैहं सत्त्वैहं ॥

अत्रैवैव न इहं न इहं सत्त्वैहं सत्त्वैहं ॥ ”

निरवधिनिजदिव्यज्ञानदृग्भ्यां समृद्धः

किमिह षट्शुद्धिभ्यो मे फलं बाह्यभावेः ॥

आत्मगतदोषनिर्मुक्त्युपायकथनमिदम्—

जंकिंचि मे दुश्चरित्तं सद्यं त्रिविहेण योसरे ।

सामार्हयं तु त्रिविहं करेमि सद्यं णिरायारं ॥ १०३ ॥

यत्किञ्चिन्मे दुश्चरित्रं सर्वं त्रिविधेन विमुञ्चामि ।

सामयिकं तु त्रिविधं करोमि सर्वं निराकारम् ॥ १०३ ॥

भेदविज्ञानिनोपि मम परमतपोधनस्य पूर्वसंचितकर्मोद्यवलाघा-  
त्त्रिमोहोदये सति यत्किञ्चिदपि दुश्चरित्रं भवति चेत् सर्वं मनोवाक्का-  
यशुद्ध्या संत्यजामि, सामायिकशब्देन तावच्चारित्रिमुक्तं सामायिकछेदो-  
पस्थापनपरिहारविशुद्धप्रभिधानभेदाभिधं । अथवा जपन्यरत्नत्रयमुत्कृष्टं  
करोमि नवपदार्थपरद्वयभ्रन्दानपरिज्ञानाचरणस्वरूपं रत्नत्रयं साकारं  
तत् स्वस्वरूपभ्रन्दानपरिज्ञानानुष्ठानरूपस्वभावरत्नत्रयस्वीकारेण निराकारं  
शुद्धं करोमि इत्यर्थः । किञ्च । भेदोपचारचारित्रं अभेदोपचारं करोमि,  
अभेदोपचारम् अभेदानुपचारं करोमि इति त्रिविधं सामायिकमुत्तरोत्तर-  
स्वीकारेण सहजपरमतत्त्वविमलस्थितिरूपसहजनिश्चयचारित्रं, निराकारतत्त्व-  
निरतप्त्वाभिप्रायकारचारित्रमिति ।

तथाचोक्तं प्रवचनसारव्याख्यायात्—

“द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि

द्रव्यं मिथो द्रव्यमिदं, ननु सव्यपेक्षे ।

तस्मान्मुमुक्षुर्गधिरोहतु मोक्षमार्गं

द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य ॥”

तथाहि—

चित्तस्वभावनाशकमतयो यतयो यमम् ।

“ एकस्त्वमाविशसि जन्मनि संक्षये च  
भोक्तुं स्वयं स्वकृतकर्मफलानुबन्धं ।

अन्यो न जातु सुरादुःसविधौ सहायः  
स्वाजीवनाय मिलितं नटपेटकं ते ” ॥

तथाहि—

एको याति प्रबलदुरपाजन्म मृत्युं च जीवः  
कर्मद्वन्दोद्भवफलमयं चारुसौख्यं च दुःखं ।  
भूयो भुंक्ते स्वसुखविमुक्तः सन् सदा त्रिविमोहा—  
देकं तत्त्वं किमपि गुरुतः प्राप्य तिष्ठत्यमुष्मिन् ॥

एकत्वभावनापरिणतस्य सम्यग्ज्ञानिनो लक्षणकथनमिदंः—

एको मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो ।

सेसा मे बहिरा भावा सद्ये संजोगलक्खणा ॥१०२॥

एको मे शास्वत आत्मा ज्ञानदर्शनन्क्षणः ।

शेषा मे बाह्या भावाः सर्वे संयोगलक्षणाः ॥ १०२ ॥

असिलसांघुतिनन्दनतटमूलाद्यालाभःगुरूपरिपूर्णप्रणालि द्यावत् संस्थि-  
तकठेवरसांभवहेतुभूतद्रव्यभावकर्माभाशदेकः, स एव निसिलक्रियाकी-  
टाष्टंवरविधिविकल्पकोलाहलनिर्मुक्तसद्गुणशुद्धज्ञानचेतनामतीन्द्रियं भुं-  
जानः सन् शाश्वतो भूत्वा ममोपादेयरूपमितिप्रति । यदिकालनिष्पाधि-  
स्वभावत्वात् निरावगणज्ञानदर्शनलक्षणान्दक्षितः कारणपरमात्मा, ये  
शुभाशुभकर्मसंयोगसंभवाः शेषा बाह्याभ्यन्तपरिमहाः स्वस्वरूपा, बाह्यास्ते  
सौ, इति मम निश्चयः ।

अथ मम परमात्मा शाश्वतः कश्चिदेदृष्टः

महान्तरमभिविचिन्तनामश्रित्तिर्विशुद्धः ।

निरवधिनिजदिव्यज्ञानदृग्भ्यां समृद्धः

किमिह बहुविकल्पे मे फलं बाह्यभावेः ॥

आत्मगतदोषनिर्मुक्तयुपायकथनमिदम्—

जंकिंचि मे दुश्चरितं सद्यं तिविहेण षोसरे ।

सामाईयं तु तिविहं करोमि सद्यं गिरायारं ॥ १०३ ॥

यत्किञ्चिन्मे दुश्चरित्रं सर्वं त्रिविधेन विमुञ्जामि ।

सामयिकं तु त्रिविधं करोमि सर्वं निराकारम् ॥ १०१ ॥

भेदविज्ञानिनोपि मम परमतपोधनस्य पूर्वसंचितकर्मोद्यमहाशा-  
रित्रमोहोदये सति यत्किञ्चिदपि दुश्चरित्रं भवति चेत् सर्वं मनोवाका-  
यशुद्ध्या संत्यजामि, सामायिकशब्देन तावच्छास्त्रिभुक्तं सामायिकदो-  
षस्थापनपरिहारविशुद्धधर्मिधानभेदाभिधं । अथवा जपन्यरत्नत्रयमुत्सृष्टं  
करोमि नवषट्कार्थपरब्रह्मभ्रष्टानपरिज्ञानाचरणस्वरूपं रत्नत्रयं साधारं  
सत् स्वस्वरूपभ्रष्टानपरिज्ञानानुष्ठानरूपस्वभावरत्नत्रयस्वीकारेण निराकारं  
शुद्धं करोमि इत्यर्थः । किञ्च । भेदोपचारचारित्र्यं अभेदोपचारं करोमि,  
अभेदोपचारम् अभेदानुपचारं करोमि इति त्रिविधं सामायिकमुत्तरोत्तर-  
स्वीकारेण सहजपरमतत्त्वविमलस्थितिरूपसहजनिश्चयचारित्र्यं, निराकारतत्त्व-  
निरतस्वाभिशाकारचारित्र्यमिति ।

तथाचोक्तं प्रवचनसारव्याख्यायाम्—

“द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि

द्रव्यं भिद्यो ह्यमिदं, ननु साध्यपेक्षे ।

तामान्मुमुक्षुषिरोरतु मोक्षमार्गं

द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य ॥”

तयारि—

विभस्वभावनादात्मतयो यतपो धमम् ।

ये ते ते पातनाशीलयमनाशनकारणम् ॥

इहान्तर्मुखस्य परमतपोधनस्य भावशुद्धिरुक्ताः—

सम्मं मे सव्वमूदेसु वैरं मज्झं ण केणवि ।

आसाए वोसरित्ता णं समाहि पडिवज्जए ॥ १०४ ॥

सान्ध्यं मे सर्वभूतेषु वैरं मह्यं न केनचिन् ।

आशां उत्सृज्य नूनं समाधिः प्रतिपद्यते ॥ १०४ ॥

विमुक्तसकलेन्द्रियव्यापारस्य मम भेदविज्ञानिज्ञानिषु च समता, मित्रामित्रपरिणतेरभान्न मे केनचिज्जनेन सह वैरं, सहजवैराग्यपरिणतेर्ण मे काप्याशा वियते, परमसमरसीभावसनायपरमसमार्धि प्रपयेऽहमिति ।

तथा चोक्तं श्रीयोगीन्द्रदेवैः ।

तथाहि—

“ मुक्त्यङ्गनालिमपुनर्भवसौरुप्यमूलं

दुर्भावनातिमिरसंहतिचन्द्रकीर्तिम् ।

संभावयामि समतामहमुच्चकैस्ताम्

या संमता भवति संयमिनामव्यम् ” ॥

तथाहि—

जयति समता नित्यं या योगिनामपि दुर्लभा

निगमुसमुसवादिर्द्विस्कारपूर्णशशिवभा ।

परमयमिनां प्रव्रज्यास्त्रीमनःप्रियमौत्रिका

मुनिवरगणस्योच्चैः सालंक्रिया जगतामपि ॥

निश्चयप्रत्याख्यानयोग्यजीवस्वरूपाख्यानेमेतत्ः—

णिक्रसायस्स दांतस्त मूरस्स ययसाधिणो ।

संसारमयभीदस्स पचक्खाणं सुहं हये ॥ १०५ ॥

निःशयाप्य दांतम्य दूरम्य व्यक्तमायिनः ।

संसारभयभीतस्य प्रत्याख्यानं मुख भवेत् ॥ १०९ ॥

सकलकषायकलंकपंक्तिमुक्तस्य नितितेन्द्रियध्यापारविजयोपार्जित-  
पामदान्तरूपस्य अतिलपरिपहमहाभटविजयोपार्जितनिजदूरगुणम्य  
निश्चयपरमतपश्चरणविरागशुद्धभाषाय संसारदुःखभीतम्य व्यवहारेण  
चतुर्गहारविज्जितप्रत्याख्यानम् । किंच । पुनः व्यवहारप्रत्याख्यानं कुदृष्टेरपि  
पुण्यस्य चास्त्रिमोहोदयरेतुभूतद्रव्यभावकर्मक्षयोपशमेन कश्चित् कदाचि-  
त्संभवति । अतएव निश्चयनयप्रत्याख्यानं हितम् अत्यासन्नभयजी-  
वानाम्, यतः स्वर्णनामधेयधरस्य पापाणाम्योपादेयत्वं न तर्थाधपापाण-  
स्येति । ततः संसारशरीरभोगनिर्गमता निश्चयप्रत्याख्यानस्य कारणे,  
पुनर्भाविच्छात्रे सभाविनां नितिलमोहगाग्देपादिविधिविभावानां परिहारः  
परमार्थप्रत्याख्यानं । अथवानागतकालोद्भवविधान्तर्जन्यपरित्यागः शुद्धं  
निश्चयप्रत्याख्यानम् इति ।

जयति सततं प्रत्याख्यानं जिनेन्द्रमतोद्भवम्

परमयामिनामेनस्त्रिर्वाणिसौख्यकरं परं ।

सहजसमतादेवी सत्कर्णभूषणमुषकेः

मुनिष शृणु ते दीक्षाकान्तातीवयोवनकारणं ॥

निश्चयप्रत्याख्यानाध्यायोपसंहारोपन्यासोपमः—

एवं भेदव्यासं जी कुर्व्यद् जीवकर्मणो णिचं ।

पचक्खारणं सत्तादि धरिदं सो सिजदो णियमा ॥ १०६ ॥

एवं वेदाभ्यासं यः करोति जीवकर्मणोः नित्यम् ।

प्रत्याख्यानं शक्ते धर्तुं स संयतो नियमान् ॥ १०६ ॥

यः श्रीमदहं-मुसाराविन्दविनिर्गतपरमागमार्थविचारक्षमः अशुद्धातस्तास्व-

कर्मजुद्धलयोरनादिवन्धनसंबन्धनयोर्भेदं भेदाभ्यासवलेन करोति, स परम-  
संपत्नी निश्चयव्यवहारप्रत्याख्यानं स्वीकरोतीति ।

भाविञ्जालभवभावनिवृत्तः सोहमित्यनुदिनं मुनिनाथः ।  
भावेदेदसिलसोह्यनिधानं स्वस्वरूपममलं मत्तमुत्स्ये ॥  
धोरमंसूतिमहार्णवभास्वयानपात्रमिदमाह जिनेन्द्रः ।  
तत्पतः परमतस्यमजस्रं भावयाम्यहमनो जितमोहः ॥  
प्रत्याख्यानं भवति सततं शुद्धचारित्रभूतेः

भान्निर्ध्वंसात्मदृग्परमानन्दविष्णुबुद्धेः ।

नाम्यन्येषामपरममये योगिनामास्वयज्ञे  
भूयो भूयो भवति भवितां संसृतिर्षारूपा ॥

महानेज्ञानदो जगति विदिताः शाश्वतमयः

स सिद्धात्मन्युत्थेर्निपत्रवसतिर्निर्मन्दगुणे ।

जमी विज्ञानमोषि स्मरेति निशितास्येराभिरिताः

कथं कथंतेने वन कश्चित्ताम्ने जदधियः ॥

प्रणयाप्यानाद् भवति यमिषु प्रणुष्टं शुद्धशुद्धं

सत्चारित्र्यं दुरपतकमाद्राटवीचद्विषये ।

तत्त्वं शीघ्रं कुरु तत्र मनो भव्यशार्दूल निगम्य

यकिंभूते महजसुमर्दं शीतमुत्तं मुनीनाम् ॥

जयति सद्जनस्य तन्निष्णानबुद्धेः

हृदयमगमि जाताभ्यन्तः संविषये वन ।

तदपि सप्तजनेजः प्रणमोक्तान्धकाः

एतन्निष्णान्भान्निष्णान्निष्णान्निष्णान् ॥

अमर्दिनमन्तर्न सद्दत्तद्वेषद्वेषे वर

मन्तर्निष्णान्निष्णान्निष्णान्निष्णान्निष्णान् ॥

अथ शब्दद्वेषेर्नीद्वेषद्वेषेर्नीद्वेषद्वेषे

नमामि शततं पुनः सत्त्वमेव तस्यै मुदा ॥  
 जिनप्रभुमुसारविन्दविदितं स्वरूपस्थितम्  
 मुनीश्वरमनोएहान्तरसुरात्मदीपप्रभम् ।  
 नमस्यमिह योगिभिर्विजितहृष्टिमोहादिभिः  
 नमामि सुखमन्दिरं सहजतत्त्वमुद्येत् ॥  
 प्रनष्टदुर्गतोत्थरं प्रहतपुण्यकर्मवने  
 प्रभूतमदनादिकं प्रबलबोधसौधाटयं ॥  
 प्रणामकृततत्त्वविन् प्रकरमप्रणाशान्मकम्  
 प्रबुद्धगुणमंदिरं प्रकृतमोहराविं मुमः ॥

इति सुखविजनपयोगमिन्नपंचेन्द्रियप्रसंगवर्जितगात्रमात्रपरिमहर्भाष्य-  
 प्रथममलधारिविदाविपवितायां नियमसारध्याख्यायाम् सात्त्विकवृत्तौ  
 निश्चयप्रत्याख्यानधिकारः षष्ठः श्रुतस्कन्धः ॥ ६ ॥

आलोचनाधिकार उच्यते—

निश्चयालोचनास्वरूपाख्यानेमेतत् —

नोकर्मकर्मरहितं विभावगुणपञ्जएहिं वदिरितं ।  
 अप्पाणं जो शायदि समणस्सालोयणं होदि ॥ १०७ ॥

नोकर्मकर्मरहितं विभावगुणपर्ययैर्व्यतिरिक्तम् ।

आत्मानं यो ध्यायति श्रमणस्यालोचना भवति ॥ १०७ ॥

औदारिकवैकिक्यिकाहारतेजसानि शरीराणि हि नोकर्माणि,  
 ज्ञानदर्शनावरणांतरायमोहनीयवेदनीयायुर्नामगोत्राभिधानानि हि द्वय्यक-  
 र्माणि, कर्मोपाधिनिरपेक्षसत्तामाहकनिश्चयद्रव्यार्थिकनयापेक्षया हि एभि-  
 नोकर्मभिर्द्रव्यकर्मभिश्च निर्मुक्तं । मतिज्ञानादयो विभावगुणाः



कर्मपुद्गलयोरनादिवन्धनसंबन्धनयोर्भेदं भेदाभ्यासवलेन करोति, स परम-  
संयमी निश्चयव्यवहारप्रत्याख्यानं स्वीकरोतीति ।

भाविकालभवभावनितृप्तः सोहमित्यनुदिनं मुनिनाथः ।

भावयेदखिलसौख्यनिधानं स्वस्वरूपममलं मलमुक्त्यै ॥

घोरसंसृतिमहार्णवमास्वद्यानपात्रमिदमाह जितेन्द्रः ।

तत्त्वतः परमतत्त्वमजस्रं भावयाम्यहमतो जितमोहः ॥

प्रत्याख्यानं भवति सततं शुद्धचारित्रमूर्तेः

भ्रान्तिध्वंसात्सहजपरमानंदचिन्नशुद्धेः ।

नास्त्यन्येषामपरसमये योगिनामास्पदानं

भूयो भूयो भवति भविनां संमृतिर्घोररूपा ॥

महानंदानंदो जगति विदितः शाश्वतमयः

स सिद्धात्मन्युच्चैर्नियतवसतिनिर्ममलगुणे ।

अमी विद्वान्सोपि स्मरन्ति निशितास्रैरभिहिताः

कथं कांक्षत्येनं वत कलिहतास्ते जट्टधियः ॥

प्रत्याख्यानाद् भवति यमिषु प्रस्फुटं शुद्धशुद्धं

सच्चारित्रं दुरघतरुसांद्राटवीवद्विरूपं ।

तत्त्वं शीघ्रं कुरु तव मतो भव्यशार्दूल नित्यम्

यत्किंमूतं सहजसुखदं शीलमूलं मुनीनाम् ॥

जयति सहजतत्त्वं तत्त्वनिष्णातशुद्धेः

हृदयसरासि जाताभ्यन्तरे संस्थितं यत् ।

तदपि सहजतेजः प्रातमोहान्धकारं

स्वरसविसरभास्वदोषविस्फूर्तिमात्रं ॥

असंछितमनारतं सकलदोषदूरं परं

मंत्रांबुनिधिमग्नं जीवततियानपात्रोपमम् ।

अथ भवठदुर्गवर्गद्ववद्विक्कीटालकम्

विरिक्तचतुर्गर्भार्थगद्गान्नादिममत्तशास्त्रार्थगार्थगार्थगार्थभूतशुद्ध-  
निधयगमालोचनायाधत्वात् विख्या भवन्ति । ते बहवमाणभूतचतुष्टयेन  
निगद्यन्त इति ।

आलोचनाभेदममुं विदित्वा, मुन्यगनामगमभूतहेतु ।

व्यामभिधिं याति हि भज्यजीवः, तस्मै नमः स्वात्मनि विष्टिताय ॥

आलोचनावीचरमात्रेण परमगमनाभावनोनाः—

जो एम्मादि अप्पाणं समभावे संठवित्तु परिणामं ।

आलोचणमिदि जाणह परमजिणंदस्स उवएसं ॥१०९॥

यः पश्यत्यात्मानं समभावे संस्थाप्य परिणामम् ।

आलोचनमिति जानीहि परमजिनेन्द्रस्योपदेशम् ॥ १०९ ॥

यः सत्त्ववेगगम्यमुधासिन्धुनापट्टिंटीगपिंडपरिषादुरमंडनमंडलीप्रवृद्धिहेतु-  
भूतगङ्गानिर्दीधिनीनाथः सदान्तर्मुसाकारमत्पद्मं निरंजननिजबोधनिलयं  
कारणपरमात्मानं निरपदेशेणान्तर्मुसं स्वस्वभावनिरतसहजावलोकनेन निर-  
न्तरं पश्यति । किं कृत्वा पूर्वं निजपरिणामं समतावर्त्तवनं कृत्वा परमसंयमी-  
भूत्वा तिष्ठति तदेवालोचनास्वरूपमिति हे शिष्य त्वं जानीहि परमजिन-  
नाथस्योपदेशादित्यालोचनाविकल्पेषु प्रथमविकल्पोऽयमिति ।

आत्मा ज्ञात्मानमात्मन्यविचलनिष्ठयान्यात्मना पश्यतीत्यं

यो मुक्तिश्रीविद्यासानन्दनुसुप्तमयात् स्तोत्रकालेन याति ।

सोयं संघः सुदेशैर्यमधरत्तिभिः सेचरेर्भुचरेर्वा

चिद्रूपं सर्वैर्यं सकलगुणानिधिं तद्गुणापेक्षयाहम् ॥

आत्मा स्पष्टः परमयमिनो चितपंकेजमध्ये

ज्ञानन्योतिःप्रहतदुरितध्वान्तपुंजः पुराणः ।

सोतिकान्तो भवति भविनां बाह्यमनोमार्गमस्मिन्

नारातीये परमपुरुषे को विधिः को निषेधः ॥

नरनारकादिव्यंजनपर्य्यायाश्चैव विभावपर्य्यायाः । सहभुवो गुणाः  
क्रमभाविनः पर्य्यायाश्च, एभिः समस्तैः व्यतिरिक्तं स्वभावगुणपर्य्यायैः  
संयुक्तं त्रिकालनिरावरणभिरंजनपरमात्मानं, त्रिगुतिगुतपरमसमाधिना यः  
परमभ्रमणो नित्यमनुष्ठानसमये वचनरचनापराङ्मुखः सन् ध्यायति तस्य  
भावभ्रमणस्य सततं निश्चयालोचना भवतीति ।

तथा चोक्तं श्रीमद्रघुतचन्द्रसूत्रिभिः—

“ मोहाविलासविजृम्भितमिदमुदयकर्मसकलमालोच्य ।

आत्मनि चैतन्यात्मनि निःकर्मणि नित्यमावर्ते ॥

उक्तं चोपासकाध्ययने—

“ आलोच्य सर्वमेतः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम् ।

आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्यापि निःशेषम् ” ॥

तथाहि ।

आलोच्यालोच्य नित्यं सुकृतमसुकृतं घोरसंसारमूलं

शुद्धात्मानं निरुपधिगुणं चात्मनैवावलम्बे ।

पश्चादुच्चैः प्रकृतिमासिलां द्रव्यकर्मस्वरूपां

नीत्वा नाशं सहजविलसद्बोधस्फीं व्रजामि ॥

आलोचनालक्षणभेदकथनमेतत्—

आलोयणमालुंछण वियडीकरणं च भावसुद्धी यः ।

चउविहमिह परिकहियं आलोयणलक्षणं समए ॥१०८॥

आलोचनमालुंछनमविकृतिकरणं च भावसुद्धिश्च ।

चतुर्विधमिह परिकथितं आलोचनलक्षणं समये ॥ १०८ ॥

मगवदे  
नुसारविन्दविनिर्गतसकलजनताश्रुतिमुभगसुन्दरानंदीनिध्य-  
न्दनानक्षात्मकादि  
व्यध्वनिपरिज्ञानकुशलचतुर्थज्ञानधरगौतममहर्षिमुखकमल-

विनिर्गतचतुरणं इर्भगभीकृतगद्धान्नादिसमस्तशाराधसार्धसारमर्वस्वीभूतमुद्ध-  
निधपरमालोचनायाश्चत्वारो विवक्ष्या भवन्ति । ते वक्ष्यमाणसूत्रचतुष्टयेन  
निगद्यन्त इति ।

आलोचनाभेदममुं विदित्वा, मुस्त्यंगनासगमभूतहेतुं ।

स्वात्मस्थितिं याति हि भव्यजीवः, तस्मै नमः स्वात्मनि निष्ठिताय ॥

इहालोचनास्वीकारमात्रेण परमममताभावनोनाः—

जो पस्सदि अप्पाणं समभावे संठवित्तु परिणामं ।

आलोयणमिदि जाणह परमजिणंदस्स उवएसं ॥१०९॥

यः परयत्यात्मानं समभावे संस्थाप्य परिणामम् ।

आलोचनमिति जानीहि परमजिनेन्द्रस्योपदेशम् ॥ १०९ ॥

यः सहजवैगम्यमुधामिन्धुनाथदिंडीरपिंडपरिषांडुरमंडनमंडलीप्रसृद्धिहेतु-  
भूतपाकानिर्शाधिर्नानाथः सदान्तर्मुसाकारमत्यर्द्धं निरंजननिजबोधनिलयं  
कारणपरमात्मानं निरवशेषेणान्तर्मुक्तं स्वहृदयानिरतसहजावलोकनेन निर-  
न्तरं पश्यति । किं कृत्वा पूर्वं निजपरिणामं समतावलंचनं कृत्वा परमसंयमी-  
भूत्वा तिष्ठति तदेवालोचनास्वरूपमिति हे शिष्य त्वं जानीहि परमजिन-  
नाथस्योपदेशादित्यालोचनाविकल्पेषु प्रथमविकल्पोऽयमिति ।

आत्मा ह्यात्मानमात्मन्यविचलनिलयान्यात्मना पश्यतीत्यर्थं

यो मुनिश्रीविद्यासानतनुसुसमयात् स्तोत्रकालेन याति ।

सोयं वंद्यं हृनेशैर्यमभरततिभिः सेचरेर्भूचरेर्वा

चिद्रूपं सर्वव्ययं सकलगुणनिधिं तद्गुणापेक्षयाहम् ॥

आत्मा स्पष्टः परमयमिनां वित्तपंकेजमध्ये

शानन्योतिःप्रहततुंगितध्वान्तपुंजः पुराणः ।

सोत्तिकान्तो भवति भविना वाङ्मनोमार्गमस्मिन्

नारातीये परमपुरुषे को विधिः को निषेधः ॥



मव्यवहारिणामिकभावस्वभावेन परमस्वभावः औद्यिकादिचतुर्णां विभावस्वभावानामगोचरः स पंचमभावः अतएवोद्योदीरणक्षयक्षयोपशमविविधविकारविवर्जितः अतः कारणादस्यैकस्य परमत्वम् इतरेषां चतुर्णां विभावानामपरत्वम् । निरिहकर्मविषवृक्षमूलनिर्मूलनसमर्थः, त्रिकालनिरावरणनिजकारणपरमात्मस्वरूपश्रद्धानप्रतिपक्षतावमिध्यात्वकर्मोद्ययबलेन कुट्टेतर्यं परमभावः सदा निश्चयतो विद्यमानोऽप्यविद्यमान एव, नित्यनिगोदक्षेत्रज्ञानामपि शुद्धनिश्चयनेन परमभावः “अमव्यवहारिणामिक” इत्यनेनाभिधानेन न संभवति । यथा मेरोरधोभागस्थितभुवर्णराशेरपि सुवर्णत्वं, अमव्यानामपि तथा परमभावस्वभावत्वं, वस्तुनिष्ठं न व्यवहारयोग्यं । सुदृशामत्यासन्नभव्यजीवानां सफलीभूतोऽयं परमभावः सदा निरंजनत्वात् यतः सकलकर्मविषमविषमशुभमूलनिर्मूलनसमर्थत्वात् निश्चयपरमालोचनाविकल्पसंभवाः, लुंछनाभिधानम् अनेन परमपंचमभावेन अत्यासन्नभव्यजीवस्य सिद्ध्यति ।

एको भावः स जयति सदा पंचमः शुद्धशुद्धः

कर्मारतिस्फुटितसहजावस्यया संस्थितो यः ।

मूलं मुक्तेर्निरिहयामिनामात्मनिष्ठापराणात्

एकाकारः स्वरसविसरापूर्णपुण्यः पुराणः ॥

असंसारदसिलजनता तीव्रमोहोदयात्सा

मना नित्यं स्मरवशात्ता स्वात्मकार्यवमुग्धा ।

ज्ञानज्योतिर्भवलितककुम्भटलं शुद्धभावं

मोहाभावात्स्फुटितसहजावस्यमेयां प्रयाति ॥

इह हि शुद्धोपयोगिनो जीवस्य परणतिविशेषः प्रोक्तः ।

कम्मादो अप्पाणं भिण्णं भाषेइ विमलगुणाणिलयं ।

अव्यवहारसंज्ञाया विद्यन्तीकरणं सि विण्णेयं ॥१११॥



तु सुखसुखस्यै मन्तुं तद्विदित्वा ।  
 भावभावाविमुक्तं तद्वन्निग्रहं च  
 तस्मान्मभिनयाधि वाप्यं भावयामि ॥  
 इयं सुखसिद्धयर्थं तद्व्यापारार्थं  
 म विद्यमिदंमात्रमर्थं तदात्मनश्चन्द्रम् ।  
 तद्विदुः सुखार्थं च वाप्यं च सुखदृष्टिः  
 वा भवति परमार्थकामिनीवासकम्पः ॥  
 इत्यसि महजनेन मातृत्वात्तद्व्यापारो  
 मन्तुं मुनिव्याणां शोचत सुन्दसुन्दः ।  
 विदुः सुखस्यै मन्तुं तद्विदुः सर्वथा  
 परमसुखसुन्दः सुन्दसुखोत्तमिन्द्रः ॥

भावसुन्दस्यभिधानपरमाणुचनानुसन्धयप्रतिपादनद्वारेण सुन्दनिधयानुस-  
 नाधिकारोपसंहारोपन्यासोऽयम् —

मद्मानमायलोहविवर्जितमायो दु भावसुद्धिति ।  
 परिकल्पितं मद्यार्णं लोपालोपपदरिसीहिं ॥ ११२ ॥  
 मद्मानमायलोहविवर्जितमायन्तु भावसुद्धिरिति ।  
 वृत्तिविनोः भव्यानां लोकानुसन्धयप्रतिपादिभिः ॥ ११२ ॥

तत्रैवास्मिन्मोहोदयवशेन पुंशुभिधाननोरुपायविहासो मद्, अत्र  
 मद्वाच्येन मदनः कामपरिणाम इत्यर्थः । चतुरस्रदर्भगभीकृतवेदर्भक-  
 विम्बेन औदयनामकम्मोदये सति सकलजनपूजयनया मातृपितृसम्बन्ध-  
 कुलगतनिविशुद्ध्या वा सत्सहस्रकोटिभट्टाभिधानद्वयचर्यवनोपार्जितनि-  
 र्यमवशेन च दानादिशुभकम्मोपार्जितसंपत्तुद्विविहासेन, अथवा बुद्धितपो-  
 येषुर्वर्णोपधरसत्त्वार्थाणां विभिः सत्तभिर्वा, कर्मनीयकामिनीटोचनानन्देन  
 वपुर्लोकपरसविसरेण वा आत्माहंकारो मानः । गुणयतो माया, स्थले धनव्यया-



भावो लोमः, निश्चयेन निखिलपरिग्रहपरित्यागलक्षणनिरंजननिजपरमात्मतत्त्वपरिग्रहात् अन्यत् परमाणुमात्रद्रव्यस्वीकारो लोमः । एभिश्चतुर्भिर्वा मात्रैः परिमुक्तः शुद्धमात्र एव मात्रशुद्धिरिति भव्यप्राणिनां लोकाटोक्प्रदर्शिभिः परमर्वातरागसुखासृतापानपरितृप्तैर्भगवाद्भिरर्हद्भिरामिहित इति ।

अथ जिनपतिमार्गालोचनाभेदजालम्  
परिद्धतपरभावो भव्यलोकः समन्तात् ।  
तदसिलमवलोक्य स्वस्वरूपं च बुद्ध्वा  
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥  
आलोचना सततशुद्धनपात्मिका या  
निर्मुक्तमार्गफलदा यमिनामजघ्नं ।  
शब्दात्मतत्त्वनियताचरणानुरूपा  
स्यात्संयतस्य मम सा किल कामधेनुः ॥  
शुद्धं तत्त्वं बुद्धलोकत्रयं यद्  
बुद्ध्वा बुद्ध्वा निर्विकल्पं मुमुक्षुः ।  
तत्सिद्धार्थं शुद्धशीलं चरित्वा  
सिद्धिं यायात् सिद्धिसीमन्तिनीशः ॥  
सानन्दं तत्त्वमज्जजिनभुनिश्चयाम्मोजर्किजन्कमप्ये  
निर्ग्रावार्थं विशुद्धं स्मरशरगहनानाङ्कदावाभिरूपं ।  
शुद्धज्ञानप्रदीपप्रहतयमिमनोगेहपोतान्धघ्नं  
तदन्दे साधुगन्धं जननजलनिधौ लंपने यानपात्रं ॥  
अभिनवाभिर्दं पार्यं यायाः समग्रपियोपि ये  
विद्वन्ति परं भूमः किं ते तपस्विन एव हि ।  
इति विद्वसिनें शुद्धं ज्ञानं च रिटिमनुसमम्  
पद्मभिदमहे श्लात्वा भूयोपि यान्ति सरागतौ ॥  
जयति सहजं तत्त्वं तत्त्वेषु नित्यमनाकुलं

सततमुलभं भास्वत्सम्यग्दर्शा समतालयम् ।

परमेकलया सार्द्धं वृद्धं प्रवृद्धगुणैर्निजैः

स्फुटितसहजावस्थं लीनं महिम्नि निजेऽनिशं ॥

सहजपरमं तत्त्वं तत्त्वेषु सप्तसु निर्मूलं

सकलविमलज्ञानावासं निरावरणं शिवम् ।

विशदविशदं नित्यं बाह्यप्रपंचपराङ्मुखं

किमपि मनसां वाचां दूरं मुनेरपि तनुमः ॥

जयति शांतरसाभृतवारिधि-प्रतिदिनोदयचातुर्दिशः ।

अनुलबोधदिवाकरदीपिति-प्रहतमोहतमस्सामितिर्जिनः ॥

विजितजन्मजराभृतिसंचयः प्रहतदारुणगगकदम्बकः ।

अधमहातिमिरवजभानुमान् जयति यः परमात्मपदस्थितः ॥

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिमहश्रीप-  
ञ्चमममलधारिद्वयविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ पर-  
मालोचनाधिकारः सप्तमः श्रुतस्कन्धः ॥ ७ ॥

अथासिद्धव्यभावनोक्तमसंन्यासहेतुभूतशुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकारः  
कथ्यते—

निश्चयप्रायश्चित्तस्वरूपारूपानमेतत्—

घटसमिदिसीलसंजमपरिणामो करणणिग्गहो भावो ।

सो ह्यदि पापचित्तं अणयरर्यं चैव कायव्वो ॥११३॥

प्रतसमितिशीलमयमपरिणामः करणनिग्गहो भावः ।

स भवति प्रायश्चित्तम् अनवरतं चैव फलव्यः ॥ ११३ ॥

पंचमहावतपंचसमितिशीलसकलेन्द्रियशुद्धमनःकायसंयमपरिणामः प-  
ञ्चेन्द्रियनिरोधश्च न शत्रु परिणामः,

परणतिविशेषः । प्रायः प्राचुर्येण निर्विघ्नं चिन् प्रायश्चिन्, अनवरतं चान्तर्मुखाकाङ्क्षपरमसमाधियुक्तेन परमजिनयोगीश्वरेण पापाट्टर्वापावकेन पंचेन्द्रियप्रसङ्गजितगात्रमात्रपरिग्रहेण सहजवैगम्यप्रासादशिरसरशिशाम-  
णिना परभागममकरेन्द्रनिष्यन्दिमुष्यप्रभेण कर्तव्य इति ।

प्रायश्चिन् भवति सततं स्वात्मचिन्ता मुनीनां

मुक्तिं यांति स्वमुग्धतयस्तेन निर्द्धृतपापाः ।

अन्या चिन्ता यदि च यमिनां ते विमूढाः स्मरार्त्ताः

पापाः पापं विदधति मुहुः किं पुनश्चिन्मेतत् ॥

इह हि सकलकर्मनिर्मूलनसमर्थनिश्चयप्रायश्चित्तमुक्तम्—

कोहादिसगम्भावस्वयपहुर्दीभावणाए णिग्गहणं ।

पायच्छित्तं भणिदं णियगुणचिन्ता य णिच्छयदो ॥ ११४ ॥

क्रोधादिस्वर्क्रीयभावक्षयप्रभृतिभावनायां निर्ग्रहणम् ।

प्रायश्चित्तं भणितं निजगुणचिन्ता च निश्चयतः ॥ ११४ ॥

क्रोधादिनिश्चितमोहरागद्वेषविभावस्वभावक्षयकारणनिजकारणपरमात्मस्व-  
भावभावनायां सत्यां निसर्गगहनवृत्त्या प्रायश्चित्तमभिहितम्, अथवा  
परमात्मगुणात्मकशुद्धान्तस्तत्त्वस्वरूपसहजज्ञानादिसहजगुणचिन्ता प्राय-  
श्चित्तं भवतीति ।

प्रायश्चित्तमुक्तमुञ्चेर्मुनीनां

कामक्रोधाद्यन्यभावक्षये च ।

किं स्वस्य ज्ञानं संभावना वा

सन्तो जानन्त्येतदात्मप्रवादे ॥

चतुष्टयायविजयोपायस्वरूपाख्यानमेतत्—

कोहं स्वमया माणं समद्वेषेण ज्जवेण मार्यं च ।

संतोसेण य लोहं जयदि सुए चहुविहकसाए ॥ ११५ ॥

बोधं क्षमया मानं स्वमार्द्देन आर्देन मायां च ।

सन्तोषेण च लोभं जयति खलु क्षतुर्बिधनपायाणां ॥ ११५ ॥

जपन्यमभ्यस्यतेतमभेदात्क्षमास्तिस्त्रो भवन्ति । अकारणाद्यप्रियवादिनो मिथ्यादृष्टेरकारणेन मां वासयितुमुद्योगो विद्यते अयमपगतो मत्पुण्येनेति प्रथमा क्षमा । अकारणेन संवासं करस्य तादृनवाधादि-पण्णामोऽस्ति, अयं स्वापगतो मत्सुकृतेनेति द्वितीया क्षमा । तथा सत्यमूर्तस्य परमब्रह्मरूपिणो ममापहानिरिति परमसमरसीभवस्थितिरुत्तमा क्षमा । आभिः क्षमाभिः क्रोधकषायं जिन्वा, मानकषायं मार्द्देन च, माया-कषायं चार्जवेण, परमतत्त्वलाभ सन्तोषेण लोभकषायं चेति ।

तथाचोक्तं श्री गुणभद्रमुरीभिः—

“ विलस्यमप्यनवबुद्धय हरेण जास्यन्त  
कुन्धा बहिः किमपि दग्धमनद्बुद्धया ।  
घोरामवाप स हि तेन कृतामवस्थां  
क्रोधोदयाद्भवति कस्य न कार्यहानिः ” ॥

चक्रं विहाय निजदाक्षिणत्राहुसंस्थं  
यन्प्रावृजन्ननु तदैव स तेन मुच्येत ।  
क्लेशं तमाप क्लिष्ट बाहुवली चिराय  
मानो मनागपि हति महतीं करोति ॥  
भय मायामहागर्तन्निभ्याघनतमोमयात् ।  
यस्मिन् लीना न लक्ष्यन्ते क्रोधादिविपमाहयः ॥

“ वनचरभयाद्वावन् देवाहुताकुलबालभिः  
क्लिष्ट जटनया लोलो बालवनेऽविचलं स्थितः ।  
वत स चमरस्तेन प्राणैर्गपि प्रदियोजितः  
परिणतगुणं प्रायेणैवविधा हि विपत्तयः ” ॥

तथाहि—

भ्रमणा लोभद्वारां मानद्वारां च मार्शेने ।

मायामार्गानामालोभद्वारां च जीवतो जगत् ॥

अत्र शुद्धज्ञानस्वीकारात् प्रायश्चित्तमित्युक्तम्—

उफिहो जो बोहो णाणं तम्मेश अप्पणो चित्तं ।

जो घरइ मुणी णिगं पायच्छित्तं ह्ये तम्म ॥११६॥

उत्कृतो यो बोधो ज्ञानं तस्यैवात्मनश्चित्तं ।

यो नगति मुनिर्निर्गम्य प्रायश्चित्तं भवेत्तस्य ॥ ११६ ॥

उक्तं यो विशिष्टधर्मः स हि परमबोध इत्यर्थः, बोधो ज्ञानं चित्त-  
मित्यनर्थान्तरम्, अत्र एव तस्यैव परमधर्मिणो जीवस्य प्रायः प्रकर्षेण  
चित्तं परमार्थमी नित्यं तादृशं चित्तं धने, तस्य गन्तु निश्चयप्रायश्चित्तं  
भवतीति ।

यः शुद्धात्मज्ञानगर्भावनात्मा

प्रायश्चित्तमत्र चास्येव तस्य ।

विन्दुतांशुःसंहतिं सं मुनीन्द्रं

वन्दे नित्यं तद्वृणुषात्तयेश्वरम् ॥

इह हि परमतपश्चरणनिरतपरमजिनयोगीश्वराणां निश्चयप्रायश्चित्तं,  
एवं समस्तावरणानां परमाचरणमित्युक्तम्—

किं बहुणा भणिण्ण दु वरतवचरणा महेसिणं सइवं ।

पायच्छित्तं जाणह अणोयकम्माण खयहेउ ॥ ११७ ॥

किं बहुना भणितेन तु वरतपश्चरणा महर्षिणां सर्वं ।

प्रायश्चित्तं जानीह्यनेककर्मणां क्षयहेतुः ॥ ११७ ॥

बहुभिरसत्प्रलापैरलमलं पुनः सर्वनिश्चयव्यवहारालम्बणमतपश्चर-

णात्मकं परमाजिनयोगिनामासंसारप्रतिबद्धद्रव्यभावकर्मणां निरवशेषेण वि-  
नाशकारणं, शुद्धनिभयप्रायश्चित्तमिति हे शिष्य त्वं जानीहि ।

अनशनादितपश्चरणात्मकं

सहजशुद्धचिदात्मविदामिदम् ।

सहजबोधकलापरिगोचरं

सहजतत्त्वमपक्षयकारणम् ॥

प्रायश्चित्तं ह्युत्तमानामिदं स्यात्

स्वद्रव्येस्मिन् चिन्तनं घर्म्मशुद्धं ।

कर्मप्रान्तध्वान्तसद्बोधतेजो—

लीनं स्वस्मिन् निर्विकारे महिम्नः ॥

आत्मज्ञानाद् भवति यमिनामात्मलब्धिः क्रमेण

ज्ञानज्योतिर्निहतकरणमानधोरान्धकारः ।

कर्मरण्याद्भवद्दशिसान्नालकानामजस्रम्

प्रध्वसेऽस्मिन् शमजलमर्यामास्तु धारां धमन्ती ॥

अभ्यात्मशास्त्रामृतचारिराशे—

मयोद्धृता संयमरत्नमाला ।

बभूव या तत्त्वविदां सुकण्ठे

सालंकृतिर्मुक्तिवधूधनानाम् ॥

नमामि नित्यं परमात्मतत्त्वं

मुनीन्द्रचित्ताम्बुजगर्भवासं ।

विमुनिजाताम्बरसौरव्यमूढं

विनष्टसंसारदृष्टमेतन् ॥

अत्र प्रसिद्धशुद्धकारणपरमात्मतत्त्वे सदान्तर्मुसतया प्रतपनं यत्तत्तपः  
प्रायश्चित्तं भवतीत्युक्तम् —

पंतापंतमवेण समजिअसुहअसुहकम्मसंदोहो ।  
तवचरणेण विणस्सदि प्रायच्छित्तं तव तम्हा ॥ ११८ ॥

अनन्तानन्तमवेण ममज्जितशुभाशुभकम्मसंदोहः ।

तपश्चरणेन विनश्यति प्रायश्चित्तं तपस्तस्मान् ॥ ११८ ॥

आ संसारत एव ममुपाज्जितशुभाशुभकम्मसंदोहो द्वय्यभावात्मक-  
पंचसंसारसंवर्द्धनसमर्थः परमतपश्चरणेन भावशुद्धिलक्षणेन विलयं यानि,  
ततः स्वात्मानुष्ठाननिष्ठं परमतपश्चरणमेव शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्तमित्य-  
भिहितं ।

प्रायश्चित्तं न पुनरपरं कम्मं कम्मक्षयार्थं

प्राहुः सन्तस्तप इति चिदानंदर्पापूपपूर्णम् ।

आ संसारादुपचितमहत्कम्मकान्तरवद्धि—

ज्वालाजालं शमसुरमयं प्राभूतं मोक्षलक्ष्म्याः ॥

अत्र सकलभावानामभावं कर्तुं स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मध्यानमेव समर्थ-  
मित्युक्तं—

अप्पसरूवालं वणभावेण दु सच्चभावपरिहाणं ।

सक्कदि कट्ठं जीवो तम्हा ज्ञाणं हवे सच्चं ॥ ११९ ॥

आत्मस्वरूपालम्बनभावेन तु सर्वभावपरिहाणं ।

शक्नोतिः कर्तुं जीवस्तस्माद् ध्यानं भवेत् सर्वम् ॥ ११९ ॥

अविचलपरद्रव्यप्रतियागलक्षणलाक्षिताक्षूणनित्यनिरावरणसहजपरमपारि-  
णामिकभावभावनया भावान्तराणां चतुर्णामौदयिकीपशामिकक्षायिक-  
क्षायोपशामिकानां परिहारं कर्तुमत्यासन्नभव्यजीवः समर्थो यस्मात् तद्वत्  
स्व पापाटवीपावक इत्युक्तम् । अतः पंचमहाव्रतपंचसमितित्रिगुति-  
शत्याख्यानप्रायश्चित्तालोचनादिकं सर्वं ध्यानमेवेति ।

यः शुद्धात्मन्यविचलमनाः शुद्धमात्मानमेकं  
 नित्यन्योतिःप्रतिहततमःपुञ्जमाधन्तशून्यम् ।  
 ध्यात्वाजघ्ने परमकलया सार्द्धमानन्दमूर्ति  
 जीवन्मुक्तो भवति तरसा शोयमाचारराशिः ॥

शुद्धनिश्चयस्वरूपाख्यानेमेतत्—

सुहअसुहवयणरयणं रायादीभाववारणं किञ्चा ।  
 अप्पाणं जो ज्ञायदि तस्स दुणियमं हवे णियमा ॥१२०॥  
 शुभाशुभवचनरचनानां रागादिभाववारणं कृत्वा ।  
 आत्मानं यो ध्यायति तस्य तु नियमो भवेन्नियमान् ॥ १२० ॥

यः परमतन्त्रज्ञानी महानपोधना द्वैतद्वैतदर्शनं ( १ ) संशितसूक्ष्मकर्म-  
 निर्मूलनममर्थनिश्चयप्रायश्चित्तपरायणस्यापि संयमिनो मनोवाकायन्वा-  
 द्भववर्द्धामूलकदान्मकशुभाशुभस्वरूपप्रशस्तसमस्तवचनरचनानां निवारणं  
 करोति, न केवलमासां तिरस्कारं करोति किन्तु निखिलमोहरागद्वेषोदि-  
 परमावाना निवारणं च करोति । पुनरनवरतमसंहाद्वैतमुन्द्रानन्द-  
 निष्यन्दानुपमनिर्जननिजकारणपरमात्मतन्त्रं नित्यं शुद्धोपयोगबलेन  
 संभवति, तस्य यतः मनुष्यस्य शुद्धनिश्चयनियमो भवतीत्याभिप्रायो  
 भगवता सूत्रकृतामिति ।

वचनरचनां त्यक्त्वा भव्यः शुभाशुभलक्षणां  
 सहजपरमात्मानं नित्यं सुमावयति स्फुटम् ।  
 परमयमिनस्तस्य ज्ञानात्मनो नियमाद्यर्थं  
 भवति नियमः शुद्धो मुक्त्यंगनासुखकारणम् ॥  
 अनवरतमसंहाद्वैतचिन्निर्विकारे  
 निखिलनयविलासो न स्फुरत्येव किञ्चित् ।



अपगत इह यस्मिन् भेदवादस्समस्तः

तमहमभिनमामि स्तौमि संभावयामि ॥

इदं ध्यानमिदं ध्येयमयं ध्याता फलं च तत् ।

एभिर्विकल्पजालैर्यन्निर्मुक्तं तन्नमाम्यहम् ॥

भेदवादाः कदाचित्स्युर्यस्मिन् योगपरायणे ।

तस्य मुक्तिर्भवेन्नो वा को जानात्याहते मते ॥

निश्चयकायोत्सर्गस्वरूपास्थानमेतत्—

कायाईपरद्रव्ये स्थिरभावं परिहरन्तु अप्पाणं ।

तस्स हवे तणुसगं जो ज्ञायइ णिव्विअप्पेण ॥१२१॥

कायादिपरद्रव्ये स्थिरभावं परिहरित्वात्मानं ।

तस्य भवेत्तनुत्सर्गो यो ध्यायति निर्विकल्पेन ॥ १२१ ॥

सादिसनिधनमूर्तिविजातीयविभावव्यंजनपर्य्यात्मिकः । स्वस्याकारः  
कायः, आदिशब्देन क्षेत्रवास्तु । कनकरमणीप्रभृतयः एतेषु सर्वेषु स्थिर-  
मात्रं सनातनभावं परिइत्य नित्यरमणीयनिरंजननिजकारणपरमात्मानं  
व्यवहारक्रियाकांडाडम्बरविविधाविकल्पकोलाहलाविनिर्मुक्तसहजपरमयोगबले-  
न नित्यं ध्यायति । यः सहजतपश्चरणक्षीरवाराशिशिनिर्शीथिर्नाइइ-  
याधीश्वरः । तपस्विनः सलु सहजवैराग्यप्रासादशिस्रशिसामणेनि-  
श्चयकायोत्सर्गो भवतीति ।

कायोत्सर्गो भवति सततं निश्चयात्संयतानां

कायोद्भूतप्रबलतरलसत्कर्ममुक्तेः सकाशात् ।

वाचां जल्पप्रकरविरतेर्मौनसानां निवृत्तेः

स्वात्मध्यानादपि च नियते स्वात्मनिष्ठापराणाम् ॥

जयति सहजतेजःपुंजनिर्मप्रभास्वन्—

सहजपरमवत्त्वं मुक्तमोहान्धकारम् ।

सहजपरमदृष्ट्या निष्ठितन्मोषजातम्  
 भवभवपरितापैः कल्पनाभिध्व मुक्तम् ॥  
 भवभवसुरसमत्यं कल्पनामात्ररम्यं  
 तद्विद्विलमपि नित्यं संत्यजाम्यात्मशक्त्या ।  
 सज्जपग्मसौख्यं विश्वमत्कारमात्रम्  
 स्फुटितनिजविलासं सर्वदा चेतयेहम् ॥  
 निजान्मगुणमंपदं मम इदि स्फुरन्तीमिमां  
 समाधिविषयामहो क्षणमहं न जाने पुरा ।  
 जगन्नितयवैभवप्रलयहेतुदुःकर्मणाम्  
 प्रमुच्चगुणशक्तितः सद्यु हतोस्मि हा संसृता ॥  
 भवसंभवविषभूस्रहफलमरिहं दुःखकारणं बुद्ध्वा  
 आत्मनि चैतन्यात्मनि संजातविशुद्धसौख्यमनुभुङ्क्ते ॥

इति मुक्त्विजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवार्जितगात्रमात्रपरिमहश्री पद्म-  
 प्रममलधारिदेवविगचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ  
 शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकारोऽष्टमः श्रुतस्कन्धः ॥ ८ ॥

असिलमोहरागद्वेषादिपग्मभावविध्वंसहेतुभूतपरमसमाध्याधिकार उच्यते ।

शुद्धनिश्चयपरमसमाधित्वरूपाव्यानमेतत्—

वयणोच्चारणकिरियं परिचत्ता वीयरायमावेण ।  
 जो ज्ञायदि अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स ॥ १२२ ॥  
 वचनोच्चारणक्रियां परित्यक्त्वा वीतरागभावेन ।  
 यो ध्यायत्यात्मानं परमसमाधिर्भवेत्तस्य ॥ १२२ ॥

एचिदशुभवंचनार्थं वचनरचनामात्रप्रपंचितपरमवीतरागसर्वशस्तवना-  
 दिहं कर्तव्यम् । परमजिनयोगीश्वरेणापि परमार्थतः प्रशस्ताप्रशस्तवाग्नि-



अत्र समतामन्तरेण द्रव्यलिङ्गधारिणः श्रमणाभासिनः किमपि परलोक-  
कारणं नास्तीत्युक्तम्—

६ किं काहदि वणवासो कायकलेसो विचित्तउववासो ।  
अज्झयणमौणपहुदी समदारहियस्स समणस्स ॥१२४॥

किं त्रियते वनवासः कायदेशो विचित्रोपवामः ।

अध्ययनमौनप्रभृतयः समतारहितस्य श्रमणस्य ॥ १२४ ॥

सकलकर्मकलंकपंकविनिर्मुक्तमहानन्दहेतुभूतपरमसमताभावेन विना  
कान्तारवासप्रवासेन प्राशुपि बुद्धमूले स्थित्वा, च, धीप्पेऽतितीव्रवक्करसंतत-  
पर्वताग्रवासनिपण्णतया वा, हेमन्ते च रात्रिमध्ये ह्याशांघरदशाफलेन  
च, त्वगस्थिभूतसर्वाङ्गहेज्जदायिना महोपवासेन वा, सदाध्ययनपटुतया च  
वाग्विषयव्यापागनिवृत्तिलक्षणेन संततमौनवतेन वा, किमध्युपादेयं फल-  
मस्ति केवलं द्रव्यलिङ्गधारिणः श्रमणाभामस्येति ।

तथाचोनम् अमृताशीतो—

गिरिगणगहारण्यान्यशून्यप्रदेश —

स्थितिकरणनिरोधध्याननीर्योपसेवा

पठनमपहोमैर्वेद्वृणो नास्ति सिद्धिः

मृगय तदपरं त्वं भोः प्रकारं स्वमारं १

तथाहि—

अनशनादितपश्चरणोः फलम्

समनया रहितस्य यतेर्न हि ।

एत इदं निमतत्त्वमनाकुलं

भज मुने समताकुलमंदिरम् ॥

इह हि सकलसावद्यव्यापाररहितस्य त्रिगुप्तिगुणस्य सकलेन्द्रियव्यापार-  
विमुक्तस्य तस्य च मुनेः सामायिकं व्रतं स्थायीत्युक्तं—

विरदी सव्वसावज्जे तिगुत्तीपिहिदिदिओ ।

तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥ १२५ ॥

विरतिः सर्वसावद्ये त्रिगुप्तिपिहितेन्द्रियः ।

तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिसासने ॥ १२५ ॥

अथात्रैकेन्द्रियादिप्राणिनिकुर्वक्त्रेशहेतुभूतसमस्तसावद्यव्यासंगविनिर्मुक्तः,  
प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तकायवाङ्मनसां व्यापाराभावात् त्रिगुप्तः । स्पर्शन-  
रसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राभिधानपंचेन्द्रियाणां मुखेस्तत्तद्योग्यविषयग्रहणाभावात्  
पिहितेन्द्रियः । तस्य सल्लु महामुमुक्षोः परमवीतरागसंयमिनः  
सामायिकं व्रतं शश्वत् स्थायि भवतीति ।

इत्थं मुक्त्वा भवभयकर सर्वसावधराशि

नीत्वा नाश विकृतिमानिशं कायवाङ्मानसानां

अन्तःशुद्ध्या परमकलया साकमात्मानमेकं

बुद्धा जन्तुः स्थिरशममयं शुद्धशीलं प्रयाति ॥

परममाध्यस्थ्यभावाद्यारूढस्थितस्य परममुमुक्षोः स्वरूपमवोक्तम्—

जो समो सव्वभूदेषु थावरेसु तसेसु वा ।

तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥ १२६ ॥

यः समः सर्वभूतेषु स्थावरेषु श्रेतेषु वा ।

तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिसासने ॥ १२६ ॥

यः सहजवैराग्यप्रासादशिरशिरसामणिः विकारकारणनिश्चिन्मोह-

तस्य भेदकव्यनापोदपरममरसीभावमनाथत्वात्प्रसन्नावराजिनि-

स्य च परमजनयोर्गीश्वरस्य सामायिकाभिधानवृत्तं सनातन-

समः, तेषां मार्गं सिद्धमिति ।

१ वीतरागसुद्धे

ब्रह्महतिपरिमुक्तं स्थावराणां वर्षैर्ज्वा  
परमाग्निमुनर्निनां चित्तमुच्चैर्जसम् ।  
अपि चरमागतं यन्निर्मलं कर्म सुवत्यै—  
तद्दहमभिनमामि स्तौमि संभावयामि ॥

केचिद्द्वैतमार्गस्थाः केचिद्द्वैतपथे स्थिताः ।  
द्वैताद्वैतविनिर्मुक्तमार्गं वर्तन्निहे वयम् ॥  
काक्षन्त्यद्वैतमन्योपि द्वैतं काक्षन्ति चापरे ।  
द्वैताद्वैतविनिर्मुक्तमात्मानमभिनोम्यहम् ॥

अहमात्मा सुखाकाक्षी स्वात्मानमजमच्युतम् ।  
आन्मनैवात्मनि स्थित्वा भावयामि मुहुर्मुहुः ॥  
विकल्पोपन्यासैरलमलमर्माभिर्भवकरैः  
असंख्यानन्दात्मा निसिलनयराशंगविषयः ।

अयं द्वैताद्वैतो न भवति ततः कश्चिच्चिरात्  
तमेकं वन्देहं भवभयविनाशाय सततम् ॥  
मुखं दुःखं योनां मुकुलदुरितवानजनिनं  
शुभाभाशो भूयोऽशुभपारिणतिर्वा न च न च ।

यदेकस्याप्युच्चैर्भवपरिचयो षाट्मिह नो  
य एवं संन्यस्तो भवगुणगणैः स्तौमि तमहम् ॥  
इदमिदमपसेनावैजयन्तीं हरंताम्  
सुदितसहजतेजःपुंजदूर्गाकृतांहः ।

प्रबलतरतमस्तोमं सदा शुद्धशुद्धं—  
जयति जयति नित्यं चिष्यमत्कारमात्रम् ॥  
जयत्यनघमात्मतन्वामिदमस्तसंगारकम्  
महामुनिगणाधिनायहृदयारविन्दस्थितम् ।

विमुक्तभवद्वाग्णं म्फुटितशुद्धमेकान्ततः

सदा निजमहिम्नि लीनमपि मद्गृहशां गोचरम् ॥

अत्राप्यान्मेषोपादेय इत्युक्तः ।

११ जस्स सण्णिहिदो अप्पा संजमे णियमे तवे ।

तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥ १२७ ॥

यस्य सन्निहिते आत्मा संयमे नियमे तपसि ।

तस्य मामायिकं स्यापि इति केवलिसासने ॥ १२७ ॥

तस्य सद्गु बाह्यप्रपञ्चपराङ्मुखस्य निर्जितासिलेन्द्रियव्यापारस्य मा-  
विजिनस्य पापक्रियानिवृत्तिरूपे बाह्यसमय कायवाङ्मनोगुतिरूपसकले-  
न्द्रियव्यापारवर्जितेऽभ्यन्तरात्मनि परिमितिकालाचरणमात्रे नियमेन पर-  
ब्रह्मचिन्मयनियतनिश्चयान्तर्गताचारे स्वस्य स्वरूपेऽविचलस्थितिरूपे व्यव-  
हारप्रपञ्चांचितपञ्चाचारे पञ्चमगतिहेतुभूते किञ्चन मात्रप्रपञ्चपरिहीणे  
सकलदुराचारनिवृत्तिकारणे परमतपश्चरणे च परमगुरुप्रसादोदितनिर्गजन-  
निजकारणपरमात्मा सदा सन्निहित इति केवलिसां शासने तस्य परद्रव्य-  
पराङ्मुखस्य परमवीतरागसम्यग्दृष्टेर्वीतरागचारित्रभाजः सामायिकव्रतं-  
स्यापि भवतीति ।

आत्मा नित्यं तपसि नियमे संयमे सच्चरित्रे

तिष्ठत्युच्चैः परमयमिनां शुद्धदृष्टेर्मनश्चेत् ।

तस्मिन् वाटं भवभयहरे भावितीर्याधिनाथे

साक्षाद्देहा सहजसमता प्रास्तरागाधिरामे ॥

इह हि रागद्वेषाभावादपरिस्पंदरूपत्वं भवतीत्युक्तम्—

११ जस्स रागो दु दोसो दु विगडिं ण जणेति दु ।

तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥ १२८ ॥

यस्य शगस्तु द्वेषस्तु विद्वर्तं न मनयति तु ।

तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलशासने ॥ १२८ ॥

यस्य धर्मदीनसगमन्यमिनः पापाटर्वापाङ्कनय गगो वा द्वेषो वा विद्वर्तं नावनगति तस्य मत्तानन्दाभिन्नादिणः जीवस्य पञ्चेन्द्रियप्रसरव-  
ग्निगणप्रमात्रसमिहस्य सामादिकनामवतं शाश्वतं भवतीति केवलिनं  
शासने भवतीति ।

गणद्वेषो विद्वर्तमिह तौ नैव कर्तुं समर्थौ

ज्ञानज्योतिःसहतदुर्गितार्तःकषोगन्धकारे ।

आगर्तायि सहजपरमानन्दपीयूषपुरे

तस्मिन्नित्ये समस्तसमये को विधिः को निषेधः ॥

आर्तगैद्रध्यानपरित्यागात् मनातनसामायिकव्रतस्वरूपाख्यानमेतत्—

१) जो दु अहं च रुहं च ह्याणं वज्रदि णिच्चसो ।

तस्स सामाहगं ठाई इदि केवलिसासणे ॥ १२९ ॥

यस्त्वार्त्तं च रीद्रं च ध्यानं वर्नयति नित्यशः ।

तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलशासने ॥ १२९ ॥

यस्तु नित्यनिर्गजननिजकागणसमयमास्वरूपनिपतशुद्धनिधयपरमवर्त-  
रागमुसासृतपानपगयणो जीवः तिर्यग्योनिप्रेतावासनारकादिगतिप्रायो-  
ग्यतानिमिन आर्तगैद्रध्यानदर्थं नित्यशः संत्यजति तस्य सलु केवर्त्त-  
दर्शनसिद्ध शाश्वत सामायिकव्रतं भवतीति ।

इति जिनशासनसिद्धं सामायिकव्रतमणुव्रतं भवति ।

यस्त्यजतिमुनिर्नित्यं, ध्यानदयमार्तगैद्राख्यम् ॥

शुभाशुभपरिणामरुमपजनितमुकृतदुरितकर्मसंन्यामविधानाख्यानमेतत्—

॥ जो दु पुण्णं च पायं च मायं वज्रदि णिच्चसा ।

तस्स सामाहगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥ १३० ॥



सर्वं कृणुं न सर्वं न सर्वं कर्तव्यं विष्णवे ।

सर्वं साक्षात्किं कर्तव्यं नो साक्षात्कृत्यते ॥ १३० ॥

सर्वं कर्तव्यं न सर्वं न सर्वं कर्तव्यं विष्णवे ।  
 सर्वं साक्षात्किं कर्तव्यं नो साक्षात्कृत्यते ॥ १३० ॥  
 सर्वं कर्तव्यं न सर्वं न सर्वं कर्तव्यं विष्णवे ।  
 सर्वं साक्षात्किं कर्तव्यं नो साक्षात्कृत्यते ॥ १३० ॥

सर्वं कर्तव्यं न सर्वं न सर्वं कर्तव्यं विष्णवे ।  
 सर्वं साक्षात्किं कर्तव्यं नो साक्षात्कृत्यते ॥ १३० ॥  
 सर्वं कर्तव्यं न सर्वं न सर्वं कर्तव्यं विष्णवे ।  
 सर्वं साक्षात्किं कर्तव्यं नो साक्षात्कृत्यते ॥ १३० ॥

सर्वं कर्तव्यं न सर्वं न सर्वं कर्तव्यं विष्णवे ।  
 सर्वं साक्षात्किं कर्तव्यं नो साक्षात्कृत्यते ॥ १३० ॥  
 सर्वं कर्तव्यं न सर्वं न सर्वं कर्तव्यं विष्णवे ।  
 सर्वं साक्षात्किं कर्तव्यं नो साक्षात्कृत्यते ॥ १३० ॥  
 सर्वं कर्तव्यं न सर्वं न सर्वं कर्तव्यं विष्णवे ।  
 सर्वं साक्षात्किं कर्तव्यं नो साक्षात्कृत्यते ॥ १३० ॥  
 सर्वं कर्तव्यं न सर्वं न सर्वं कर्तव्यं विष्णवे ।  
 सर्वं साक्षात्किं कर्तव्यं नो साक्षात्कृत्यते ॥ १३० ॥

नषनोऽप्यपदिनयेन समामादि नमामादिः ॥ १३१ ॥  
 १० जो दु हस्तं रई सोमं अरतिं यज्ञोदि पिथमा ।  
 तस्स सामाङ्गं ठाई इदि केवळिसासणे ॥ १३१ ॥

११ जो दुःखं भयं वेदं सर्वं वर्जयेद् विद्यायाः ।

तस्मै सामाहिकं ठाई इति केवलशास्त्रे ॥ १३२ ॥ जुम्भं

यस्तु हास्यं रतिं शोकं अरतिं वर्जयति नित्यशः ।

तस्य सामाहिकं स्थायि इति केवलशास्त्रे ॥ १३१ ॥

यः जुम्भं भयं वेदं सर्वं वर्जयति नित्यशः ।

तस्य सामाहिकं स्थायि इति केवलशास्त्रे ॥ १३२ ॥ जुम्भं ।

मोक्षनीयकर्मसमुपजनितस्त्रीपुत्रपुंसकवेदहास्यपरत्यरतिशोकभयदुःखसाभिधाननवनोकपायकलितकलंककामकसमस्तविकारजालकं परमममाधिबलेन यस्तु निश्चयस्त्वत्रयात्मकपरमतपोधनः संत्यजति, तस्य खलु केवलि-महारकशासनसिद्धपरमसामाहिकाभिधानवत् शाश्वतरूपमनेन सूत्रद्वयेन कथितं भवतीति ।

त्वज्जाम्येतत्सर्वं ननु नवकपायात्मकमहम्

मुदा संसारर्षीजनितमुसदुःखावलिकरं ।

महामोहान्धानां सततमुल्लभं दुर्लभकर्म

सामार्थं निष्ठानामनवरतमानन्दमनसां ॥

परमसमाध्यधिकारोपसंहारोपन्यासोऽयम्—

११ जो दुः धर्मं च सुखं च ज्ञानं ज्ञाएदि विद्यायाः ।

तस्मै सामाहिकं ठाई इति केवलशास्त्रे ॥ १३३ ॥

यस्तु धर्मं च सुखं च ध्यानं ध्यायति नित्यशः ।

तस्य सामाहिकं स्थायि इति केवलशास्त्रे ॥ १३३ ॥

यस्तु सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनलोलुपः परमजिनयोगीश्वरः स्वात्मा-श्रयनिश्चयधर्मध्यानेन निश्चितविकल्पजालनिर्मुक्तः, निश्चयशुद्धध्यानेन च अनवरतमसंहादैतसहजचिद्विद्यासलक्षणमभयानन्दाम्भोधिमज्जनं सकल-

बाह्यक्रियापराङ्मुखं शश्वदंतःक्रियाधिकरणं स्वात्मनिष्ठनिर्विच्छम्परमममा-  
धिसंपत्तिकारणाभ्यां ताभ्यां धर्मशुक्लव्यानाभ्यां सदाशिवत्मात्मकमात्मानं ध्या-  
याति हि तस्य सत्तु जिनैस्वर्गशामनं निष्पन्नं नित्यं शुद्धं त्रिगुणितुल्य-  
मसमाधिलक्षणं शाश्वतं मामाधिकृतं भवतीति ।

शुक्लव्याने परिणतिमतिः शुद्धरत्नत्रयात्मा

धर्मध्यानेष्यनघपरमानन्दतत्त्वाश्रितेऽस्मिन् ।

प्राप्तोत्युच्चैरपगतमहद्दुःसजालं विशालं

भेदाभावात् किमपि मविनां वाङ्मनोमार्गदुग्म् ।

इति सुकविजनपयोजमित्र-यंचेन्द्रियप्रसरवर्जिन-गात्रमात्रपरिग्रहपद्मप्रम-

मलधारिदेवविरचितायां नियमसारख्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ

परमसमाध्यधिकारो नवमः श्रुतस्कन्धः । ९ ।

अथं संप्रति हि भक्त्यधिकार उच्यते ।

रत्नत्रयस्वरूपाख्यानमेतत्—

सम्मत्तणार्णोचरणे जो मत्तिं कुणइ सावगो समणो ।

तस्स दु णिब्बुदिमत्ती होदित्ति जिणेहि पण्णत्तं ॥ १३४ ॥

सम्यक्त्वज्ञानचरणेषु यो भक्तिं करोति श्रावकः श्रमणः

तस्य तु निर्वृत्तिभक्तिर्भवतीति जिनैः प्रज्ञप्तम् ॥ १३४ ॥

चतुर्गतिसंसारपरिग्रहणश्रमणकारणतीव्रमिथ्यात्वकर्मप्रकृतिप्रतिपक्षनिज-  
परिमातमत्तत्त्वसम्यक्श्रद्धानावबोधाचरणात्मकेषु शुद्धरत्नत्रयपरिणामेषु  
मजनं भक्तिराराधनेत्यर्थः । एकादशपदेषु श्रावकेषु जघन्या पदं, च  
मध्यमाद्यः, उत्तमौ द्वौ च, एते सर्वे शुद्धरत्नत्रयभक्तिं कुर्वन्ति । अथ  
भवमयभीरवः परमनैष्कर्म्यवृत्तयः परमतपोधनाश्च रत्नत्रयभक्तिं कुर्व-

न्ति, तेषां परमभक्त्याणां परमतपोधनानां च जिनोत्तमैः प्रज्ञाया निर्वृतिभक्ति-  
स्फुनर्भेषपुंशिकासेवा मयतीति ।

सम्यक्त्वेऽस्मिन् भवभयहरे शुद्धबोधे चरित्रे  
भक्तिः कुर्यादनिशमत्तुर्ता यो भवेद्ब्रह्म दक्षा ।  
कामबोधायसिद्धदुरपवातनिर्मुक्तचेताः  
भक्तो भक्तो भवति सततं श्रावकः संयमी वा ॥

व्यवहारनयप्रधानसिद्धभक्तिस्वरूपाभ्यानेमेततः—

मोकरंगयपुरिताणं गुणभेदं जाणिऊण तेसिपि ।  
जो कुणदि परमभक्तिं व्यवहारणयेण परिक्हिय ॥१३५॥

मोक्षगतपुरुषाणां गुणभेदं ज्ञात्वा तेषामपि ।  
य करोति परमभक्तिं व्यवहारनयेन परिकथितम् ॥ १३६ ॥

ये पुराणपुण्याः समस्तकर्मशयोपापहेतुभूतं कारणवरमात्मानमभेदानु-  
पचाररत्नत्रयपरिणत्या सम्यगाराभ्य सिद्धा जातास्तेषां केषलज्ञानादि-  
शुद्धगुणभेदं ज्ञात्वा निर्वाणपरंपरोहेतुभूतां परमभक्तिभासक्रमव्याः करोति  
तस्य मुमुक्षोर्व्यवहारनयेन निर्वृतिभक्तिर्भवतीति ।

उद्धतकर्मसंदोहान् सिद्धान् सिद्धयधुधवान् ।  
संघाताष्टगुणैश्चर्यान् नित्यं वन्दे शिवालयान् ॥  
व्यवहारनयस्येत्थं निर्वृतिभक्तिर्जिनोत्तमैः प्रोक्ता ।  
निधयनिर्वृतिभक्ती रत्नत्रयभानित्युना ।  
निःशेषदोषदूरं केषलबोधादिशुद्धगुणानिलयं ।  
शुद्धोपयोगफलमिति सिद्धत्वं प्राहुराचार्याः ॥  
ये लोकान्निवासिनो भवभवद्वेष्टार्णवान्तं गता  
ये निर्वाणवधूटिकास्तनभराह्लेषोत्पसौल्याकराः ।

ये शुद्धात्मविभाजनोद्भवमहाकैवल्यमंगशुणाः  
 तान् सिद्धानभिर्नोम्यहं प्रतिदिनं पापाट्टवीपावकान् ॥  
 त्रैलोक्याग्रनिकेतान् गुणगुरून् ज्ञेयाच्चिपारंगतान्  
 मुक्तिर्भावनितामुग्राम्बुजग्वीन् स्वार्थिनमौम्यार्णवान् ।  
 सिद्धान् सिद्धगुणाष्टकान् भवहरान् नष्टाष्टकर्मोल्हरान्  
 नित्यान् तान् शरणं व्रजामि मततं पापाट्टवीपावकान् ॥  
 ये मर्त्यदेवनिपुरम्बपरोऽभक्तिः—

योग्याः सदा शिवमयाः प्रवगाः प्रसिद्धाः ।

सिद्धाः सुसिद्धरमणीसुमनोजवकाः—

पंकेरुहोरुमकरंदमधुव्रताः स्युः ॥

निजपरमात्मभक्तिस्वरूपात्यानमेतत्—

मोक्षपथे अप्पाणं ठविऊण य कुणदि णिब्बुदी मत्ती ।  
 तेण दु जीवो पावइ असहायगुणं णियप्पाणं ॥ १३६ ॥

मोक्षपथे आत्मानं संस्थाप्य च करोति निवृत्तेर्भक्तिं ।

तेन तु जीवः प्राप्नोत्यसहायगुणं निजात्मानम् ॥ १३६ ॥

भेदकल्पनानिरपेक्षनिरुपचाररत्नत्रयात्मके निरुपरागमोक्षमार्गे निरंजननि  
 जपरमात्मानंदर्पीयूपपानाभिमुखो जीवः स्यात्मानं संस्थाप्यापि च करोति  
 निवृत्तेर्भक्तिस्तद्गनायाः चरणनलिने परमां भक्तिं, तेन कारणेन स भव्यो भक्ति  
 गुणेन निरावरणसहजज्ञानगुणत्वादसहायगुणात्मकं निजात्मानं प्राप्नोति ।

आत्मा ह्यात्मानमात्मन्यविचलितमहाशुद्धरत्नत्रयेऽस्मिन्

नित्ये भीमुक्तिहेतौ निरुपमसहजज्ञानदृक्शीलरूपे ।

संस्थाप्यानंदमास्वाप्तिरतिशयगृहं चिच्चमत्कारमवत्या

प्राप्नोत्युच्चैरयं यं विगलितपत्रं सिद्धिसीमन्तिनीशः ॥

निश्चययोगभक्तिस्वरूपास्यानभेदतः—

रायादीपरिहारे अप्पाणां जो हु जुंजदे साहू ॥

सो जोगमत्तिजुत्तो इदरस्स प फहं हये जोगो ॥१३७॥

रागादिपरिहारे आत्मानं यन्तु युनक्ति साधुः ।

स योगभक्तियुक्तः इतरस्य च कथं भवेद्योगः ॥ १३७ ॥

निश्चययोगान्तर्मुखाकारपरमममाधिना निश्चितमोहरागद्वेषादिपरिहाराणां परिहारे सति यन्तु साधुगसक्तभक्त्यः निजेनासंटाद्धैतपरमानंदस्वरूपेण निजकारणपरमात्मानं युनक्ति स परमनपोधन एव शुद्धनिश्चययोगभक्तिभक्तः । इतरस्य बाह्यप्रपंचसुरस्य कथं योगभक्तिर्भवति ।

नयाचौकम्—

“ आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः ।

तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते ” ॥

सुधाहि—

आत्मानमात्मनात्मार्यं युनक्त्येव निरन्तरम् ।

स योगभक्तियुक्तः स्यान्निश्चयेन मुनीश्वरः ॥

अत्रापि पूर्वसूत्रवन्निश्चययोगभक्तिस्वरूपमुक्तम्—

सद्यविषयप्पामाधे अप्पाणं जो हु जुंजदे साहू ।

सो जोगमत्तिजुत्तो इदरस्स प फहं हये जोगो ॥ १३८ ॥

सर्वविकल्पाभावे आत्मानं यन्तु युनक्ति साधुः ।

स योगभक्तियुक्तः इतरस्य च कथं भवेद्योगः ॥ १३८ ॥

अत्यपूर्वविरूपरागाद्व्ययत्नयात्मनिजचिदिष्टासत्संज्ञानिर्विकल्पपरमसमाधिना निश्चितमोहरागद्वेषादिविधिविकल्पाभावे परमसमरसीभावेन निःशेषतोऽन्तर्मुसनिजकारणसमयसारस्वरूपमत्यासक्तभक्त्यः सदा युक्त एव, तस्य सत्तु निश्चययोगभक्तिर्भान्वेषाम् इति ।

मेद्रामात्रे सतीयं स्याद्योगमक्तिरनुत्तमा ।

तयात्मलब्धिरूपा सा मुक्तिर्भवति योगिनाम् ॥

इह हि निखिलगुणधरगणधरदेवप्रभृतिजिनमुनिनाथकथिततत्त्वेषु विपरी-  
ताभिनिवेशविवर्जितात्मभाव एव निश्चयपरमयोग इत्युक्तः ।

विवरीयामिणिवेसं परिचत्ता जेण्हकहियतत्त्वेसु ।

जो जुंजदि अप्पाणं णियभावे सो हवे जोगो ॥ १३९॥

विपरीताभिनिवेशं परित्यक्त्वा जैनकथिततत्त्वेषु ।

यो युनक्ति आत्मानं निजभावः स भवेद्योगः ॥ १३९ ॥

अपरसमयतीर्थनायाभिहिते विपरीते पदार्थे ह्यभिनिवेशो दुराग्रह एव  
विपरीताभिनिवेशः । अमुं परित्यज्य जैनकथिततत्त्वानि निश्चयव्यवहा-  
नयाम्याम् बोद्धव्यानि, सकलजिनस्य भगवतस्तीर्थाधिनाथस्य पादप-  
क्षोपजीविनो जैनाः, परमार्थतो गणधरदेवादय इत्यर्थः । तेरभिहि-  
तानि निखिलजीवादितत्त्वानि तेषु यः परमजिनयोगीश्वरः स्वात्मानं युनक्ति  
तस्य च निजभाव एव परमयोग इति ।

तत्त्वेषु जैनमुनिनाथमुसारविद-

व्यक्तेषु भव्यजनताभवघातकेषु ।

त्यक्त्वा दुराग्रहममुं जिनयोगिनाथः

साक्षाद्युनक्ति निजभावमयं स योगः ॥

मक्त्याधिकारोपसंहारोपन्यासोयम्:—

उसहादिजिणवरिन्दा एवं काऊण जोगवरमत्तिं ।

णिव्वुदिसुहमावण्णा तम्हा धरु जोगवरमत्तिं ॥ १४० ॥

वृषभादिजिनवरेन्द्रा एवं कृत्वा योगवरमक्तिं ।

निर्कृतिसुखमापश्नास्नाद्धारय योगवरमक्तिं ॥ १४० ॥

अस्मिन् किल भारतेवर्षे षुग किल श्रीनाभेयादिभ्रीवर्द्धमानचरमाः  
 चतुर्विंशतितीर्थेकरपरमदेवाः सर्वज्ञवीतरागा त्रिभुवनकर्त्तृकीर्त्तयो महा-  
 देवाधिदेवाः परमेश्वराः सर्वे एवमुत्प्रकारस्थात्मसंबन्धिनी शुद्धनिधय-  
 योगवरभक्तिं कृत्वा परमनिर्वाणवधुटिकापीवरस्तनभरगाटोपगुडनिर्मगर्द-  
 परममुरसपुष्परिगुत्तसर्वात्मप्रदेशा जाताः, ततो सूर्य महाजनाः स्फुटित-  
 मव्यन्वगुणास्तां स्वात्मार्यपरमवीतरागसुखप्रदां योगभक्तिः कुञ्चेति ।

नाभेयादिजिनेश्वरान् गुणगुरुरन् वेदोरयपुण्योत्तरान्  
 श्रीदेवेन्द्रकिरीटकोटिविदग्मन्मणिगणयमालावितान् ।

पौलोमीप्रभृतिप्रसिद्धदिविजाधीशांगनासंहतेः

शक्रेणोद्भवभोगहासविमलान् श्रीकीर्त्तिनाथान् स्तुवे ॥

शुभभादिवीरपद्मिजिनपतयोष्ववमुक्तमार्गेण ।

कृत्वा तु योगभक्तिं निर्वाणवधुटिकासुरां यान्ति ॥

अपुनर्भवसुरासिद्धौ कुर्वन्तं शुद्धयोगवरभक्तिम् ।

संसारघोरभीत्या सर्वे कुर्वन्तु जन्तवो नित्यम् ॥

रागद्वेषपरंपरापरिणतं चेतो विहायाधुना ।

शुद्धध्यानसमाहितेन मनसानेदात्मतत्त्वास्थितः ।

धर्म निर्मलशर्मकारिणमहं हृद्यया गुणेः सभिधौ ।

ज्ञानापास्तसमस्तमोहमादिमा लीये परब्रह्मणि ॥

निर्वृतेन्द्रियलौक्यानां तत्त्वलोदुपचेतसां ।

सुन्दरानन्दनिष्यन्दं जायते तत्त्वमुत्तमम् ॥

अत्यपूर्वनिजाम्बोत्थभादनाजातशर्मणे ।

घतन्ते घतयो धे ते अविन्मुक्ता हि नापरे ॥

अद्भुतनिष्टमनसं परमात्मतत्त्वं

सिंभारयामि तद्दहं दुनरेकमेवम् ।



भेदाभावे सतीर्ण इत्ययोगप्रतिश्रुत्या ।

तदात्मजनिष्ठा मा मुक्तिर्भावि गोष्ठिम् ॥

इदं हि निमित्तमुक्ततात्पर्यात्परेष्वभिनिर्गतमनुनिनायकृष्टिण्यभेदं वि-  
ताभिनिर्गताविनिर्गतामभाय एव निधयत्तमयोग इत्युक्तः ।

विबरीषामिणिवंशं परिचया जेष्ठकृष्टियतनेषु ।

जो जुंजदि अप्पाणं णिपभाये सो ह्यं जोगो ॥ १३५ ॥

विरिणाभिनिर्गते पणित्यात्मा जैनविरिणवदेषु ।

यो युनक्ति आत्मानं निजभायः स भोगो ॥ १३६ ॥

अयममदीर्घनायकभित्तिरे विरिणे परार्थे षडभिनिर्गते दुराग्र ए  
विरिणाभिनिर्गते । अमुं पणित्यात्मा जैनकृष्टियतन्यानि निधयत्तमव-  
नपाम्याम् बौद्धध्यानि, गच्छजिनस्य भगवन्मूर्तिर्भाविनायक्य पाद-  
द्वेषदीपिनो जेनात्, परमार्थतो जगन्मदेकद्वय इत्यर्थः । तेनिरि-  
तानि निशिलजीवादितत्त्वानि तेषु यः परमजिनयोगीश्वरः स्वात्मानं युनक्ति  
तस्य च निजभाय एव परमयोग इति ।

तत्त्वेषु जैनमुनिनाथमुस्तागविद्-

व्यनेषु भव्यजनतामवधातकेषु ।

त्यस्त्वा दुराग्रहममुं जिनयोगिनाथः

साक्षाद्युनक्ति निजभावमयं स योगः ॥

भक्त्याधिकारोपसंहारोपन्यासोयम्—

उसहादिजिणवरिन्दा एवं काऊण जोगवरमत्तिं ।

णिव्वुदिसुहमावण्णा तम्हा धरु जोगवरमत्तिं ॥ १४० ॥

वृषभादिजिनवरेन्द्रा एवं कृत्वा योगवरमक्तिं ।

निर्वृत्तिसुम्भमापत्तास्तस्माद्धारय योगवरमक्तिं ॥ १४० ॥

अस्मिन् किञ्च भारतेवर्षे पुरा किञ्च श्रीनाभेयादिश्रीवर्द्धमानचरमाः  
 चतुर्विंशतिर्नार्यकरपरमदेवाः सर्वज्ञवीतरागाः विभुवनवर्तिर्कीर्तयो महा-  
 देवाधिदेवाः परमेश्वराः सर्वे एवमुत्प्रकारस्वात्मसंबन्धिनीं शुद्धनिश्चय-  
 योगवरभक्तिं कृत्वा परमनिर्वाणवधुष्टिकापीवरस्तनमरणाद्रोपगुहानिर्भरानन्द-  
 परमसुरसूपरपरिवृत्तसर्वात्मप्रदेशा जाताः, ततो यूयं मराजनाः स्फुटित-  
 मव्यन्वगुणास्तां स्वात्मार्यपरमधीनरागमुमप्रदां योगभक्तिं कुप्तेति ।

नाभेयादिजिनेश्वरान् गुणगुरून् श्रेयोमयपुण्योत्करान्  
 श्रीदेवेन्द्रकिरीटकोटिविलसनमाणिभ्यमाहावर्षितान् ।

पौलोर्माप्रभृतिप्रसिद्धदिविजाधीशांगनामहतेः

शक्रेणोद्भवमोगहासविमलान् श्रीकीर्तिनाथान् स्तुवे ॥

कृपभादिर्वीरपद्मिचमजिनपतयोप्येवमुक्तमार्गेण ।

कृत्वा तु योगभक्तिं निर्वाणवधुष्टिकासुगं यान्ति ॥

अपुनर्भवसुरासिद्धये कुर्वेहं शुद्धयोगवरभक्तिम् ।

संसारधोर्भान्या सर्वे कुर्वन्तु जन्तवो नित्यम् ॥

रागद्वेषपरंपरापण्डितं चेतो विहायाधुना ।

शुद्धध्यानममाहितेन मनसानंदात्मतत्त्वास्थितः ।

धर्म निर्मलशर्मकारिणमहं लब्ध्वा गुरोः सन्निधौ ।

शानापास्तसमस्तमोहमाहिमा लीये परब्रह्मणि ॥

निवृत्तिन्द्रियलौब्धानां तत्त्वलोटुपचेनसां ।

सुन्दरानन्दनिष्यन्दं जायते तत्त्वमुनमम् ॥

अत्यपूर्वनिजात्मोत्पभावनाजालशर्मणे ।

यतन्ते यतयो ये ते जीवन्मुना हि नापरे ॥

अहन्द्वनिष्टमनर्ष परमात्मतत्त्वं

संभावयामि तदहं पुनरेकमेकम् ।

भेदामावे सर्तीयं स्याद्योगभक्तिरनुनमा ।

तयात्मलब्धिरूपा सा मुक्तिर्भवति योगिनाम् ॥

इह हि निस्त्रिलगुणधरगणधरदेवप्रभृतिजिनमुनिनाथकथिततत्त्वेषु विपरी-  
ताभिनिवेशविवर्जितात्मभाव एव निश्चयपरमयोग इत्युक्तः ।

विवरीयामिणिवेसं परिचत्ता जेण्हकहियतच्चेसु ।

जो जुंजदि अप्पाणं णियमावे सो हवे जोगो ॥ १३९ ॥

विपरीताभिनिवेशं परित्यक्त्वा जैनकथिततत्त्वेषु ।

यो युनक्ति आत्मानं निजभावः स भवेद्योगः ॥ १३९ ॥

अपरसमयतीर्थनाथाभिहिते विपरीते पदार्थे ह्यभिनिवेशो दुराग्रह एव  
विपरीताभिनिवेशः । अमुं परित्यज्य जैनकथिततत्त्वानि निश्चयव्यवहार-  
नयाम्याम् बोद्धव्यानि, सकलजिनस्य भगवत्सर्तार्याधिनाथस्य पादप-  
द्मोपजीविनो जैनाः, परमार्थतो गणधरदेवादय इत्यर्थः । तैरभिहि-  
तानि निस्त्रिलगुणधरदेवप्रभृतिजिनमुनिनाथकथिततत्त्वानि तेषु यः परमजिनयोगेश्वरः स्वात्मानं युनक्ति  
तस्य च निजभाव एव परमयोग इति ।

तत्त्वेषु जैनमुनिनाथमुस्तारविंद-

व्यक्तेषु भव्यजनतामवघातकेषु ।

त्यक्त्वा दुराग्रहममुं जिनयोगिनाथः

साक्षाद्युनक्ति निजभावमयं स योगः ॥

भक्त्याधिकारोपसंहारोपन्यासोयम् -

उसहादिजिणवरिन्दा एवं काऊण जोगवरमत्तिं ।

णिब्बुदिसुहमावण्णा तम्हा धरु जोगवरमत्तिं ॥ १४० ॥

वृषभादिजिनवरेन्द्रा एवं कृत्वा योगवरभक्तिं ।

निर्भृतिमुत्तमापन्नास्तस्माद्धारय योगवरभक्तिं ॥ १४० ॥

अस्मिन् किल भारतेवर्षे पुरा किल श्रीनाभेयादिश्रीवर्द्धमानचरमाः  
चतुर्विंशतितीर्थकरपरमदेवाः सर्वशक्तीतरागाः त्रिभुवनवर्तिर्कीर्तयो महा-  
देवाधिदेवाः परमेश्वराः सर्वे एवमुक्तप्रकारस्वात्मसंबन्धिनीं शुद्धनिश्चय-  
योगवरभक्तिं कृत्वा परमनिर्वाणवधुष्टिकापीवरस्तनभगमाद्बोपगूत्रानिर्भरानन्द-  
परमसुरसपूरपरिवृत्तसर्वात्मप्रदेशा जाताः, ततो यूयं महाजनाः स्फुटित-  
मव्यत्वगुणास्तां स्वात्मार्थपरमवीतरागसुखप्रदां योगभक्तिं कुर्वतेति ।

नाभेयादिजिनेश्वरान् गुणगुरून् बेलोक्यपुण्योत्करान्  
श्रीदेवेन्द्रकिरीटकोटिविठसनस्मणिभ्यमालार्चिताम् ।

पाँड्योर्माप्रभृतिप्रसिद्धदिविजाधीशांगनासंहतेः

शक्रेणोद्भवभोगहासविमलान् श्रीकीर्तिनाथान् स्तुवे ॥

कृपभादिवीरपाश्चिमाजिनपतयोप्येवमुक्तमार्गेण ।

कृत्वा तु योगभक्तिं निर्वाणवधुष्टिकासुखं यान्ति ॥

अपुनर्भवसुरासिद्धये कुर्वेहं शुद्धयोगवरभक्तिम् ।

संसारपोगर्भित्वा सर्वे कुर्वन्तु जन्तवो नित्यम् ॥

रागद्वेषपरंपरापरिणतं चेतो विहायाधुना ।

शुद्धध्यानसमाहितेन मनसानंदात्मतत्त्वास्थितः ।

धर्म निर्मलशर्मकारिणमहं लब्ध्वा गुरोः सन्निधौ ।

शानापास्तसमस्तमोहमाहिषा ह्येते परब्रह्मणि ॥

निर्वृतेन्द्रियलौल्यानां तत्त्वलोटुपचेतसां ।

सुन्दरानन्दनिव्यन्दं जायते तत्त्वमुत्तमम् ॥

अत्यपूर्वनिजात्मोत्थभावनाजातशर्मणे ।

यतन्ते यतयो ये ते जीवन्मुक्ता हि नापरे ॥

अद्भुदनिष्टमनसं परमात्मतत्त्वं

संभावयामि तदहं पुनरेकमेवम् ।

भेदाभावे सर्वान् स्याद्योगमक्तिरनुनमा ।

तथात्मदन्विष्या मा मुक्तिर्भानि योगिनान् ॥

इह हि निमित्तगुणभङ्गगणनेन्दुभूतिजिनमुनिनादकृष्टितालेषु विर-  
ताभिनिवेशविजिनामभाव एव निष्कामयोग इत्युक्तः ।

चिवरीयाभिणियेसं परिचत्ता जेण्हकृहियतयेसु ।

जो जुंजदि अप्पाणं णियभावे सो हये जोगो ॥ १३७ ॥

विपरीताभिनिवेशं परित्यज्या जैनकथितनदेषु ।

यो युनक्ति आत्मानं निजमात्रः स भोगयोगः ॥ १३९ ॥

अपरसमयतीर्थनाथाभिहिते विपरिते पदार्थे ऋभिनिवेशो दुराग्रह ए  
विपरीताभिनिवेशः । अमुं परित्यज्य जैनकथितनद्वानि निश्चयव्यवहा-  
नयाम्याम् बोद्धव्यानि, सकलजिनस्य भगवतस्तीर्थार्थिनाथस्य पाद-  
घोषजीविनो जैनाः, परमार्थतो गणधरदेवादय इत्यर्थः । तैरभिहि-  
तानि निखिलजीवादितत्त्वानि तेषु यः परमजिनयोगीश्वरः स्वात्मानं युनक्ति  
तस्य च निजमात्र एव परमयोग इति ।

तत्त्वेषु जैनमुनिनाथमुस्वारविन्द-

व्यक्तेषु मव्यजनतामवघातकेषु ।

त्यक्त्वा दुराग्रहममुं जिनयोगिनाथः

साक्षाद्युनक्ति निजमात्रमयं स योगः ॥

मक्त्याधिकारोपसंहारोपन्यासोयम् —

उसहादिजिणवरिन्दा एवं काऊण जोगवरमत्तिं ।

णिब्बुदिसुहमावण्णा तम्हा धरु जोगवरमत्तिं ॥ १४० ॥

वृषभादिजिनवरेन्द्रा एवं कृत्वा योगवरभक्तिं ।

निर्वृत्तिसुखमापन्नास्तस्माद्धारय योगवरभक्तिं ॥ १४० ॥

अस्मिन् किल भारतेवर्षे पुरा किल श्रीनाभेयादिश्रीवर्द्धमानचरमाः  
चतुर्विंशतिरीर्यकरपरमदेवाः सर्वशरीतरागाः त्रिभुवनवर्तिर्कीर्तयो महा-  
देवाधिदेवाः परमेश्वराः सर्वे एवमुक्तप्रकारस्वात्मसंवन्धिनीं शुद्धनिश्चय-  
योगवरभक्तिं कृत्वा परमनिर्वाणवधूटिकापीवरस्तनभरणाद्रोपमूडानिर्भरानन्द-  
परममुरसपूरपरिदृप्तसर्वात्मप्रदेशा जाताः, ततो यूयं महाजनाः स्पुटित-  
मव्यत्वगुणास्तां स्वात्मार्थपरमशरीतरागमुत्तमदां योगभक्तिं कुरुतेति ।

नाभेयादिजिनेश्वरान् गुणगुरुन् ब्रैलोक्यपुण्योत्करान्  
श्रीदेवेन्द्रकिरीटकोटिविहसन्दमणिभ्यमाठार्चितान् ।

पौलोमीप्रभृतिप्रसिद्धदिविजाधीशोगनासंहतेः

शक्रेणोद्भवभोगहासविमलान् श्रीकीर्तिनाथान् स्तुत्रे ॥

वृषभादिदीरपाश्चिमाजिनपनयोष्वेवमुक्तमार्गेण ।

कृत्वा तु योगभक्तिं निर्वाणवधूटिकासुरं यान्ति ॥

अपुनर्भवसुरासिद्धये कुर्वेहं शुद्धयोगवरभक्तिम् ।

संसारपोगर्भित्या सर्वे कुर्वन्तु जन्तवो नित्यम् ॥

रागद्वेषपरंपरापरिणतं चेतो विहायाधुना ।

शुद्धध्यानसमाहितेन मनसानन्दरतमत्त्वास्थितः ।

धर्म निर्मलशर्मकारिणमहं लब्ध्वा गुरोः सन्निधौ ।

ज्ञानापान्तसमस्तमोहमाहिमा स्त्रीये परब्रह्मणि ॥

निर्वृतेन्द्रियहौल्यानां तत्त्वहोतृपचेतसां ।

सुन्दरानन्दनिष्यन्दं जायते तत्त्वमुत्तमम् ॥

अत्यपूर्वनिजात्मोत्थभावनाजातशर्मणे ।

यतन्ते यतयो ये ते जीवन्मुक्ता हि नापरे ॥

अद्भुतनिष्ठमनसं परमात्मतत्त्वं

संभावयामि तदहं पुनरेकमेकम् ।

किं तैश्च मे फलमिहान्यपदार्थसार्थैः

मुक्तिरृहस्य भवशर्मणि निःस्पृहस्य ॥

इति सुकविजनपयोजमित्र-भ्रंशेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्री पद्मप्रभ-  
मलधारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ  
परममक्त्याधिकारो दशमः श्रुतस्कन्धः ॥ १० ॥

अथ सांप्रतं व्यवहारपट्टावश्यकप्रातिपक्षशुद्धनिश्चयाधिकार उच्यते ।  
अत्रानवरतस्ववशस्य निश्चयावश्यककर्म भवतीत्युक्तम्:—

जो ण हवदि अण्णवसो तस्स दु कम्मं मणंति आवासं ॥  
कम्मविणासणजोगो णिव्वहिमग्गोत्ति पिज्जुत्तो ॥ १४१ ॥

यो न भवत्यन्यवशः तस्य तु कर्म मणन्त्यावश्यकम् ।

कर्मविनाशनयोगो निवृत्तिमार्ग इति प्रख्यापितः ॥ १४१ ॥

यः खलु यथाविधि परमजिनमार्गाचरणकुशलः सर्वदेवान्तर्मुसत्वादन-  
न्यवशो भवति किन्तु साक्षात्स्ववश इत्यर्थः । तस्य क्विन्न व्यवहारिकक्रिया-  
प्रपंचपराह्मुसस्य स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मध्यानप्रधानपरमावश्यककर्मास्ती-  
त्यनवरतं परमतपश्चरणनिरतपरमभिनयोगीश्वरा वदन्ति । किं च यद्विगुति-  
शुभपरमसमाधिदक्षणापरमयोगः सङ्कलकर्मविनाशहेतुः स एव साशान्मोक्ष-  
कारणात्वाभिर्नृत्तिमार्ग इति निरुक्तिर्युत्पत्तिरिति ।

तथाचोक्तममृतचन्द्रसूरिभिः ।

“ आत्मा धर्मः स्वयमितिभवन्प्राप्य शुद्धोपयोगं

नित्यानन्दप्रसरसरसज्ञानतत्त्वे निर्लीनं ।

प्राप्तोत्युच्चैश्चलितनया निःप्रकम्पप्रकाशात्

सहस्रं ज्योतिः सहजविलसद्ब्रह्मदीपस्य लक्ष्मी ॥ ”

तथाहि—

आत्मन्युच्चैर्भवति नियतं सच्चिदानन्दमूर्तो  
धर्मः साक्षात् स्ववशाजनितावश्यकमात्मकोयम् ।  
सौर्यं कर्मक्षयकरपटुर्निवृत्तेरेकमार्गः  
तेनैवाहं किमपि तरसा यामि शं निर्विकल्पम् ॥

अवशास्य परमजिनयोगीश्वरस्य परमावश्यककर्मावश्यं भवतीत्यत्रोक्तं—  
ण यसो अवसो अवसस्त कम्म धावस्तयंति बोधध्वा ।  
जुत्तिस्ति उवाअंति य णिरवयवो होदि णिजंत्ती ॥१४१॥

न वशो अवशः अवशास्य कर्म वाऽवश्यव्यमिति बोद्धव्यम् ।  
युक्तिरिति उपाय इति च निरवयवो भवति निरुक्तिः ॥ १४२॥

यो हि योगी स्वात्मपरिमहादन्येषां पदार्थानां वशं न गतः, अत एव  
अवश इत्युक्तः, अवशास्य तस्य परमजिनयोगीश्वरस्य निधयधर्मध्यानान्मकपर-  
मावश्यककर्मावश्यं भवतीति बोद्धव्यम् । निरवयवस्योपायो युक्तिः अव-  
यवी क्वायः अस्याभावात् अवयवाभावः । अवशः परद्रव्याणां निरवयवो  
भवतीति निरुक्तिः व्युत्पत्तिश्चेति ।

योगी कश्चिच्च हितनिरतः शुद्धजीवास्तिकायाद्  
अन्येषां यो न वश इति या संस्थितिः सा निरुक्तिः ।  
तस्मादस्य ग्रहतद्वरितध्वान्तपुञ्जस्य नित्यं  
स्फूर्जज्ज्योतिः स्फुटितसहजावस्थया मूर्तता स्यात् ॥

इह हि भेदोपचाररत्नत्रयपरिणतेर्जीवस्वावशत्वं न समर्त्नात्पुनरः—  
यद्दि जो सो समणो अण्णवसो होदि असुहभावेण ।  
तम्हा तस्त दु कम्म आवस्तयल्लक्खणं ण हवे ॥ १४३ ॥



किं तैश्च मे फलमिहान्यपदार्यमार्यैः

मुक्तिरगृहस्य भवशर्मणि निःस्पृहस्य ॥

इति सुकविजनपयोजमित्र-अंचेंद्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहत्री पद्मप्रन-  
मलधारिवेद्यविरचितार्था नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ  
परममक्त्याधिकारो दशमः श्रुतस्कन्धः ॥ १० ॥

अथ सांप्रतं व्यवहारपटावश्यकप्रतिपक्षशुद्धनिश्चयाधिकार उच्यते ।  
अत्रानवरतस्ववशास्य निश्चयावश्यककर्म भवतीत्युक्तम्ः—

जो ण हवदि अण्णवसो तस्स दु कम्मं भणंति आवासं ॥  
कम्मविणासणजोगो णिव्वहिमग्गोत्ति पिज्जुत्तो ॥ १४१ ॥

यो न भवत्यन्यवशः तस्य तु कर्म भणन्त्यावश्यकम् ।

कर्मविनाशनयोगो निवृत्तिमार्ग इति प्ररूपितः ॥ १४१ ॥

यः सलु यथाविधि परमजिनमार्गाचरणकुशलः सर्वदेवान्तर्मुसत्त्वादन-  
न्यवशो भवति किन्तु साक्षात्स्ववश इत्यर्थः । तस्य क्लिष्ट व्यवहारिकक्रिया-  
प्रपंचपराङ्मुखस्य स्वात्मान्त्रयनिश्चयधर्मध्यानप्रधानपरमावश्यककर्मास्ती-  
त्यनवरतं परमतपश्चरणनिरतपरमजिनयोगीश्वरा वदन्ति । किं च यत्रिगुति-  
गुह्यपरमसमाधिलक्षणपरमयोगः सकलकर्माविनाशहेतुः स एव साक्षान्मोक्ष-  
कारणात्वाभिर्बुद्धिमार्ग इति निरुक्तिर्व्युत्पत्तिरिति ।

तथाचोक्तममृतचन्द्रसूरिभिः ।

“ आत्मा धर्मः स्वयमितिभवत्प्राप्य शुद्धोपयोगं

नित्यानन्दप्रसरसरसज्ज्ञानतत्त्वे निर्लीनं ।

प्राप्तोत्युच्चैरचलिततया निःप्रकम्पप्रकाशात्

रसूर्जज्ज्योतिः सहजविलसद्ब्रह्मदीपस्य लक्ष्मीं ॥ ”

वर्तते यः स श्रमणोऽवशो भवत्यशुभभावेन ।

तस्मात्तस्य तु कर्मावश्यकलक्षणं न भवेत् ॥ १४३ ॥

अप्रशस्तरागाद्यशुभभावेन यः श्रमणामामो द्रव्यलिङ्गी वर्तते स्वस्व-  
पादन्येषां परद्रव्याणां वशो भूत्वा, ततस्तस्य जघन्यरत्नत्रयपरिणितैर्जी-  
वस्य स्वात्माश्रयधर्मव्यानलक्षणपरमावश्यककर्म न भवेदिति अशनार्थं द्रव्य-  
लिङ्गं गृहीत्वा स्वात्मकार्यविमुक्तः सन् परमतपश्चरणादिकमप्युदास्य  
जिनेन्द्रमंदिरं वा तत्क्षेत्रवास्तुधनधान्यादिकं वा सर्वमस्मदीयमिति  
मनश्चकारेति ।

अभिनवमिदमुच्चैर्माहनीयं मुनीनां

त्रिभुवनभुवनान्तर्ध्वात्पुंजायमानम् ।

तृणग्रहमपि मुक्त्वा तीव्रवैराग्यभावाद्

वसतिमनुपमां तामस्मदीयां स्मरन्ति ॥

कोपि ऋषि मुनिर्वभूव मुकृती काले कलावप्यलम्

मिथ्यात्वादिकलंकपंकरहितः सद्धर्मरक्षामणिः ।

सोयं संप्रति भूतले दिवि पुनर्देवैश्च संपृज्यते

मुक्तानेकपरिग्रहव्यतिकरः पापाटवी पावकः ॥

तपस्या लोकेस्मिन् निस्त्रिलसुधिया प्राणदयिता

नमस्या सा योग्या शतमस्रशतस्यापि सततम् ।

परिप्राप्येतां यः स्मरतिमिरसंसारजनितं

सुखं रेमे कश्चिद्गत कटिहतोऽसौ जहमति ।

अन्यवशः संसारी मुनिवेषधरोपि दुःसभाद्रित्यम् ।

स्ववशो जीवन्मुक्तः किञ्चिन्न्यूनो जिनेश्वरादेवः ॥

जत एव भाति नित्यं स्ववशो जिननाथमार्गमुनिवर्गं ।

अन्यवशो भात्येवं भृत्यप्रकरेषु राजवहुभवत् ॥

अत्राप्यन्यदशस्याशुद्धान्तरात्मजावस्य लक्षणमभिहितं—

जो चरदि संजदो खलु सुहभावे सो हवेइ अण्णवसो ।  
तन्हा तस्स इ कम्मं आवासयलक्खणं ण हवे ॥ १४४ ॥

यश्चरति संयतः खलु शुभभावे स भवेदन्यदशः ।

तस्मात्तस्य तु कर्मावश्यकलक्षणं न भवेत् ॥ १४४ ॥

यः खलु जिनेन्द्रवदनारविन्द्रविनिर्गतपरमाचारशास्त्रकृमेण सदा संयतः सख शुद्धोपयोगे चरति व्यावहारिकधर्मध्यानपरिणतः अत एव चरणकरणप्रधानः स्वाध्यायकालमवलोकयन् स्वाध्यायक्रियां करोति, देनं देनं भुक्त्वा भुक्त्वा चतुर्विधाहारप्रत्याख्यानं च करोति, तिमृषु संध्यामु भगवद्देहंस्वरोमेश्वरस्तुतिशतमुत्तरमुत्तरविन्दो भवति । त्रिका-  
लेषु च नियमपरायणः इत्यहोगत्रेभ्यैकादशक्रियात्वरपाक्षिकमासिक-  
चतुर्मासिकसावत्सरिणा (?) कर्णनममुपजनितपरितोपरोमाचकंचुकित-  
धर्मशरिः, अनेशनावमोद्व्यंरसपरित्यागवृत्तिपरिसंख्यानविविक्तशयनो-  
संनकायक्रेशाभिधानेषु षट्मु बाह्यतपरंमु च संततोत्साहपरायणः स्वाध्याय-  
ध्यानशुभाचरणप्रच्युतप्रैत्यवस्थोपनात्मकप्रायाश्चित्ताविनयवैयावृत्त्यव्युत्सर्गना-  
मधेयेषु चाभ्यन्तरतपोनुष्ठानेषु च कुशलवृद्धिः, किन्तु स निरपेक्षतपो-  
धनः साक्षान्मोक्षकारणं स्वात्माश्रयावश्यककर्म निश्चयतः परमात्मतत्त्व-  
विभ्रान्तिरूपं निश्चयधर्मध्यानं शुक्लध्यानं च न जानीते अतः परद्रव्यगत-  
स्वादिन्यवश इत्युक्तः । अस्य हि तपश्चरणनिरतचित्तस्यान्यवशस्य नाकलो-  
कादिक्रेशापरंपरया शुभोपयोगफलात्मभिः प्रशस्तरागागारैः पच्यमानः  
सक्षासन्नभव्यतागुणोदये सति परमगुरुप्रसादसादितपरमतत्त्वभ्रद्धानपरि-  
ज्ञानानुष्ठानात्मकशुद्धनिश्चयरत्नत्रयपरिणत्या निर्व्राणमुपपद्यतीति ॥

त्यजतु मुरलोकादिक्रेशे रतिं मुनिपुंगवो

भजतु परमानन्दं निर्व्राणकारणकारणं ।

सकलविमलज्ञानाशामं निरावरणात्मकं  
सहजपरमात्मानं दूरं नयानयसंहते ॥

अत्राप्यन्यदशस्य स्वरूपमुक्त्वा—

द्वन्द्वगुणपञ्जयाणां चित्तं जो कुणइ सोवि अण्णयसो ।  
मोहांधयारवधगयसमणा कहयंति एरिसयम् ॥ १४५ ॥

द्रव्यगुणपर्यायणां चित्तं यः करोति सोऽप्यन्यवशाः ।  
मोहान्धकारव्यपगतध्रमणाः कथयन्तीदृशम् ॥ १४६ ॥

य. कश्चिद् द्वयन्दिद्वधारी भगवद्दहंनुसारविन्दुमिनिर्मितमूलोत्तर-  
शार्थमार्थमतिगार्नसमर्थः कश्चित् पण्णा द्व्याणां मध्ये चित्तं धरे । कश्चि-  
नेषां मूर्तामूर्तचेतनाचेतनगुणानां मध्ये मनश्चकार, गुणस्तोषानर्थाप्यत्र-  
पर्यायाणां मध्ये बुद्धिं करोति । अपि तु त्रिकालनिरावरणानित्यानर्दुःख-  
निजकारणसमयमारस्वरूपनिरतसहजज्ञानादिगुणद्रव्यगुणपर्यायानाराधनमूर्त-  
निजात्मतन्त्रे चित्तं कश्चिदपि न योजयति अतएव स तपोऽन्योप-  
यन इत्युक्तं ।

अथैतद्दर्शनधारिणोऽहनीय इमेऽयं संधाताः परमात्मतत्त्वविवेक-  
धरोत्तरगन्तुम्यासु त्तानोऽनुशाः अरगा वि महाधरणाः परमधुनंके-  
टिना, ते सन्तु कथयन्तीदृशं अन्यादशस्य स्वरूपमिति ।

तथाचाकम् ।

" अहमकारं परिचय्य दृशदृशविदुषा ।  
यस्मिन् अज्ञानिनां किं तथा परिचयन्तथा " ॥

तथा चै—

यथाऽहमकारं परिचय्य तदाहंकारं यमुच्यते ।  
यत्तं तदवयवस्यै कश्चिदवयवस्यै चैव च ॥

अत्र हि साक्षात् स्ववशस्य परमजिनयोगीश्वरस्य स्वरूपमुक्तम्.—

परिचत्ता परिभावं अप्पाणं ज्ञादि णिम्मलसहावम् ।  
अप्पवसो सो होदि हु तस्स दु कम्मं भणन्ति आवासं १४६

परित्यक्त्वा परभावं आत्मानं ध्यायति निर्मलस्वभावम् ।

आत्मवशः स भवति खलु तस्य तु कर्म भणन्त्यावश्यम् ॥१४६॥

यस्तु निरुपमरामनिरंजनस्वभावत्वाद्बौद्धयिक्कादिपरभावानां समुद्रयं परित्यज्य कायकरणवाश्वामगोचरं सदा निरावरणत्वाभिर्मलस्वभावं निखिलदुरधवीरवैरिधाहिनीपताकालुंटाकं निजकारणपरमात्मानं ध्यायति स एवात्मवश इत्युक्तः । तस्याभेदानुपचारत्नत्रयात्मकस्य निखिलबाह्यक्रिया-  
कांढाढवरविविधविकल्पमहाकोलाहलप्रतिपक्षमहानंदानंदप्रदनिश्चयधर्मशुद्ध-  
ध्यानात्मपरमावश्यकर्म भवतीति ।

जयत्ययमुदारर्थाः स्ववशयोगिवुन्दारकः

प्रनष्टभवकारणः प्रहतपूर्वकम्माबिलिः ।

स्फुटोत्कटविवेकतः स्फुटितशुद्धबोधात्मिकाम्

सदाशिवमयां मुदा वज्रति सर्वथा निर्वृत्तिम् ॥

प्रध्वस्तपचबाणस्य पंचाचार्ताचिताकृतेः ।

अवंचकगुणैर्वाक्यं कारणं मुक्तिसंपदः ॥

इत्थं बुद्धा जिनेन्द्रस्य मार्गं निर्वाणकारणम् ।

निर्वाणसंपदं यान्ति यस्तं वंदे पुनः पुनः ॥

स्ववशयोगिनिकायविशेषक-

प्रहतचारुवधूकनकसूहः ।

त्वमसि नःशरणं भवकानने

स्मरकिरातशरक्षतचेतसाम् ॥

अनशनादितपश्चरणैः फलं  
तनुविशोषणमेव न चापरम् ।  
तव पदात्रुहृद्दयचितया  
स्ववशजन्म सदा सफलं मम ॥

जयति सहजतेजोराशिनिर्मग्नलोकः  
स्वसविसरपूरक्षालिताहः समंतात् ।  
सहजसमरसेनापूर्णपुण्यः पुराणः  
स्ववशमनसि नित्यं संस्थितः शुद्धचिद्धः ॥

सर्वज्ञवीतरागस्य स्ववशस्यास्य योगिनः ।  
न कामपि मिदां कापि तां चिन्मोहा जडा वयम् ॥

एक एव सदा धन्यो जन्मन्यास्मिन् महामुनेः ।

स्ववशः सर्वकर्मभ्यो वहिस्तिष्ठत्यनन्यधीः

शुद्धनिश्चयावश्यकप्राप्त्युपायस्वरूपाख्यानमेतत्:-

आवासं जइ इच्छसि अप्ससहावेसु कुणदि थिरभावमा  
तेण दु सामण्णगुणं संपुण्णं होदि जीवस्य ॥ १४७ ॥

आवश्यकं यदाच्छसि आत्मस्वभावेपु करोपि स्थिरभावं ।

तेन तु सामायिकगुणं सम्पूर्णं भवति जीवस्य ॥ १४७ ॥

इह हि बाह्यपदावश्यकप्रपंचकट्टोलेन कलकलध्वानपराड्मुक्त हे शिष्य  
शुद्धनिश्चयधर्मशुक्लध्यानात्मकस्वात्माश्रयावश्यकं संसारव्रततिमूलावित्रं  
यद् इच्छसि, समस्तार्थिकत्यजाटविनिर्मुक्तनिरंजननिजपरमात्मभावेपु  
सहजज्ञानसहजदर्शनसहजचारित्रसहजमुसप्रमुसेषु सततनिश्चलस्थिरभावं  
करोपि, तेन हेतुना निश्चयसामायिकगुणं जाते मुमुक्षोर्जीवस्य बाह्य-  
पदावश्यकक्रियाभिः किं जातम् अप्यनुपादेयं फलमित्यर्थः । अंतः

परमावश्यकेन निष्कियेण अपुनर्भवपुरन्धिकासंभोगहासप्रवीणेन जीवस्य सामाधिकचारित्रं सम्पूर्णं भवतीति । तथा चोक्तं श्रीयोगेन्द्रदेवेः—

यदि चलति कथंविन्मानसं स्वस्वरूपाद्

भ्रमति बहिरतस्ते सर्वदोषप्रसंगः ।

तदनवरतमंतर्ममसंलम्बचिन्तो

भव भवसि भवान्तःस्थापिधामापि यस्त्वम् ॥

तथाहि—

यद्येवं चरणं निजात्मनियतं सनारदुःसापह

मुक्तिभ्रीलटनासमुद्भवमुखस्योच्चैरिदं कारणम् ।

बुद्धेत्यं समयस्य सारमनघं जानाति यः सर्वदा

सोयं त्यक्तबहिःक्रियो मुनिपतिः पापाटवैषावकः ॥

अत्र शुद्धोपयोगाभिमुखस्य शिक्षणमुक्तम्—

आवासएण हीणो पचढो होदि चरणदो समणो ।

पुच्छुचकमेण पुणो तम्हा आवासयं कुज्जा ॥ १४८ ॥

आवश्यकेन हीनः प्रभ्रष्टो भवति चरणतः ध्रमणः ।

पूर्वाक्तक्रमेण पुनः तस्मादावश्यकं कुर्यात् ॥ १४८ ॥

अत्र व्यवहारनयेनापि समतास्तुतिवन्दनाप्रत्याख्यानादिषुदावश्यकपरि-  
हीणः भ्रमणभारिज्रपश्चिष्ट इति यावत्, शुद्धनिश्चयेन परमाध्यात्मभाष-  
योक्तनिर्विकल्पसमाधिस्वरूपपरमावश्यकक्रियापरिहीणभ्रमणो निश्चयचारि-  
त्रभूष्ट इत्यर्थः । पूर्वानिस्ववशस्य परमजिनयोगीश्वरस्य निश्चया-  
वश्यकक्रमेण स्वात्माभयनिश्चयधर्मशुद्धध्यानस्वरूपेण सदावश्यक  
करोतु परममुनिरिति ।

आत्मावश्ये सहजपरमावश्यकं धर्ममेकम्

कुप्यादुच्छेषकुटहरं निर्मितमूलभूतम् ।

सोयं नित्यं स्वरसविसरापूर्णगुण्यः पुराणः  
 वाचां दूरं किमपि सहजं शास्वतं शं प्रयाति ।  
 स्ववशस्य मुनीन्द्रस्य स्वात्मचिन्तनमुत्तमम् ॥  
 इदं चावश्यकं कर्म त्वान्मूलं मुक्तिर्दमणः ॥

अत्रावश्यककर्माभावे तपोधनो बहिरात्मा भवतीत्युक्तः ।

आवासएण जुत्तो समणो सो होदि अंतरंगप्पा ।  
 आवासयपरिहीणो समणो सो होदि बहिरप्पा ॥ १४९ ॥

आवश्यककेन युक्तः श्रमणः स भवत्यंतरंगात्मा ।

आवश्यकपरिहीणः श्रमणः स भवति बहिरात्मा ॥ १४९ ॥

अभेदानुपचाररत्नत्रयात्मकस्वात्मानुष्ठाननियतपरमावश्यककर्मगतवत्संयुक्तः स्ववशाभिधानपरमश्रमणः सर्वोत्कृष्टोऽन्तरात्मा, षोडशरूपायानन्मावादयं क्षीणमोहपद्वीं परिप्राप्य स्थितो महात्मा । असंयतसम्पत्तैर्जपन्त्यांतरात्मा । अनयोर्मध्यमाः सर्वे मध्यमान्तरात्मानः । निश्चयन्परहारनयद्वयप्रणीतपरमावश्यकक्रियाविहिनो बहिरात्मेति ।

उक्तं च मार्गप्रकाशे—

- “ बहिरात्मान्तगत्मेति स्यादन्यसमयो द्विधा ।  
 बहिरात्मानयोर्देहकरणावुतितात्मधीः ” ( ? )  
 “ जपन्त्यमध्यमोत्कृष्टभेदादरितः सुदृक् ।  
 प्रथमः क्षीणमोहोन्त्यो मध्यमो मध्यमस्तयोः ”

तथाहि—

योगी नित्यं सहजपरमावश्यककर्मप्रयुक्तः  
 मसारास्य प्रबलमुग्धुः स्यादधीदूरवर्ती ।  
 तस्मान्क्षीर्यं भवति नितगमन्तगन्मात्मनिष्ठः  
 स्वात्मभटो भवति बहिरात्मा बहिस्तन्निष्ठः ॥



बाह्याभ्यन्तरजल्पनिरासोपमः—

अंतरवाहिरजल्पे जो बहृइ सो हवेइ बहिरप्पा ।

जल्पेसु जो ण बहृइ सो उच्चइ अंतरंगप्पा ॥ १५० ॥

अन्तरबाह्यजल्पे यो वर्तते स भवति बहिरात्मा ।

जल्पेषु यो न वर्तते स उच्यतेऽन्तरगात्मा ॥ १५० ॥

यस्तु जिनलिंगधारी तपोधनाभासः पुण्यकर्मकांक्षया स्वाध्यायप्रत्या-  
ख्यानस्तवनादिबहिर्जल्पं करोति, अनशनंशयनपानस्थानादिषु सत्कारा-  
दिलाभलोभसञ्चन्तर्जल्पे मनश्चकारोति न बहिरात्मा जीव इति । स्वात्म-  
ध्यानपरायणत्सन् निरवशेषेणान्तर्मुखः प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तविकल्पजाल-  
केषु कदाचिदपि न वर्तते अत एव परमतपोधनः साक्षादंतरात्मेति । तथा  
चोक्तं श्रीमद्भूतचंद्रगुरिभिः—

स्वेच्छासमुच्छलद्दनल्पविकल्पजाला—

मेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षाम् ।

अन्तर्बहिः सुमरसैकरसस्वभावम्

स्व भावमेवमुपयात्युनुभूतिमात्रम् ॥

तथाहि—

मुक्त्वा जल्पं भवभयकरं बाह्यमाभ्यन्तरं च

स्मृत्वा नित्यं सभरसमयं चिद्धमत्कारमेकम् ।

शानज्योतिःप्रकटितनिजाभ्यन्तरांगातरात्मा

क्षीणे मोहे किमपि परमं तत्त्वमन्तर्ददर्श ॥

अत्र स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मशुद्ध्यानादितयमेवोपादेयमित्युक्तम्—

जो धम्मसुक्कझाणमिह परिणदो सोवि अंतरंगप्पा ।

झाणविहीणो समणो बहिरप्पा इदि विजाणीहि ॥१५१॥

यो धर्मशुक्लध्यानयोः परिणतः सोऽप्यन्तरंगात्मा ।

ध्यानविहीनः श्रमणो बहिरात्मेति विजानीहि ॥ १५१ ॥

इह हि साक्षादन्तरात्मा मगवान् क्षीणकषायः, तस्य सत्तु भगवतः क्षीणकषायस्य षोडशकषायाणामभावात् दर्शनचारित्रमोहनीयकर्मरागने विलयं गतं अतएव सहजचिदितासलक्षणामत्यपूर्वमात्मानं शुद्धनिश्चयधर्मशुक्लध्यानद्वयेन नित्यं ध्यायति आभ्यां ध्यानाभ्यान् विहीनो द्रव्यलिङ्गधारी द्रव्यश्रमणो बहिरात्मेति हे शिष्य त्वं जानीहि ।

कश्चिन्मुनिः सततानिर्मलधर्मशुक्लध्यानामृते समरसे सत्तु कर्तितः ।  
ताभ्यां विहीनमुनिको बहिरात्मकोऽयं पूर्वोक्तयोगिनमह शरणं प्रपद्ये ॥

किञ्च । केवलं शुद्धनिश्चयनयस्वरूपमुच्यते ।

“ बहिरात्मान्तरात्मेति विकल्पः कुधियामयम् ।

सुधियां न समस्त्येष संसाररमणीप्रियः ”

परमवीतरागचारित्रस्थितस्य परमतपोधनस्य स्वरूपमुक्तं—

पडिकमणपहुदिकिरियं कुच्वंतो णिच्छयस्स चारित्तम् ।  
तेण दु विरागचरिए समणो अम्मुडिदो होदि ॥ १५२ ॥

प्रतिक्रमणप्रभृतिक्रियां कुर्वन् निश्चयस्य चारित्रं

तेन तु विरागचरित्ते श्रमणोऽभ्युत्थितो भवति ॥ १५३ ॥

यो हि विमुक्तैहिकध्यापारः साक्षादपुनर्भवकांक्षी महामुमुक्षुः परित्यक्त-  
सकलेन्द्रियध्यापारन्वान्निश्चयप्रतिक्रमणादिसत्क्रियां कुर्वन्नास्ते, तेन काण्ठेन  
स्वस्वरूपविभ्रान्तिरक्षणं परमवीतरागचरित्रे स परमतपोधनस्तिष्ठति ॥ १५३ ॥

आत्मा तिष्ठत्यनुत्तमहिमा नष्टदृक्शीलमोहो

यः ससाराद्भवमुत्सृज्य कर्ममुक्तो विमुक्तः ।

मूले शीले मलविरहिते सोयमाचारराशिः

ते वदेहं समरससुधासिन्धुराकाशसाकम् ॥

सकलवाग्बिषयव्यापारनिरासोयम्—

वचनमयं पठिकमणं वचनमयं पंचक्वाण णियमं च ।

आलोचन वचनमयं तं सद्यं जाण सज्जातं ॥१५३॥

वचनमय प्रतिक्रमणं वचनमयं प्रत्याख्यानं नियमश्च ।

आलोचनं वचनमयं तत्सर्वं जार्नाहि स्वाध्यायम् ॥ १५३ ॥

पाक्षिकादिप्रतिक्रमणक्रियापारणं निर्व्यापकाचार्यमुसोद्वृतं समस्त-  
पापक्षयहेतुभूतं द्रव्यश्रुतमसिद्धं वाग्बर्णायोग्यं पुद्गलद्रव्यात्मकत्वाच्च  
ग्राह्यं भवति प्रत्याख्यानानियमालोचनाश्च पौद्गलिकवचनमयत्वात्तत्सर्वं  
स्वाध्यायमिति रे शिष्य त्वं जार्नाहि इति ।

मुक्त्वा भव्यो वचनरचनां सर्वदातः समस्तां

निर्व्याणश्रीस्त्रनभरयुगादलेपसौरव्यसृहादचः ।

नित्यानंदापतुलमहिमाधारके स्वस्वरूपे

स्थित्वा सर्वं गृणमिच्च जगज्जालमेको ददर्श ॥

तथा चोक्तम्—

“ परियदृणं च वाचन पुच्छण अणुपंक्कसणा य धम्मकहा ।

धुदिमंगलसंजुतो पंचविहो होदि सज्जात ” ॥

अत्र शुद्धनिश्चयधर्मव्यानात्मकप्रतिक्रमणादिकमेव कर्तव्यमित्युक्तम्—

जदि सद्धादि काहुं जे पठिकमणादिं करेज्ज ज्ञाणमयम् ।

सत्तिविहीणो जो जइ सद्धहणं चेव कापट्टवम् ॥१५४॥



मुक्त्वा मोह कनकरमर्णागोचरं चात्मनात्मा  
 स्वात्मन्येव स्थितिमविचला याति मुक्त्ये मुमुक्षुः ॥  
 भीति विहाय पशुभिर्मनुजैः कृतां तं  
 मुक्त्वा मुनिः सकललौकिकजल्पजालम् ।  
 आत्मप्रवादकुशलः परमात्मवेदी  
 प्राप्नोति नित्यमुसदं निजतत्त्वमेकम् ॥

वाग्विषयव्यापारनिवृत्तिहेतूपन्यासोऽयम्—

णाणाजीवा णाणाकर्मं णाणाधिहं हवे लद्धी ।  
 तम्हा वयणविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो ॥ १५५ ॥  
 नानाजांवा नानाकर्मं नानाविधा भवेत्तन्निधिः ।  
 तस्माद्वचनविवादः स्वपरसमयेर्वर्जनीयः ॥ १५६ ॥

जीवा हि नानाविधाः मुक्ता अमुक्ताः भव्या अभव्याश्च, संसारिणः ब्रह्माः  
 स्थावरा द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियसंशयसंज्ञिभेदात् पंच ब्रह्माः, दृष्य-  
 स्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः भाविकाले स्वभावानन्तचतुष्टयात्मसहज-  
 जानादिगुणैः भवनयोग्या भव्याः एतेषां विपरीता ह्यभव्याः, कर्म नाना-  
 विधम् द्रव्यभावनोकर्मभेदात्, अथवा मूलोत्तरप्रकृतिभेदाच्च, अथ तीव्रतरतीव्र-  
 मंदमंदतरोदयभेदाद्वा, जीवानां सुखादिप्राप्तैर्लब्धिः कालकरणोपदेशो-  
 पदेशमप्रायोग्यताभेदात् पञ्चधा । ततः परमार्थवृत्तिभिः स्वपरसमयेषु वैदो-  
 न कर्तव्य इति ।

बिकल्प्यो जीवानां भवति बहुधा संसृतिकरः  
 तथा कर्मनिष्कविधमपि सदा जन्मजनकम् ।

यदि शक्यते कर्तुम् अहो प्रतिक्रमणादिकं करोपि ध्यानमप्य  
शक्तिविहीनो यावद्यदि श्रद्धानं चैव कर्तव्यम् ॥ ११४ ॥

मुक्तिसुन्दरीप्रथमदर्शनप्राभृतात्मकनिश्चयप्रतिक्रमणप्रायश्चित्तप्रत्यासक्त-  
नप्रमुखशुद्धनिश्चयक्रियाश्चैव कर्तव्याः । संहननशक्तिप्राप्तौ  
सति हंहो मुनिशादूहं परमागममकरंदनिष्पन्दिमुखपश्यभसहस्रै-  
राग्यप्रासादशिसराशिसामणेः परद्रव्य-पराङ्मुखस्यद्रव्यनिष्णातबुद्धेः पदे-  
न्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिमत्शक्तिहीनो यदि वग्धकाळेऽकाले कोऽ-  
त्वया निजपरमात्मतत्त्वश्रद्धानमेव कर्तव्यमिति ।

असारे संसारे कलिविलासिते पापबहुले  
न मुक्तिर्मीर्गेऽस्मिन्ननघजिननाथस्य भवति ।  
अतोऽध्यात्मं ध्यानं कथमिह भवंश्चिर्मलधियाम्  
निजात्मश्रद्धानं भवभयहरं स्वीकृतमिदम् ॥

इह हि साक्षादन्तर्मुखस्य परमजिनयोगिनः शिक्षणमिदमुक्तम्—  
जिनैकथितपरमसूत्रे प्रतिक्रमणादिकं परीक्षयित्वा ।  
स्फुटमौनव्रतेन योगी निजकार्यं साधयेन्नित्यम् ॥

श्रीमदहंमुखारविन्दविनिर्गतसमस्तपदार्थगर्भीकृतचतुःसन्तर्भे द्रव्यभू-  
ताद्वनिश्चयनयात्म ह्यपरमात्मध्यानान्तमप्रतिक्रमणप्रभृतिसात्त्विक्यां सु-  
११२ स्वकार्येण परमजिनयोगीश्वरः पञ्चस्तोत्रशतममस्तपचनरचन-  
यात्मन्यस्य निमित्तमंतव्यासैर्मुक्त्वा चेहाहीभूय मौनकोन सारं  
समस्तपशुजने. निवमानाऽप्यामित्रं मन् निजकार्यं निगंणसामशोचना-  
सन्नागभोभ्यम्भननवन सा दयेदिति ।

द्विन्वा नीतिं पशुजनेनकृता त्योऽहिकर्मात्मवेदी  
शस्त्राशस्त्रा वचनुरध्वनी योग्यसाहचर्यी ।

१ मन्वा-पदा नास्तीति ।

मुक्त्वा मांहे कनकरमणीगोचरे स्वात्मनात्मा  
 स्वात्मन्येव स्थितिमविचलतां याति मुक्त्यै मुमुक्षुः ॥  
 भाति विहाय पशुभिर्मनुजैः कृतां तं  
 मुक्त्वा मुनिं सकललोकि कनकनालम् ।  
 आत्मप्रसादकुशलः परमात्मवेदी  
 प्राप्नोति नित्यमुत्तरं निजतत्त्वमकम् ॥

वाग्बिषयध्यापारनिवृत्तिरेतूपन्यासोऽप्यः—

णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाधिहं हवे लद्धी ।  
 तग्हा षयणविवादं सगपरसमएहिं षज्जिज्जो ॥ १५५ ॥

नानाजीवा नानाकम्मं नानाविधा भरेत्तब्धिः ।

तस्माद्रूपनविवादः स्वपरसमयेवर्जनीयः ॥ १५५ ॥

जीवा हि नानाविधाः मुक्ता अमुक्ताः भव्या अभव्याश्च, संसारिणः ब्रह्माः  
 स्थावरा इन्द्रियजीन्द्रियचतुरिन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञिभेदात् पंच ब्रह्माः, पृथ्व्य-  
 प्लेजोवायुधनस्पतयः स्थावराः भाविकाटे स्वभावानन्तर्बतुष्टयात्मसहज-  
 ज्ञानादिगुणैः भवनयोग्या भव्याः एतेषां विपरीता ह्यभव्याः, कर्म नाना-  
 विधम् इत्यभावनो कर्मभेदात्, अथवा मूलोत्तरप्रकृतभेदाच्च, अथ तीव्रतरतीव्र-  
 मंदमंदतरादयभेदाद्वा, जीवानां मुखादिप्रतिर्लब्धिः कालकरणोपदेशो-  
 पक्षमप्रायोग्यताभेदात् पश्यथा । ततः परमार्थवेदिभिः स्वपरसमयेषु वेदो  
 न कर्तव्य इति ।

विकल्पो जीवानां भवति बहुधा संसृतिकरः

तथा कर्मानिकविधमपि सदा जन्मजनकम् ।

असौ लब्धिर्नाना विमलजिनमार्गे हि विदिता  
ततः कर्तव्यं नो स्वपरसमयैर्वाद्बचनम् ॥

अत्र दृष्टान्तमुखेन सहजतत्त्वाराधनाविधिरुक्तः ।

लब्धुं णिहि एको तस्स फलं अणुहवेइ सुजणत्तं ।  
तह णाणी णाणणिहिं भुंजेइ चइत्तु परत्तत्तिम् ॥१५६॥

लब्ध्वा तु निविमेकस्तस्य फलमनुभवति सुजनत्वेन ।

तथा ज्ञानी ज्ञाननिधिं भुंक्ते त्यक्त्वा परततिम् ॥ १५६ ॥

कश्चिदेको दरिद्रः कश्चित् कदाचित् मुहूर्तोदयेन निधिं लब्ध्वा त्व  
निधेः फलं हि सौजन्यम् जन्मभूमिरिति रहस्ये स्थाने स्थित्वा अतिगूढम्  
नुभवति इति दृष्टान्तपक्षः; दार्ष्टान्तपक्षेऽपि सहजपरमतत्त्वज्ञानी ईदृ  
कश्चिदासन्नभव्योदयस्य गुणोदये सति सहजवैराग्यसम्पत्तौ सत्यत्र एव  
गुरुचलननलिनयुगलनिरतिशयभक्त्या मुक्तिं १५६  
सहजज्ञाननिधिं परिप्राप्य परोषां जनानां स्वरूपविकलानां तर्ति  
ध्यानप्रत्यूहकाग्णामिति त्यजति ॥

अस्मिन् लोके लौकिकः कश्चिदेकः

लब्ध्वा पुण्यात् कंचनानां समूहम् ।

गूढं भूत्वा वर्तते त्यक्तसंगो

ज्ञानी तदत्र ज्ञानरक्षां करोति ॥

त्यजता संगं जननभरणात्कहेतुं समस्तं

कृत्वा बुद्ध्या इत्यकमले पूर्णवैराग्यभावम् ।

स्थित्वा शरूपा सहजपरमानन्दनिर्व्यमरूपे

शीले मांहे गुणमिधे सदा लोकमात्रोक्तयामः ॥



एवमादयकाधिकारोपगतोपन्यासोपय —

सर्वे पुराणपुरिसा एवं आयासयं य काऊण ।

मपमत्तपहुदिठानं पविवज्ज य केपली जावा ॥ १५७ ॥

सर्वे पुराणपुरिषा एवमादयकं य कृत्वा ।

अनमत्तपहुदिठानं मपमत्त य केपली जाता ॥ १५७ ॥

स्वात्माभयनिधयधर्मदुःखानरवरूपम् साक्षादयकाधिकारोपनिधय-  
 षकादिदुःखनिधयपरमादयकम् साक्षादपुनर्भक्तारागनाडुमुसकारणं कृत्वा  
 तर्के पुराणपुरिषास्तार्पिकरपरमदेवदयः स्वयं बुद्ध्याः वेचिद् बोधितबुद्ध्या-  
 ध्यायमलादिमयांमिभूतारकगुणस्थानरनिमध्याख्याः सन्तः केवटिनः  
 सकनमन्यज्ञानधराः परमादयका माद्यधनाप्रसादात् जाताश्चेति ।

स्वात्माभयनया पुराणपुरिषाः सर्वे पुरा षोमिन  
 इत्यस्तासिद्धकर्मज्ञानमन्य ये शिष्यवो जिष्णवः ।  
 साधित्वं श्रमनन्यनन्यमनसा मुक्तिरूहो निररहा  
 स स्थात् सर्वजनार्थिनाधिकमट्टः पाषाटरीपावक ॥

मुक्त्वा मोहं कनकरमणीगोचरं हेयरूपम्  
 नित्यानन्दं निरुपमगुणाट्टं शिष्यमोहय ।

धेतः शीघ्रं शरित परमात्मानमव्ययकथं  
 लब्ध्वा धर्म परमगुह्यतः शर्मणे निर्मेदाय ॥

इतिमुक्तिजनपयोजनिवपंचेदियसुवर्जितमात्रमादपरिमहर्षिपद्यप्रभ-  
 मलधार्मिकव्यवधितायां नियमसारम्याख्यायां तात्पर्यरूपां  
 निधयपरमादयकाधिकार एकावृत्तमः भुतस्कन्ध ॥ ११ ॥

असौ लब्धिर्नाना विमलजिनमार्गे हि विदिता  
ततः कर्तव्यं नो स्वपरसमयेर्वावचनम् ॥

अत्र दृष्टान्तमुक्तेन सहजतत्त्वाराधनाविधिऋक्तः ।

लब्धुं णिहि एको तस्स फलं अणुहवेइ सुजणत्तं ।  
तह णाणी णाणाणिहिं भुंजेइ चइत्तु परत्तत्तिम् ॥१५६॥

लब्ध्या तु निधिमैकस्तस्य फलमनुभवति मुजनत्वेन ।  
तथा ज्ञानी ज्ञाननिधिं भुंक्ते त्यक्त्वा परततिम् ॥ १५६ ॥

कश्चिदेकां वरिद्रः क्वचित् कदाचित् सुकृतोदयेन निधिं लब्ध्वा तस्य  
निधेः फलं हि सौजन्यम् जन्मभूमिरिति रहस्ये स्थाने स्थित्या अतिगूढवृत्त्या-  
नुभवति इति दृष्टान्तपक्षः; दार्ष्टान्तपक्षेऽपि सहजपरमतत्त्वज्ञानी जीवः  
कश्चिदासन्नभय्योदयस्य गुणोदये सति सहजवैराग्यसम्पत्तौ सत्यम् परम-  
गुरुचलननलिनपुगालनिरतिशयभक्त्या मुक्तिमुन्दरीमुसमकरन्दायमाने  
सहजज्ञाननिधिं पश्चात्प्य परेषां जनानां स्वरूपविकलानां तर्ति सन्तु  
ध्यानप्रत्युहकारणमिति त्यजति ॥

अस्मिन् लोके लौकिकः कश्चिदेकः

लब्ध्वा पुण्यात् कंचनानां समूहम् ।

गृह्यं भूत्वा वर्तते त्यक्तमगं

ज्ञानी तद्वत् ज्ञानरक्षां करोति ॥

त्यक्त्वा संगं जननमरणान्कहेतुं समस्तं

कृत्वा बुद्ध्या हृदयकमले पूर्णवैराग्यभावं ।

स्थित्वा शून्या सहजपरमानन्दनिर्यमरूपं

धीमे मांति दृगमिन्ने सदा लोकमाटोडयामः ॥

परमावश्यकधिकारोपसंहारोपन्यासोयम्—

सर्वे पुराणपुरिसा एवं आवासयं य काऊण ।

अप्रमत्तपहुदिठाणं पडिवज्ज य केवली जादा ॥ १५७ ॥

सर्वे पुराणपुरुषा एवमावश्यकं च कृत्वा ।

अप्रमत्तप्रभृतिस्थानं प्रतिपद्य च केवलिनो जाताः ॥ १५७ ॥

स्वात्माभयनिश्चयधर्मशुद्ध्यान्स्वरूपम् वाह्यावश्यकदिक्रियाप्रतिप-  
क्षकादिशुद्धनिश्चयपरमावश्यकम् साक्षात्पुनर्भववारांगनाद्गुणसुखकारणं कृत्वा  
सर्वे पुराणपुरुषास्तीर्थकरपरमदेवादयः स्वयं बुद्धाः केचिद् बांधितबुद्धा-  
भ्याप्रमत्तादिमयोगिमहारकगुणस्थानपंक्तिमध्यास्ताः सन्तः केवलिनः  
सकलमत्पक्षज्ञानधराः परमावश्यकत्वात्पराधनाप्रसादात् ज्ञाताश्चेति ।

स्वात्पराधनया पुराणपुरुषाः सर्वे पुरा योगिनः  
प्रध्वस्तासिलकर्मराक्षसगणा ये विष्णवो जिष्णवः ।  
ताभित्यं प्रणमन्त्यनन्यमनसा मुक्तिस्पृहो निस्पृहाः  
स स्यात् सर्वजनार्चितां विक्रमलः पापाटवीपावक ॥

मुक्त्वा मोहं कनकरमणीगोचरं हेयरूपम्  
नित्यानन्दं निरुपमगुणालं कृतं दिव्यमोहम् ।

चेतः शीघ्रं प्रविश परमात्मानमव्ययरूपं  
लब्ध्वा धर्म परमगुरुतः शर्मणे निर्मलाय ॥

इतिमुकविजनपयोजमिबपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभ-  
मलधारिद्वैचविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ  
निश्चयपरमावश्यकधिकार एकादशमः श्रुतस्कन्धः ॥ ११ ॥

अथ सकलकर्मप्रलयहेतुभूतशुद्धोपयोगाधिकार उच्यते ।

अत्र ज्ञानिनः स्वपरस्वरूपप्रकाशकत्वं कथंचिदुक्तं—

जाणदि पस्सदि सच्चं व्यवहारणएण केवली भगवं ।  
केवल्लणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥१५८॥

जानाति पश्यति सर्वं व्यवहारनयेन केवली भगवान् ।

केवलज्ञानी जानाति पश्यति नियमेन आत्मानम् ॥ १५८ ॥

आत्मगुणपाति कर्मप्रध्वंसनेनासादितसकलविमलकं परलज्जानकं परदर्शनाभ्यान् व्यवहारनयेन जगज्जयकालत्रयवर्तिसचराचरद्रव्यगुणरप्यायान् एकस्मिन् समये जानाति पश्यति च, न भगवान् परमेश्वरः परमभूतारकः, पराश्रितो व्यवहारः, इति वचनात्, शुद्धनिश्चयतः परमेश्वरस्य महादेवाधिदेवस्य सर्वशरीतरागस्य परद्रव्यग्राहकत्वदर्शकत्वज्ञापकत्वादि-विशिष्टविश्वव्याप्तिनीसमुद्भूतमूलध्यानावाद्, स भगवान् त्रिकाळनि-रुपाधिनिर्वचिनिर्त्यशुद्धसहजज्ञानमहजदर्शनाभ्यां निजहाणपरमात्मानं स्वयं कार्यपरमात्मादि जानाति पश्यति च । किं कृतम् । ज्ञानधर्मोपं तारु स्वपरप्रकाशकत्वं प्रदीपवत् । घटादिप्रमितेः प्रकाशो दीपस्तावद्विभ्रंशो स्वयं प्रकाशस्वरूपत्वात् सः परं च प्रकाशयति । आत्मादि व्यवहारेण जगज्जय कालत्रयं च परं ज्योतिःस्वरूपत्वात् स्वयंप्रकाशतमकमात्मानं च प्रकाशयति । उक्तं च शृण्वन्तितपापैर्दोषैर्नयोपाश्रितविशादो कीर्तिभिर्देहानेन पण्डितैर्दोषैः—“ यथावद्वस्तुनिर्णीतिः सम्यग्ज्ञाने प्रदीपवत् । तत्सार्थव्यवसायात्मा कथंचिद् प्रमितः पृथक् ॥ ” अथ निश्चयपक्षेऽपि स्वपरप्रकाशकत्वमस्येति सत्तत्तानिश्चयान्निराजनस्वभावनिमित्तत्वात् स्वश्रितो निश्चयवचनवत् । सहजज्ञाने तावत् आत्मनः प्रकाशात् प्रकाशकण्यपाननेन निश्चयनिश्चयता च लक्षणलक्षणवति निश्चयानि न वस्तुगुण्या येति अ. का. भा. १.

एतदात्मगतदर्शनमुत्तच्छात्रिदिकं जानाति स्वात्मानं कारणपरमात्मस्वरूपमपि जानातीति । तथाचोक्तम् श्रीमद्भुवनेन्द्रसूरिभिः—

बन्धच्छेदात्कलपदतुलं मोक्षमक्षय्यमेतत्  
नित्योद्योतं स्फुटितसहजावस्थमेकान्तशुद्धं ।  
एकाकारं स्वगुणभरतोत्पन्तगंभीरधीरं  
पूर्णज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य टीनं महिम्नि ॥

तथाहि—

आत्मा जानाति विश्वं ह्यनवरतमयं केवलज्ञानमूर्तिः  
मुक्तिःश्रीकामिनीक्रीडामुसकमले कामपीढां तनोति ।  
शोभां सौभाग्यचिन्तां व्यवहरणनयादेवदेवो जिनस्ते  
तेनोच्चैर्निर्भयेन प्रहतमलकटिः स्वस्वरूपं स वेति ।

इह हि केवलज्ञानकेवलदर्शनयोर्युगपद्वर्तनं दृष्टान्तमुत्तेनोक्तं—

युगवं घट्टइ णाणं केवलणाणिस्स वंसणं च तथा ।  
दिणयरपयासतापं जह घट्टइ तह मुणेयव्वम् ॥ १५९ ॥

युगपद् वर्तते ज्ञानं केवलज्ञानिनो दर्शनं च तथा  
दिनकरप्रकाशतापो यथा वर्तते तथा ज्ञानव्यम् ॥ १५९ ॥

अत्र दृष्टान्तपक्षे क्वचित्काले बलाहकप्रेक्षाभाभावे विद्यमाने नमस्त्यलस्य मध्यगतस्य सहस्रकिरणस्य प्रकाशतापो यथा युगपद् वर्तते तथैव च मग्नः परमेश्वरस्य तीर्थनाथस्य जगत्प्रवर्तिषु स्थावरजंगमद्रव्यगुणपर्य्यात्मकेषु शेषेषु सकलविभलकेवलज्ञानकेवलदर्शने च युगपद् वर्तते । किं च संसारिणां दर्शनपूर्वमेव ज्ञानं भवति इति । तथाचोक्तं प्रवचनसारे—

“ णाणं अत्यंतगयं लोयालोयंमु वित्यडा दिडी ।  
णद्धमणिद्धं सव्वं इद्धं पुणं जं तु तं रुद्धं ॥ ”

अन्यच्च

“ वंसणपुव्वं णाणं छद्धमत्याणं पि दोष्णि उवओग्गा ।  
जुगवं जम्हा केवलिणाहं जुगवं तु ते दोवी ”

तथाहि

वर्तेति ज्ञानदृष्टी भगवति सततं धर्मतीर्थाधिनाथे  
सर्वज्ञेऽस्मिन् समंतात् युगपदसदृशे विश्वलोकैकनाथे ।  
एतावुष्णप्रकाशो पुनरपि जगतां लोचनं जायतेऽस्मिन्  
तेजोराशौ दिनेशे हतनिखिलतमस्तोनके ते तथैव ॥

सद्बोधपोतमधिष्ठ्य भवाम्बुराशि-

मुद्धंघ्य शाश्वतपुरी सहसा त्वयाता ।  
तामेव तेन जिननाथपयाधुनाहं  
याम्यन्यदास्ति शरणं किमिहोत्तमानां ॥  
एको देवः स जयति जिनः केवलज्ञानभानुः  
कामं कान्तिं वदन्कमले संतनोत्येव कांचित् ।  
मुक्तेस्तस्याः समरसनयानंगसौख्यप्रदायाः  
कोनालं संदिशतुमनिशं प्रेमभूमेः प्रियायाः ॥  
जिनेन्द्रो मुक्तिकामिन्याः मुक्तपद्मे जगाम सः ।  
अलिर्लीलां पुनः काममनद्बुमुसमदयन् ॥

आत्मनः स्वपरप्रकाशकत्वविरोधोपन्यासोपमः—

णाणं परप्पयासं दिदि अप्पप्पयासया चेव ।  
अप्पा सपरपयासो होदिचि हि मण्णसे जदिहि ॥१६०॥

ज्ञानं परप्रकाशं दृष्टिरात्मप्रकाशिका चैव ।

आत्मा स्वपरप्रकाशो भवतीति हि मन्यसे यदि सतु ॥ १६० ॥

इह हि तावदात्मनः स्वपरप्रकाशकत्वं कथामिति चेत् । ज्ञानदर्शनादि-  
विशेषगुणसमृद्धो ह्यात्मा, तस्य ज्ञानं शुद्धात्मप्रकाशसमर्थत्वात् परप्रका-  
शमेव, यदेवं दृष्टिर्निकुशा केवलमभ्यन्तरे ह्यात्मानं प्रकाशयति चेत्  
अनेन विधिना स्वपरप्रकाशको ह्यात्मेति हंहो जडमते प्राथमिकाशिष्य,  
दर्शनशुद्धेरभावात् एवं मन्यसे, न सतु जडस्त्वत्तत्सकाशादपरः कश्चि-  
नः । अथ ह्यविरुद्धा स्यादादविद्यादेवता समभ्यर्चनीया सद्भिरनवरतं  
तत्रैकान्ततो ज्ञानस्य परप्रकाशकत्वं न समस्ति, न केवलं, स्यान्मतं  
दर्शनमपि शुद्धात्मानं पश्यति दर्शनज्ञानप्रभृत्यनेकधर्माणामाधारो ह्यात्मा  
व्यवहारपक्षेपि केवलं परप्रकाशकस्य ज्ञानस्य न जात्यसंबन्धः (?)  
सदा बहिरवस्थितत्वात् आत्मप्रतिपत्तेरभावात् स सर्वगतत्वं (?) अतः-  
कारणादिदे ज्ञानं न भवति मृगगृष्णाजलवत्, प्रतिभासमानमेव दर्शनपक्षेपि  
तथा न केवलमभ्यन्तरप्रतिपत्तिकारणं दर्शनं भवति । सर्वैव सर्वं पश्यति  
हि चक्षुः स्वस्याभ्यन्तरस्थिता कर्नीनिका न पश्यत्येव अतः स्वपरप्रकाश-  
कत्वं ज्ञानदर्शनयोरविरुद्धमेव, ततः स्वपरप्रकाशको ह्यात्मा ज्ञानदर्शन-  
लक्षण इति ।

तथाचोक्तं श्रीमद्भृतचन्द्रसूरिभिः—

ज्ञानमप्येष विभवं युगपदपि भवद्भाविभूतं समस्तं  
मोहाभावापदात्मा परणमति परं नैव निर्लूनकर्म्म ॥

तेनास्ते मुक्त एव प्रसभविकसितशक्तिविस्तारनीता  
सैयाकारा त्रिलोकीं शृणुशृणुगितियोतयन् ज्ञानमूर्तिः ॥

तथाहि—

ज्ञानं तावत् सहजपरमात्मानमेकं विदित्वा  
 ठोकालोकौ प्रकटयति वा तद्गतं ज्ञेयजालम् ।  
 दृष्टिः साक्षात् स्वपरविषया क्षायिकी नित्यशुद्धा  
 ताभ्यां देवः स्वपरविषयं बोधति ज्ञेयराशिम् ॥

पूर्वसूत्रोपात्तपूर्वपक्षस्य सिद्धान्तोक्तिरियं:—

णाणं परप्पयासं तइया णाणेण दंसणं भिण्णम् ।  
 ण हवदि परद्व्वगयं दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा ॥१६१॥

ज्ञानं परप्रकाश तदा ज्ञानेन दर्शनं भिन्नम् ।

न च भवति परद्रव्यगतं दर्शनमिति वर्णितं तस्मात् ॥१६१॥

केवलं परप्रकाशकं यदि चेत् ज्ञानं तदा परप्रकाशकप्रधानेनानेन ज्ञानेन दर्शनं भिन्नमेव । परप्रकाशकस्य ज्ञानस्य दर्शनस्य च कथं सम्बन्ध इति चेत् सह्यविध्ययोरिव अथवा भागीरथीश्रीपर्वतवत्, आत्मनिष्ठं यत् तद् दर्शनमस्त्येव निराधारत्वात् तस्य ज्ञानस्य शून्यतापत्तिरेव, अथवा यत्र तत्र गतं ज्ञानं तत्तद्द्रव्यं सर्वं चेतनत्वमापद्यते अतस्त्रिभुवने न काश्चिदचेतनः पदार्थः इति महतो दूषणस्यावतारः । तदेव ज्ञानं केवलं न परप्रकाशकम् इत्युच्यते हे शिष्य तर्हि दर्शनमपि न केवलमात्मगतमित्याभिहितम्, ततः खल्विदमेव समाधानम् सिद्धान्तद्वयं ज्ञानदर्शनयोः कथंचित् स्वपरप्रकाशत्वमस्त्येवेति ।

तथाचोक्तम् श्रीमहासेनपण्डितदेवैः—

ज्ञानाद्भिन्नो न नाभिन्नो भिन्नाभिन्नः कथंचन ।

ज्ञानं पूर्वापरीभूतं सोऽयमारमेति कीर्तितः ।



तथाहि—

आत्मा ज्ञानं भवति न हि वा दर्शनं चैव तद्वत्  
ताभ्यां युक्तः स्वपरविषयं वेत्ति पश्यत्यवश्यम् ।  
संशामेदाद्बकुलहरे च्यात्मनि ज्ञानदृष्टयोः  
भेदो ज्ञातो न सत्तु परमार्थेन वाद्रशुष्णवत्स ॥

एकान्तेनात्मनः परप्रकाशकत्वनिरासोपमः—

अप्पा परप्पयासो तद्दया अप्पेण दंसणं भिण्णं ।  
ण हवदि परद्रव्यगओ दंसणमिदि बण्णिणदं तम्हा ॥ १६२ ॥

आत्मा परप्रकाशस्तदात्मना दर्शनं भिन्नम् ।

न भवति परद्रव्यगतं दर्शनमिति वर्णितं तस्मात् ॥ १६२ ॥

यथैकान्तेन ज्ञानस्य परप्रकाशकत्वं पुरा निराकृतं, इदानीमात्मा केवलं  
परप्रकाशश्चेत् तत्तदेव प्रत्यादिष्टं भावाभासोदेतयोरेकास्तित्वनिर्वृत्त्यात् :  
पुरा किञ्च ज्ञानस्य परप्रकाशकत्वे सति तद्दर्शनस्य भिन्नत्वं ज्ञातं । अत्रात्मना  
परप्रकाशत्वे सति तेनैव दर्शनं भिन्नमित्यवसेयम् । अपि च्यात्मनः पर-  
द्रव्यगत इति चेत् तद्दर्शनमप्यभिन्नमित्यवसेयम् । ततः स्वत्वात्मा स्वपर-  
प्रकाशकं इति यावत्, यथाकथंचित्स्वपरप्रकाशकत्वं ज्ञानस्य साधितम् ।  
अभ्यापि तथा, धर्मधर्मिणोरेकरूपत्वात् पावकोष्णवदिति ।

आत्मा धर्मी भवति सुतरां ज्ञानद्वग्धर्मयुक्तः

तस्मिन्नेव स्थितिमविचरती ती परिप्राप्य नित्यं ।

सम्यग्दृष्टिर्निसिद्धकरणग्रामनीहारभाष्येन

मुक्तिं याति स्फुटितसहजावस्थया सस्थितानो ॥

व्यवहारनयस्य सफलत्वमद्योतनकथनम्.—

णाणं परप्पयासं व्यवहारणयेण दंसणं तम्हा ।  
अप्पा परप्पयासो व्यवहारणयेण दंसणं तम्हा ॥ १६३ ॥

तथाहि—

ज्ञानं तावत् महत्परमात्मानमेकं विदित्वा  
 लोकालोको प्रकटयति वा तद्वत् श्रेयजालम् ।  
 दृष्टिः साक्षात् स्वपरविषया क्षायिकी नित्यशुद्धा  
 ताभ्यां देवः स्वपरविषयं बोधति श्रेयगाशिन ॥

पूर्वमूत्रापात्तपूर्वपक्षस्य सिद्धान्तोक्तिरियं—

णाणं परप्पयासं तइया णाणेण दंसणं मिण्णम् ।  
 ण हवदि परदव्वगयं दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा ॥१६१॥

ज्ञान परप्रकाश तदा ज्ञानेन दर्शनं भिन्नम् ।

न च भवति परद्रव्यगतं दर्शनमिति वर्णितं तस्मात् ॥१६१॥

केवल परप्रकाशकं यदि चेत् ज्ञानं तदा परप्रकाशकप्रधानेनानेन ज्ञानेन दर्शनं भिन्नमेव । परप्रकाशकस्य ज्ञानस्य दर्शनस्य च कथं सम्बन्ध इति चेत् सद्भाविभ्ययोरिव अथवा भार्गीरथोश्रीपर्वतवत्, आत्मनिष्ठं च तद् दर्शनमस्त्येव निराधारत्वात् तस्य ज्ञानस्य शून्यतापत्तिरेव, अथ यत्र तत्र गतं ज्ञानं तत्तद्द्रव्यं सर्वं चेतनत्वमापद्यते अतस्त्रिभुजं न कार्ष्णदचेतनः पदार्थः इति महतो द्रुपणस्यावतारः । तदेव ज्ञानं केवलं न परप्रकाशकम् इत्युच्यते हे शिष्य तर्हि दर्शनमपि न केवलमालगतमित्याभिहितम्, ततः खल्विदमेव समाधानम् सिद्धान्तद्वयं ज्ञानदर्शनयोः कथंचित् स्वपरप्रकाशत्वमस्त्येवेति ।

तथाचोक्तम् श्रीमहासेनपंडितदेवेः—

ज्ञानाद्भिन्नो न नाभिन्नो भिन्नाभिन्नः कथंचन ।

गतं पूर्वापरीभूतं सोऽयमात्मेति कीर्तितः ।

ज्ञानमात्मप्रकाशं निश्चयनयेन दर्शनं तस्मात् ।

आत्मा आत्मप्रकाशो निश्चयनयेन दर्शनं तस्मात् ॥ १६४ ॥

निश्चयनयेन स्वप्रकाशकत्वलक्षणं शुद्धज्ञानमिदम्भिहितं तथा सकला-  
वरणप्रमुक्तशुद्धदर्शनमपि स्वप्रकाशकपरमेव । आत्मा हि विमुक्तसकलेन्द्रि-  
यव्यापारत्वात् स्वप्रकाशकत्वलक्षणलक्षित इति यावत् । दर्शनमपि विमुक्त-  
बहिर्विषयत्वात् स्वप्रकाशकत्वप्रधानमेव । इत्थं स्वरूपप्रत्यक्षलक्षणलक्षिताक्षुण्ण-  
सहजज्ञानशुद्धदर्शनमयत्वात् निश्चयेन जगद्वयकालत्रयवर्तिस्थावरजंगमा-  
त्मकसमस्तद्रव्यगुणपर्य्यायविषयेषु आकाशाप्रकाशकादिविकल्पविदूरस्सन्  
स्वस्वरूपे संज्ञालक्षणं प्रकाश्य प्रकाशते, या निरवशेषेणान्तर्मुक्तत्वादनवरतम्  
असंदादौतच्चिन्मत्कारमूर्तिरात्मा तिष्ठतीति ।

आत्मा ज्ञानं भवति नियतं स्वप्रकाशात्मकं या

दृष्टिः साक्षात् प्रहतबहिरालंबना सापि चेषः ॥

एकाकारस्वरस्यविसरापूर्णपुण्यः पुराणः

स्वस्मिन्नित्यं नियतवसतिर्निर्विकल्पे महिम्नि ॥

शुद्धनिश्चयनयविवक्षया परदर्शनत्वनिरासोऽयम्—

अप्पसरूवं पेच्छदि लोयालोयं ण केवली भगवं ।

जइ कोइ भणइ एवं तस्स य किं दूसणं होइ ॥ १६५ ॥

आत्मस्वरूपं पश्यति लोकालोकी न केवली भगवान् ॥

यदि कोपि भणत्वेव तस्य च किं दूषणं भवति ॥ १६५ ॥

ध्यवहारेण पुत्रलादिविकालविषयद्रव्यगुणपर्य्यायैकसमयपरस्थितिसमर्धन-  
सकलविमलकंबलावबोधमयत्वादिविविधमहिमाधारोऽपि स भगवान् कंबल-  
दर्शनश्रुतीयलोचनोऽपि परमनिरपेक्षतया निःक्षेपतोऽन्तर्मुक्तत्वात् कंबलस्वरूप-

ज्ञानं परप्रकाशं व्यवहारनयेन दर्शनं तस्मात् ।

आत्मा परप्रकाशो व्यवहारनयेन दर्शनं तस्मात् ॥ ११३ ॥

इह सकलकर्मक्षयप्रादुर्भावासादितसकलविमलकेवलज्ञानस्य पुद्ग-  
दिमूर्तामूर्तचेतनाचेतनपरद्रव्यगुणपर्यायप्रकरप्रकाशकत्वं कथमिति चे  
“ पराभ्रितत्वे व्यवहारः ” इति वचनात् व्यवहारनयवलेनेति ।  
ततो दर्शनमापि तादृशमेव । त्रैलोक्यप्रक्षोभहेतुभूततीर्थकरपरानन्दस्य  
शतमस्रशतप्रत्यक्षवंदनायोग्यस्य कार्यपरमात्मनश्च तद्देव परप्रका-  
शकत्वं । तेन व्यवहारनयवलेन च तस्य खलु भगवतः केवलदर्शनस्य  
तादृशमेवेति ॥

तथाचोक्तं श्रुतजन्यो—

“ जयति विजयदोषोऽप्रत्यमत्येन्द्रमौलि-  
प्रविलसदुरुमाटाभ्यर्चितांभिर्जिनिन्द्रः ।

त्रिजगद्जगती यस्येदृशो व्यदनुवाते

सममिव विषमेध्वन्योन्यवृत्तिं निषेदुम् ॥ ११ ”

तथाहि—

व्यवहारणनयेन ज्ञानपुंजोऽयमात्मा

प्रकटतरमुदृष्टिः सर्वलोकप्रदर्शी ।

विदितसकलमूर्तामूर्ततत्त्वार्थसार्थः

स भवति परमर्थाङ्गामिनीङ्गामरूपः ॥

निश्चयस्वरूपाम्यानमेतत्—

षाणं अप्पप्यासं णिच्छयणयण वंसणं तग्हा ।

अप्पा अप्पपथासो णिच्छयणयण वंसणं तग्हा १६४

ज्ञानमात्मप्रकाशं निश्चयनयेन दर्शनं तस्मात् ।

आत्मा आत्मप्रकाशो निश्चयनयेन दर्शनं तस्मात् ॥ १९४ ॥

निश्चयनयेन स्वप्रकाशकत्वलक्षणं शुद्धज्ञानमिदम्भिहितं तथा सकला-  
वरणान्मुन शुद्धदर्शनमपि स्वप्रकाशकपरमेव । आत्मा हि विमुक्तसकलेन्द्रि-  
यध्यापारत्वात् स्वप्रकाशकत्वलक्षणलक्षित इति यावत् । दर्शनमपि विमुक्त-  
बहिर्बिम्बत्वात् स्वप्रकाशकत्वप्रधानमेवात्यर्थं स्वरूपप्रत्यक्षलक्षणलक्षितानुष्ण-  
सहजज्ञानशुद्धदर्शनमपत्वात् निश्चयेन जगद्व्यकाशत्रयवर्तिस्थावरजगत्मा-  
त्मकसमस्तद्रव्यगुणधर्माद्यविषयेषु आकाशात्मकाकाशकादिविकल्पविदूरस्मन्  
स्वस्वरूपं संशालक्षणं प्रकाश्यं प्रकाशते, या निरवशेषेणान्तर्मुसन्वादनवतम्  
असंदादौतचिश्चमन्कारस्तिरात्मा तिष्ठतीति ।

आत्मा ज्ञानं भवति नियतं स्वप्रकाशात्मकं या  
दृष्टिः साक्षात् प्रहृतबहिरालंबना सापि ज्ञेयः ॥

एककारस्वरसविसरापूर्णपुण्यः पुराणः  
स्वास्मिन्नित्यं नियतवसतिर्निर्विकल्पे महिम्नि ॥

शुद्धनिश्चयनयविवक्षया परदर्शनत्वनिरासोऽयम्—

अप्पसरूवं पेच्छद्दि लोयालोयं ण केवली भगवं ।  
जइ कोइ मणइ एवं तस्स य किं दूसणं होइ ॥ १६५ ॥

आत्मस्वरूपं पश्यति लोकत्रयेकौ न केवली भगवान् ॥  
यादि कोपि भणत्वेके तस्य च किं दूषणं भवति ॥ १६५ ॥

व्यवहारेण पुद्गलादिविकालविषयद्रव्यगुणधर्माद्यैकसमयपरस्थितिसमर्थन-  
सकलविमलकेवलावबोधमयत्वादिविविधमहिमाभागोऽपि स भगवान् केवल-  
दर्शनश्रुतीयलोचनोऽपि परमनिरपेक्षतया निःशेषतोऽन्तर्मुसन्वात् केवलस्वरूप-

प्रत्यक्षमात्रव्यापारनिर्गतनिरंजननिजसहजदर्शनेन सच्चिदानन्दमयनाला  
निश्चयतः पश्यतीति शुद्धनिश्चयनयविवक्षया यः कोपि शुद्धान्तस्तत्त्वे  
परमजिनयोगीश्वरो वक्ति तस्य च न रलु दूषणं भवतीति ।

पश्यत्यात्मा सहजपरमात्मानमेकं विशुद्धं  
स्वान्तःशुद्ध्यावसथमहिमाधारमत्यन्तधीरं ।  
स्वात्मन्युच्चैरविचलतया सर्वदान्तर्निमग्नं  
तस्मिन्नेव प्रकृतिमहति व्यावहारप्रपञ्चः ॥

केवलबोधस्वरूपाख्यानमेतत्—

मुत्तममुत्तं द्रव्यं चेषणामियरं सगं च सव्यं च ।  
पच्छंतस्स दु णाणं पच्चक्खमणिंदियं होइ ॥ १६६ ॥

मूर्तममूर्तं द्रव्यं चेतनमितरत् स्वरुं च सर्वं च ।  
पश्यतस्तु ज्ञानं प्रत्यक्षमतीन्द्रियं भवति ॥ १६६ ॥

पण्णां द्रव्याणां मध्ये मूर्तत्वं पुद्गलस्य, पंचानाम् अमूर्तत्वम् चेतनत्वं जी-  
वस्यैव पंचानामचेतनत्वम्, मूर्तामूर्तचेतनाचेतनस्वद्रव्यादिक्रमशेषम् त्रिकाल  
विषयम् अनवरतम् पश्यतो भगवतः श्रीमद्दूर्हत्यारंमेश्वरस्य क्रमकरणव्यवधाना-  
पोढं चातीन्द्रियं च सकलविमलकेवलं ज्ञानं सकलप्रत्यक्षं भवतीति ।

तथा चोक्तं प्रवचनसारे—

“ जं पेच्छदो अमुत्तं मुत्तेसु अइदियं च पच्छण्णम् ।  
सयलं सगं च इदर तण्णाणं हरइ पचवरसम् ”

तथाहि—

सम्यग्गतीं त्रिभुवनगुरुः शाश्वतानन्तधामा  
लोकालोकी स्परमसिलं चेतनाचेतनं च ।

तार्तार्यं यन्नयनमपरं केवलज्ञानसंशयम्  
तेनैवायं विदितमहिमा तीर्थनाथो जिनेन्द्रः ॥

अत्र केवलद्वंद्वरभावात् सकलज्ञत्वं न समस्तीत्युक्तम्—

पुष्पुत्तसयलद्वयं जाणागुणपञ्जएण सलुत्तम् ।  
जो ण य पेच्छइ सम्मं परोखदिढी ह्ये तस्स ॥ १६७ ॥

पूर्वोक्तसकलद्वयं नानागुणपर्यायेण संयुक्तम् ।

यो न च पश्यति सम्यक् परोक्षदृष्टिर्भवेत्तस्य ॥ १६७ ॥

पूर्वभूतोपासमूर्तादिद्वयं समस्तगुणपर्यायात्मकं, मूर्तस्य मूर्तगुणाः  
अचेतनस्याचेतनगुणाः अमूर्तस्यामूर्तगुणाः चेतनस्य चेतनगुणाः पद्मानि-  
बुद्धिरूपाः सुहृदाः, परमागमश्रामाण्याद्भुपगम्याः अर्धपर्यायाः एष्णा  
द्रव्याणां साधारणाः नरनारकादिव्यंजनपर्याया जीवानां पचसत्तारप्रपंचा-  
नां, पुद्गलानां स्थूलस्थूलादिस्कन्धपर्यायाश्च, चतुर्णां धर्मादीनां शुद्धपर्याया-  
याभेति, एभिः संयुक्तं तत्रव्यजालं यः खलु न पश्यति तस्य संसारिणामिदं  
परोक्षदृष्टिरिति ।

यो नैव पश्यति जगद्यमेकदेव, कालत्रयं च तस्मा सकलज्ञमानी ।

प्रत्यक्षदृष्टिरतुला न हि तस्य नित्यं, सर्वज्ञता कथमिहास्य जडात्मनः स्यात् ॥

व्यवहारनयमाद्रुभौरकधनमिदम्—

लोयालोयं जाणइ अप्पाणं णैव केवली भगवं ।  
जइ कोइ भणइ एवं तस्स य किल दूषणं होदि ॥ १६८ ॥

लोयालोकौ नानास्यात्मानं नैव केवली भगवान् ।

यदि कोऽपि भणति एवं तस्य च किल दूषणं भवति ॥ १६८ ॥

मङ्गलविमलकेन्द्रजानत्रिनयटोन्नतो भगवान् अनुभवंरङ्गनीचकानिर्न-  
जीवितेशः पदद्वयसंकीर्णतोऽङ्गणे शुद्धाकाशमात्रतोऽं च जानते,  
“पराभितो भ्यःकारः” इतिमानात् व्यवहारेण व्यवहारवधानत्वात् स्मि-  
परागशुद्धात्मस्वरूपं नेत्र जानाति यदि व्यवहारनयस्विकृत्या कंभि विन-  
नाथनस्विकारलब्धः ( दक्षः ) इराभिदेवे वक्ति चेत् तस्य मनु न  
दुष्णमिति ॥ तथाचोक्तं श्रीममन्नभद्रम्यामिभिः—

“स्थितिजननविरोधलक्षणं, चाम्भरं च जगत्प्रतिक्षणम् ।  
इति जनमङ्गलजटांजनं, वचनमिदं वदतावरस्य ते ॥”

तथाहि—

जानातिलोहमसिद्धं सलु तीर्थनाथः  
स्वात्मानमेकमनघं निजसौख्यनिष्ठम् ।  
नो वेत्ति सोयमिति तं व्यवहारमार्गात्  
वकीति कोपि मुनिपो न च तस्य दोषः ॥

अत्र ज्ञानस्वरूपो जीव इति वितर्कणोक्तः ।

णाणं जीवस्वरूपं तद्गहा जाणेइ अप्पमं अप्पा ।  
अप्पाणं णवि जाणदि अप्पादो होदि विदिरिच्चम् १६९

ज्ञानं जीवस्वरूपं तस्माज्जानात्यात्मक आत्मा ।

आत्मानं नापि जानात्यात्मनो भवति व्यतिरिक्तम् ॥१६९॥

इह हि ज्ञानं तावज्जीवस्वरूपं भवति ततो हेतोरसंबन्धाद्देतस्वभावनिर्त-  
निरतिशयभावनासनाथम् मुक्तिसुन्दरीनाथम् वहिर्व्यावृत्तकौतूहलम् निर-  
परमात्मानं जानाति कश्चिदात्मा भव्यजीव इति अयं सलु स्वभाववाद-  
जस्य विपरीतो वितर्कः स सलु विभाववादः प्राथमिकशिष्याभिप्रायः ।



कथामिति चेत् । पूर्वोक्तस्वरूपमात्मानं खलु न जानात्यात्मा स्वरूपावस्थितः संतिष्ठति यथोष्णस्वरूपस्याग्नेः स्वरूपमग्निः किं जानाति, तथैव ज्ञानज्ञेय-विकल्पाभावात् स्रोयमात्मात्मानि तिष्ठति । हंहो प्राथमिकशिष्य अग्निवद्दय-मात्मा किमचेतनः, किञ्चहुना तन्मात्मानं ज्ञानं न जानाति चेद् देवदत्तरहित-परशुवत् । इदं हि नार्थक्रियाकारि अतएव आत्मनः सकाशाद् ध्यतिरिक्तं भवति तन्न खलु सम्मतं स्वभाववादिनामिति । तथाचोक्तं श्रीगुणभ-द्रस्वामिभिः ।

“ ज्ञानं तावद्भवति मुतरां शुद्धजीवस्वरूप  
स्वात्मात्मानं नियतमधुना तेन जानाति चैकम् ।  
तच्च ज्ञानं स्फुटितसहजावस्थयात्मानमारात्  
नो जानाति स्फुटमविचलाद्भिन्नमात्मस्वरूपात् ॥ ”

तथाचोक्तम्—

“ णाण अज्जादिदित्तं जीवादो तेण अप्पग मुणइ ।  
जदि अप्पगं य जाणइ भिण्णं तं होदि जीवादो ”॥

गुणगुणिनो भेदाभावस्वरूपारूपायानमेतत्—

अप्पाणं विणु णाणं णाणं विणु अप्पगो ण सन्देहो ।  
तम्हा सपरपयासं णाणं तह दंसणं होदि ॥ १७० ॥

आत्मानं विद्धि ज्ञानं ज्ञानं विद्वद्घात्मको न मदेहः ।  
तस्मात्स्वपरप्रकाशं ज्ञानं तथा दर्शनं भवति ॥ १७० ॥

सकलपरद्रव्यपराइमुसमात्मानं स्वस्वरूपपरिच्छित्तिसमर्थसहजज्ञान-स्वरूपमिति हे शिष्य स्व विद्धि जानीहि तथा विज्ञानमात्मेति जानीहि तत्त्वं स्वपरप्रकाशज्ञानदर्शनद्वितयमित्यत्र संदेहो नास्ति ।

आत्मानं ज्ञानदृगरूपं विद्धि हि ज्ञानमात्मकं ।  
स्वं परं चेति यत्तत्त्वमात्मा योतयति स्फुटम् ॥

सर्वज्ञबीतरागस्य बांछाभावत्वमत्रोक्तम्—

जाणंतो पस्संतो ईहापुच्चं ण होइ केवलिणो ।

केवलिणाणी तम्हा तेण दुं सोऽबंधगो भणिदो ॥१७१॥

जानन् पश्यन्नीहापूर्वं न भवति केवलिनः ।

केवलज्ञानी तस्मात् तेन तु सोऽबन्धको भणितः ॥ १७१ ॥

भगवानर्हत-परमेष्ठी साधनिधनामूर्त्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसद्भूतव्यवहारोऽत्र  
केवलज्ञानादिशुद्धगुणानामाधारभूतत्वात् विश्वमश्रान्तं जानन्नपि पश्यन्नपि  
वा मनःप्रवृत्तेरभावादीहापूर्वकं वर्तनं न भवति तस्य केवलिनः परममहा-  
कस्य, तस्मात् स भगवान् केवलज्ञानीति प्रसिद्धः, पुनस्तेन कारणेन स  
भगवान् अबन्धक इति ।

तथा चोक्तम् श्रीप्रवचनसारे—

“णत्वि परिणमइ ण गिण्हइ उप्पज्जइ णेव तेसु अत्थेसु ।

जाणण्णवि ते आदा अबंधगो तेण पच्छतो ॥”

तथाहि—

जानन् सर्वं भुवनभवनाभ्यन्तरस्थं पदार्थं

पश्यन् तद्गतं सहजमहिमा देवदेवो जिनेश ।

मोहाभावात्परमखिलं नैव गृह्णाति नित्यं

ज्ञानज्योतिर्हतमलकलिः सर्वलोकेकसाक्षी ॥

इह हि ज्ञानिनो बंधाभावस्वरूपमुक्तम्—

परिणामपुच्चवयणं जीवस्स य बंधकारणं होई ।

परिणामरहियवयणं तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो ॥१७२

ईहापुष्यं वयणं जीयस्स य बंधकारणं होई ।

ईहारहियं वयणं तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो १७३ जुम्मं ।

परिणामपूर्ववचनं जीयस्य च बंधकारणं भवति ।

परिणामरीहतवचनं तस्मान् ज्ञानिनो न हि बंधः ॥ १७२ ॥

ईहापूर्वं वचनं जीवस्य च बंधकारणं भवति ।

ईहारहितं वचनं तस्माज्ज्ञानिनो न हि बंधः ॥ १७३ ॥ जुम्मं ।

सम्यक्ज्ञानी जीवः क्वचित् कदाचिदापि स्वबुद्धिपूर्वकं वचनं न वक्ति स्वमनःपरिणामपूर्वकमितियावत् । कुतः—“अमनस्का केवलिनः” इतिवचनात् । अतः कारणाजीवस्य मनःपरिणतिपूर्वकं वचनं बंधकारणमित्यर्थः, मनःपरिणामपूर्वकं वचनं केवलिनो न भवति, ईहापूर्वं वचनमेव साभिष्टापात्मकं जीवस्य बंधकारणं केवलिमुसारविन्द्वाविनिर्गतो दिव्यध्वानि-रनीहात्मकः समस्तजनदृश्याद्वाद्वाकारणं, ततः सम्यक्ज्ञानिनो बंधाभाव इति ।

ईहापूर्वं वचनरचनारूपमत्रास्ति नैव

तस्मादेष प्रकटमहिमा विश्वटोकैकभर्ता ।

अस्मिन् बंधः कथमिव भवेद्व्यभावात्मकोऽयं

मोहाभावात् सत्तु निरिच्छं राग्देषादिजालं ॥

एकं त्रैलोक्यभुवनगुणैर्नष्टकर्माष्टकाब्दः

सद्बोधस्थं भुवनमखिलं तद्वत् वस्तुजालम् ।

आरातीये भगवति जिने नैव बंधो न मोक्षः

तस्मिन् काचिन्न भवति पुनर्मूच्छना चेतना च ॥

न ह्येतस्मिन् भगवति जिने कर्म कर्मप्रपचां

रागाभावादतुलमहिमा राजते वीतरागः ।

एषः श्रीमान् स्वमुत्तरितः सिद्धिसामन्तिनीशो

ज्ञानन्योतिश्शुभ्रितभुवनाभोगभागाः समन्तान् ॥

केरतिभङ्गादभ्यासनम्बन्धनयोर्नमेनतः—

ठाणणिसेज्जविहारा ईहापुञ्जं ण होइ केवल्लिणो ।  
तद्दा ण होइ बंधो साकटं मोहणीयस्स ॥ १७४ ॥

स्थाननिष्णविहारा ईहापूर्जं न भवन्ति केवल्लिनः ।

तस्माच्च भवति बंधः साक्षार्थं मोहनीयस्य ॥ १७४ ॥

भगवतः परमार्हन्त्यटर्क्ष्मागिजमानस्य केवल्लिनः परमव्रतगन्तव्यस्य ईहापूर्वकं न किमपि वर्तनं भवति स भगवान् न चेहेते मनःकृतेभावात् अभनस्का केवल्लिनः इति वचनाद्वा न तिष्ठति नोपविशति न वंशपूर्वं श्रीविहारादिकं करोति । ततस्तस्य तीर्थंकरपरमदेवस्य द्रव्यभावत्वेन चतुर्विधबंधो न भवति । स च बंधः पुनः किमर्थं जातः कस्य संबन्धं मोहनीयकर्मविलासविजृम्भितः अक्षार्थमिन्द्रियार्थं तेन सह यः वर्तत इति साक्षार्थं मोहनीयस्य वशगतानां साक्षार्थप्रयोजनानां संसारिणानेव बंध इति ।

तथाचोक्तं श्रीप्रवचनसारे—

“ ठाणणिसेज्जविहारा धम्मवदेसं च णियदओ नेत्तिं ।

अरहंताण काले मायाचारव्व इत्थीणं ” ॥

देवेन्द्रासनकंपकारणमहत्केवल्यबोधोदये

मुक्तिश्रीललनामुस्वाम्बुजरवेः सद्धर्म्मरक्षामणेः

सर्वं वर्तनमस्ति चेन्न च मनः सर्वं पुराणस्य तत्

सोऽयं नन्वपरिप्रमेयमहिमा पापाटवीपावकः ॥

शुद्धजावस्य सभावगतिप्राप्त्युपायोपन्यासोऽयं—

आउस्स स्रयेण पुणो णिण्णासो होइ सेसपयड्डीणं ।  
पच्छा पावइ सिग्घं लोयग्गं समयमेत्तेण ॥ १७५ ॥

आयुषः क्षयेण पुनः निर्णासो भवति शेषप्रकृतीनां ।

पश्चात्प्राप्नोति शीघ्रं लोकामं ममयमात्रेण ॥ १७५ ॥

स्वभावगतिः क्रियापरिणतस्य षट्कापकमविहीनस्य भगवतः सिद्धक्षेत्रा-  
भिपुरास्य ध्यानध्येयध्यातृत्फटमातिप्रयोजनविकल्पदून्येन स्वस्वरू-  
पाविचलस्थितिरूपेण परमशुक्लध्यानेन आयुःकमक्षये जाते वेदनीयनाम-  
गोत्राभिधानशेषप्रकृतीनां निर्णासो भवति । शुद्धनिधयनयेन स्वस्वरूपे  
सहजमहिम्नि हीनोऽपि व्यवहारेण स भगवान् क्षणार्धेन लोकामं प्राप्नोतीति  
षट्कापकमयुक्तानां भविनीं लक्षणात् पूषद् सिद्धानां लक्षणं यस्माद्दूर्ध्व-  
गास्ते सदा शिवाः ।

बन्धच्छेदाद्गुणमहिमा देवविद्याधराणां

प्रत्यक्षोऽप्यस्तवनविषयो नैव सिद्धः प्रसिद्धः ।

लोकस्यामं व्यवहरणतः संस्थितो देवदेवः

स्वात्मन्युच्चैरविचलतया निभयेनेवमास्ते ।

पंचसंसारनिमुक्तान् पंचसंसारमुक्तये ।

पंचसिद्धानर्हं वंदे पंचमोक्षफलप्रदात् ॥

काणतस्वस्वरूपाख्यानमेतत्—

जाद्वजरमरणरहितं परमं कम्मद्वयज्जियं सुद्धं ।

णाणाद्दचउसहावं अक्षयमधिणासमच्छेयं ॥ १७६ ॥

जातिनरामरणरहितं परमं कर्माष्टवर्जितं शुद्धं ।

ज्ञानादिचतुःस्वभावं अक्षयमधिनाशमच्छेयं ॥ १७९ ॥

निर्गन्तः संसृतेरभावाद्जातिजन्ममरणरहितं परमं पारिणामिकभावेन  
परमस्वभावत्वात् परमं त्रिकाटनिरुपाधिस्वरूपत्वात् कर्माष्टकवर्जितं द्रव्य-

भायकर्मगतित्वान्नुद्यं महजानमहज इष्टंमहजवास्त्रिमहद्विचि-  
 क्रिमफ्नात् ज्ञानादिबहुस्वभावं सादिमनिधनसूत्रेन्द्रियात्मकवितर्कदक्षि-  
 भायक्यंजनपर्यायगीतत्वाद्भयं प्रशस्ताप्रशस्तमतिहेतुभूतपुण्यजनकन्देव-  
 भायाद्विनाशं वासंधन्तेद्गोमयमूर्तिमुक्तत्वाद्दृष्टेयमिति ।

अविचलितमस्यज्ञानमदन्दमिष्टं  
 निखिलदुरितवुर्गवातदागाद्विरूपं ।  
 भज भजसि जिनोत्थं दिव्यशर्मामृतं च  
 सकलविमलबोधस्ते भयत्येव तस्मात् ॥

अत्रापि निरुपाधिस्वरूपलक्षणपरमात्मतत्त्वमुक्तं—

अव्यावाहमणिंदियमणोवमं पुण्णपावणिम्मुक्तं ।  
 पुणरागमणाविरहियं णिच्चं अचलं अणालंबं ॥ १७७ ॥

अव्यावाहमतीन्द्रियमनुपमं पुण्यपापनिर्मुक्तम् ।  
 पुनरागमनाविरहितं नित्यमविचलमनालंबम् ॥ १७७ ॥

अखिलदुरपवीरवैरिवरूथिनीसंभ्रमागोचरसहजज्ञानस्वर्गनिलयत्वादव्य-  
 बाधं सर्वात्मप्रदेशभरितचिदानन्दमयत्वादतीन्द्रियं त्रिषु तत्त्वेषु विशिष्टत्वा-  
 दनौपम्यं संसृतिपुरंधिकासंभोगसंभवसुखदुःखाभावात् पुण्यपापनिर्मुक्तं पुनरा-  
 गमनहेतुभूतप्रशस्ताप्रशस्तमोहरागद्वेषाभावात्पुनरागमनाविरहितं नित्यमरण-  
 न्दवमरणकारणकलेवरसंबन्धाभावान्नित्यं निजगुणपर्यायप्रच्यवनाभावादच-  
 परद्रव्यावलम्बनाभावाद्नालम्बा मिति ।

तथाचोक्तम् श्रीसद्मृतचन्द्रसूरिभिः—

आ संसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः ।  
 सुप्ता यस्मिन्नयपदमपदं तद्विबुध्यध्वमंधाः ॥

एते संतः पद्मिद्मिद्ं यत्र चैतन्यधानुः ।

धुब्धुब्धुः स्वरसभगितिः स्थादिभावात्मेति ॥

तथाहि—

भावाः पंच भवन्ति येषु सततं भावः परः पंचमः ।

स्थार्थी संयुतिनादाकारणमयं सम्यग्दृष्टां गोचरं ॥

तं मुक्त्वास्तिष्ठरागरोपनिष्करं बुध्वा पुनर्बुद्धिमान् ।

एको भाति कठौ धुमे मुनिपतिः साण्डर्वापायकः ॥

इह हि सांसारिकविहारनिकायाभावाभिर्वाणं भवतीत्युक्तं—

णवि दुःखं णवि मुक्खं णवि पीढा णवीयज्जदे वाहा ।

णवि मरणं णवि जणणं तत्थेव य होइ णिठ्वाणां ॥ १७८ ॥

न च दुःखं न च सौम्यं न च पीढा नैव विद्यते बाधा ।

न च मरणं न च जननं तत्रैव च भवति निर्वाणं ॥ १७८ ॥

निष्परागरत्नत्रयात्मकपरमात्मनः सततान्तमुखाकारपरमाध्यात्मस्वरूपनि-  
रतस्य तस्य बाधुभपरिणतेरभावात्त आधुभकर्म अशुभकर्मभावात्त दुःखं शुभ-  
परिणतेरभावात्त शुभकर्म शुभकर्मभावात्त सन्तु संसारगुरुं पीढायोग्ययातना-  
हारीणभावात्त पीढा असातावेदनीयकर्मभावात्तैव विद्यते बाधा पंचविधनो-  
कर्मभावात्त मरणं पंचविधनोकर्महेतुभूतकर्मपुद्गलस्वीकारभावात्त जननं  
एवं लक्षणलक्षिताक्षुण्विक्षेपणविनिर्मुक्तपरमतस्वस्य सदा निर्वाणं भवतीति ।  
भवभवमुत्तदुःखं विद्यते नैव बाधा जननमरणपीढा नास्ति यस्येह नित्यम् ।  
तमहमभिन्नमामि स्तोमि संभावयामिस्मरमुत्तविमुत्तस्सन् भक्तिस्तोस्याय नित्यं ॥

आत्मारोधनया हीनः सापराध इति स्मृतः ।

अहमात्मानमानन्दमदिदं नोमि नित्यशः ॥

परमनिर्वाणयोग्यपरमतत्त्वस्वरूपास्यानमेतत्:-

णवि इंदिय उवसग्गा णिव मोहो विम्हियो ण णिद्वा य ।  
ण य तिण्हा णेव द्दुहा तत्थेव हवदि णिच्चाणं ॥ १५९ ॥

नापि इन्द्रियाः उपसर्गाः नापि मोहो विस्मयो न निद्रा च ।

न च तृष्णा नैव क्षुधा तत्रैव भवति निर्वाणं ॥ १७९ ॥

असंख्येकप्रदेशज्ञानस्वरूपत्वात् स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राभिधानरंकेन्द्रियव्यापाराः । देवमानवतिर्यक्चेतनोपसर्गाश्च न भवन्ति क्षादिकहान्यथास्यात्तत्तत्प्रवृत्तयस्तत्र दर्शनचारित्र्यभेदविभिन्नमोहर्नायद्विदितयमपि बाह्यप्रपंचविमुक्तत्वात्तत्र विस्मयः नित्योन्मीलितशुद्धज्ञानस्वरूपत्वात्तत्र निद्रा असत्त्वात्वेदनीयकर्मनिर्मूलनात्तत्र क्षुधा तृषा च तत्र परमब्रह्मणि नित्यं ब्रह्म भवतीति ।

तथा चोक्तममृतशीतो—

ज्वरजननजराणां वेदना यत्र नास्ति

परिभवति न मृत्युर्नागतिर्ना गतिर्वा ।

तदतिविशदचित्ते लभ्यते नोऽपि तत्त्वं

गुणगुरुगुणादाम्भोजसेवाप्रसादात् ॥

तथाहि—

यस्मिन् ब्रह्मण्यनुपमगुणाळंकृते निर्विकल्पेऽ

क्षानामुच्चैर्विविधविषमं वर्तनं चैव किञ्चित् ।

नैवान्यैर्वा भवितुमशक्यं गुणाः संसृतेर्मूलभूता-

स्तस्मिन्नित्यं निजसुखमयं भाति निर्वाणमेकं ॥

सकलकर्मविनिर्मुक्तशुभाशुभशुद्धध्यानध्येयविकल्पविनिर्मुक्तपरमतत्त्वस्वरूपास्यानमेतत्:-

णवि कम्मं णोकम्मं णवि चिंता णेव अट्टरुद्वाणि ।

णवि धम्मसुक्कदाणे तत्थेव य होइ णिध्याणं ॥ १८० ॥



नापि कर्म नोकर्म नापि चिन्ता नैवार्तरीद्रे ।

नापि धर्मशुक्लध्याने तत्रैव च भवति निर्वाणं ॥ १८० ॥

सदा निरंजनत्वात्तद्द्रव्यकर्माष्टकं त्रिकालनिरुपाधिस्वरूपत्वात्तन्न नोकर्मपचकं च अमनस्कत्वात्तन्न चिन्ता औदायिकादिविभावभावानामभावादातर्तरीद्रे ध्याने न स्तः धर्मशुक्लध्यानयोग्यचरमशरीराभावात्तद्विद्ययमपि न भवति तत्रैव च महानद् इति ।

निर्वाणस्थे प्रहतदुरितध्वान्तसंघे विशुद्धे

कर्माशेष न च न च पुनर्ध्यानकं तच्चतुष्कं ।

तस्मिन्सिद्धे भवति हि परं ब्रह्मणि ज्ञानपुंजे

काचिन्मुक्तिर्भवति वचसां मानसानां च दूरम् ॥

भगवतः सिद्धस्य स्वभावगुणस्वरूपाख्यानमेतत्—

विज्जिदि केवलणाणं केवलसोक्खं च केवलं विरियं ।

केवलदिदि अमुचं अत्थिचं सम्पदेसत्तं ॥ १८१ ॥

विद्यते केवलज्ञानं केवलसौख्यं च केवलं वीर्यं ।

केवलदृष्टिर्मूर्तत्वमस्तित्वं सप्रदेशत्वं ॥ १८१ ॥

निरवशेषेणान्तर्मुखाकारस्वात्माभयनिर्भयपरमशुक्लध्यानवलेन ज्ञानावरणापष्टविधकर्मविलये जाते ततो भगवतः सिद्धपरमेष्ठिनः केवलज्ञानकेवलदर्शनकेवलवीर्यकेवलसौख्यामूर्तत्वास्तित्वसप्रदेशत्वाद्विस्वभावगुणा भवन्ति इति ।

बन्धच्छेदाद्भगवति पुनर्नित्यशुद्धे प्रसिद्धे

तस्मिन्सिद्धे भवति नितरं केवलज्ञानमेतत् ।

दृष्टिः साक्षादखिलविषया सौख्यमात्यंतिकं च  
शक्त्याद्यन्यद्वृणमणिगणं शुद्धशुद्धश्च नित्यं ॥

सिद्धासिद्धयोरेकत्वप्रतिपादनपरायणमेतत्—

णिव्वाणमेव सिद्धा सिद्धा णिव्वाणमिदि समुद्दिहा ।  
कम्मविमुक्को अप्पा गच्छइ लोयग्गपज्जंतं ॥ १८२ ॥

निर्वाणमेव सिद्धा सिद्धा निर्वाणमिति समुद्दिष्टाः ।

कर्मविमुक्त आत्मा गच्छति लोकाग्रपर्यन्तम् ॥ १८२ ॥

निर्वाणशब्दोऽत्र द्विष्टो भवति । कथमिति चेत् । निर्वाणमेव सिद्धा इति वचनात् । सिद्धा सिद्धक्षेत्रे तिष्ठतीति व्यवहारः । निश्चयतो भगवतः स्वस्वरूपे तिष्ठन्ति ततो हेतोर्निर्वाणमेव सिद्धाः सिद्धा निर्वाणम् इत्यनेन क्रमेण निर्वाणशब्दसिद्धशब्दयोरेकत्वसफलं जातं । अपि च यः कश्चिदासन्नमव्यर्जितपरमगुरुप्रसादासादितपरमभावभावनया सकलकर्मकलंकपंकविमुक्तः ६ परमात्मा भूत्वा लोकाग्रपर्यन्तं गच्छतीति ।

अथ जिनमतमुक्ते मुक्तजीवस्य भेदं

इचिदपि न च विप्रो युक्तिश्चागमाच्च ।

यदि पुनरिह भव्यः कर्म्मनिर्मूल्य सर्व

स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥

अत्र सिद्धक्षेत्रादुपरि जीवपुद्गलानां गमनं निषिद्धं—

जीवाण पुग्गलाणं गमणं जाणेहि जाय धम्मत्थी ।  
धम्मत्थिकायभावे तत्तो परवो ण गच्छन्ति ॥ १८३ ॥

जीवानां पुद्गलानां गमनं नार्नाहि यावद्धर्मास्तिकः ।

धर्माभ्निहयाभावे तस्मात्परतो न गच्छति ॥ १८३ ॥

जीवानां स्वभावक्रियासिद्धिगमनं विभावक्रियापदकापक्रमयुक्तत्वं पुद्ग-  
लानां स्वभावक्रियापरमाणुगतिः विभावक्रियान्यणुकादिस्कन्धगतिः अतोऽ  
मीयां त्रिलोकशिसिरादुपरिगतिक्रिया नास्ति परतो गतिहेतोर्धर्मास्तिका-  
याभावात् । यथा जलाभावे मत्स्यानां गतिक्रिया नास्ति अत एव यावद्दर्मा-  
स्तिकायास्तिष्ठति तत्क्षेत्रपर्यन्तं स्वभावविभावगतिक्रियापरिणतानां जीव-  
पुद्गलानां गतिरिति ।

त्रिलोकशिसिरादूर्ध्वं जीवपुद्गलयोर्द्वयोः ।

नैवास्ति गमनं नित्यं गतिहेतोरभावतः ॥

शास्त्रादौ गृहीतस्य नियमशब्दस्य तत्फलस्य चोपसंहारोयः—

णियमं णियमस्स फलं णिद्धिदं पवयणस्स भत्तीए ।

पुट्वावरविरोधो जदि अवणीय पूरयंतु समयग्गा ॥ १८४ ॥

नियमो नियमस्य फलं निर्दिष्टं प्रवचनस्य भक्त्या ।

पूर्वापरविरोधो यद्यपनीय पूरयंतु समयज्ञाः ॥ १८४ ॥

नियमस्तावच्छुद्धरत्नत्रयव्याख्यानस्वरूपेण प्रतिपादितः । तत्फलं  
परमनिर्वाणमिति प्रतिपादितं न क्वचित्त्वदर्पात् प्रवचनभक्त्या प्रतिपादित-  
मेतत् सर्वमिति यावत् । यद्यपि पूर्वापरदोषो विद्यते चेतसोपात्मकं ह्युक्त्वा  
परमकर्वाश्वरास्तमयविद्भोत्तमं पदं कुर्वन्त्विति ।

जयति नियमसारस्तत्फलं चोत्तमानां

इदयस्यसि जाते निर्मुक्तेः कारणत्वात् ।

प्रवचनकृतभक्त्या सूत्रवृद्धिः कृती यः

स तत्तु निरिच्छभक्त्यभेदिनिर्वाणमार्गः ॥

इह वि भगव्य क्षिप्राणमुक्तः—

ईसामाद्येण पुणो केइं णिंदंति सुंदरं मगं ।

तेसिं वयणं सोचा अमत्तिं मा कुणह जिणमग्गे ॥ १८५ ॥

ईपांमाण पुनः केचिन् निन्दन्ति सुन्दरं मार्गं ।

तेषां वचनं श्रुत्वा अर्भाक्त्तं मा कुरुञ्चं निनमाने ॥ १८६ ॥

केचन मद्बुद्धयः त्रिचालनिरागणनित्यानेदकलक्षणनिर्विकल्पक-  
निजकारणपरमात्मतत्त्वसम्यक्ब्रह्मज्ञानपरिज्ञानानुष्ठानरूपशुद्धावयवनिर्दि-  
मिध्यात्वकमद्वयसामर्थ्येन मिध्यादर्शनज्ञानचारित्र्यपरायणः ईर्ष्याभावेन  
समत्सर्गपरिणामेन सुन्दरं मार्गं सर्वज्ञवीतरागस्य मार्गं पापक्रियानिवृत्ति-  
क्षणं भेदोपचाररत्नत्रयात्मकमभेदोपचाररत्नत्रयात्मकं केचिन्नन्दन्ति तेषां  
स्वरूपविकलानां कुहेतुशृणान्तसमन्वितं कुतर्कवचनं श्रुत्वा ह्यमर्क्तिं जिनेस्वा-  
प्रणीतशुद्धरत्नत्रयमार्गं हे भव्य मा कुरुष्व पुनर्भक्तिः कर्तव्येति ।

देहव्यूहमहीजराजिमयदे दुःसावलीश्वापदे  
विश्वासंति करालकालद्रहने शुष्यन्महीपावने ।  
नानादुर्णयमार्गदुर्गमतेम दृड्मोहिनां देहिनां  
जेनं दर्शनमेकमेव शरणं जन्माटवीसंकटे ॥

तथाहि—

लोकालोकनिकेतनं वपुरदो ज्ञानं च यस्य प्रभो-  
स्त शंसध्वनिकं पितासिलभुवं श्रीनेमितीर्थेश्वरं ।  
स्तोतुं के भुवनत्रयेऽपि मनुजाः शक्ताः सुरा वा पुनः  
जेने तत्तवनैककारणमहं भाक्तिर्गित्युत्सुका ॥

शास्त्रनामधेयकथनद्वारेण शास्त्रोपसंहारोपन्यासोयः—

णियभावणाणिमित्तं मए कइं णियमसारणामसुदं ।  
बुद्धा जिणोवदेसं पुच्चावरदोसणिम्मुक्कं ॥ १८६ ॥

निजभावनानिमित्तं मया कृतं नियमसारनामधुतं ।

बुद्धा जिनोपदेशं पूर्वापरदोषनिर्मुक्तम् ॥ १८६ ॥

अत्राचार्य्याः प्रारब्धस्यान्तगमत्वात् नितरां कृतार्थतां परिप्राप्य निज-  
भावनानिमित्तमद्भुतं च नार्थं नियमसाराभिधानं श्रुतं परमाध्यात्मशास्त्र-  
शतकुशलेन मया कृतं । किं कृत्वा पूर्वं । ज्ञात्वा अत्र चकपरमगुरुप्रसादेन  
बुद्धेति । क । जिनोपदेशं धीतरागसर्वज्ञमुत्सारविन्दविनिर्गतपरमोपदेशं  
तं पुनः किं विशिष्टं । पूर्वापरदोषनिर्मुक्तं पूर्वापरदोषहेतुभूतसकलमोहराग  
द्वेषभावादाप्तमुराविनिर्गत्वाभिदोषमिति ।

किञ्च अस्य सलु निखिलागमार्थसार्थप्रतिपादनसमर्थस्य नियमशब्द-  
संसूचितविशुद्धमोक्षमार्गस्य अचितपञ्चास्तिकायपरिसिनायस्य सचित-  
पञ्चाचारप्रपञ्चस्य षट्द्रव्यविविधस्य सप्ततत्त्वनवपदार्थगर्भीकृतस्य  
पञ्चभावप्रपञ्चप्रतिपादनपरायणस्य निश्चयप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानप्रायश्चित्त-  
परमालोचना— नियमध्याससर्गप्रभृतिसकलपरमार्थक्रियाकाण्डाटंबरसमुद्भस्य  
उपयोगत्रयविशालस्य परमेश्वरस्य शास्त्राय द्विविधं किल तात्पर्य्यं सूत्रतात्पर्य्यं  
शास्त्रतात्पर्य्यं चेति । सूत्रतात्पर्य्यं पद्योपन्यासेन प्रतिसूत्रमेव प्रतिपादितं शास्त्र-  
तात्पर्य्यं त्विदमुपदर्शनेन भागवतं शास्त्रमिदं निर्वाणसुन्दरीसमुद्भवपरमवी-  
तरागात्मकनिर्व्याधाधनिरन्तरानङ्ग्यरमानन्दप्रदं निरतिशयनित्यशुद्धनिरं-  
जमनिजकारणपरमात्मभावनाकारणं समस्तनयनिचयाचितं पञ्चमगतिहेतु-  
भूतं पञ्चेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहेण निर्मितमिदं ये सलु निश्चयव्यव-  
हारनययोरविरोधेन जानन्ति ते सलु महातः समस्ताध्यात्मशास्त्रद्वयवेदिनः  
परमानन्दवीतरागसुराभिष्टापिणःपरित्यक्तबाह्याभ्यन्तर्भूतुर्विंशतिविग्रहप्रपञ्चाः  
त्रिकालनिष्पाधिस्वरूपनिरतनिजकारणपरमात्मस्वरूपश्च ज्ञानपरिज्ञानाचरणा-  
त्मकभेदोपचारकल्पनानिरपेक्षस्वस्थरत्नत्रयपरायणाः सन्तः शब्दब्रह्मप-  
ठस्य शाश्वतमुरास्य भोक्तारो भवन्तीति ॥

मुक्कविजनपयोजानन्दिमित्रेण शस्तं  
 ललितपद्मनिर्घायैर्निर्मितं शाग्रमेतत् ।  
 निजमनसि विद्यते यो विशुद्धात्मकांक्षी  
 स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥ १ ॥

प्रज्ञप्रभाभिधाध्वनीसिन्धुनायसमुद्भवाः ।  
 उपन्यासोऽर्मिमालेयं स्थेयाच्चेतसि सा सता ॥ २ ॥  
 आस्मिन् लक्षणशास्त्रस्य विरुद्धं पदमस्ति चेत् ।  
 लुप्त्वा तत्कवयो भद्राः कुर्वन्तु पदमुत्तमं ॥ ३ ॥

यावत्सदागतिपथे रुचिरे विरेजे  
 तारागणैः परिवृतं सकलेन्दुबिंबं ।  
 तात्पर्यवृत्तिरपहस्तितहेयवृत्तिः  
 स्थेयात्सतां विपुलचेतसि तावदेव ॥ ४ ॥

इतिमुक्कविजनपयोजमित्र-यश्चेन्द्रियप्रसरवार्जितगात्रमात्रपरिग्रह-श्रीपद्मप्रभ-  
 मलधारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ  
 शुद्धोपयोगाधिकारो द्वादशः श्रुतस्कन्धः ॥ १२ ॥

समाप्ता चेयं तात्पर्यवृत्तिः ।



भापरमात्मने नमः ।

श्रीकुंदकुंदाचार्यविरचित

# नियमसार ।



वालवोधिनी भाषाटीका सहित ।



मंगलाचरण भाषाकारकी ओरसे ।

वांछा ।

समयसार सतगुण प्रणमि, द्रव्य भाव हरपाय ।

‘ गौतम ’ गणधर माय गुण, जिनयाणी उर ध्याय ॥ १ ॥

‘ कुंदकुंद ’ मुनि धरण नमि, अनुभवके दातार ।

ज्ञानभानु-सम्यक्किरण, मिथ्यातमहरतार ॥ २ ॥

नियमसार गुण-रत्नको, प्रगटायो सुखदाय ।

प्राकृतभाषामय मधुर, निजरसअनुभवदाय ॥ ३ ॥

‘ पद्मप्रभ मलधारि ’ जे, मुनि निर्भन्धस्वरूप ।

पर संस्कृत टीका रधी, पद अरु शब्द अनूप ॥ ४ ॥

ताकी छाया लयकर, तृष्ण बुद्धि अनुसार ।

प्राकृतकी भाषा करी, वालवोध दितकार ॥ ५ ॥

निज अनुभवके कारणे, पर अनुभवके काज ।

खाद शब्द जग छोड़कर, भजि मन पच जिनराज ॥ ६ ॥

## संस्कृत टीकाकारके मंगलाचरणका भावार्थ ।

हे परमात्मन्, आपको होते में किस प्रकारसे मेरे ही ऐसे अर्थात् संसारी जीवोंके सदृश जो मोहमें मुग्ध और कामदेवके आधीन हैं ऐसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश और बुद्ध देवोंको भज सकता हूँ, इसलिये मैं जिनेन्द्रसूर्यको नमस्कार करता हूँ । कैसे हैं प्रभु—जिन्होंने संसारको जित लिया है, जो मोक्षमार्गके नेता हैं, वाणीके स्वामी हैं तथा आनन्द हैं । तथा मैं जिनवाणीको नमस्कार करता हूँ, जो वाणी श्रीगुरुदेवोंके इन्द्र ऐसे श्रीजिनेन्द्रके मुसकमलसे प्रगट हुई है, तथा निधय और व्यवहार नयके द्वारा जिसमें वाच्य जो पदार्थ तिनके पूर्ण स्वरूप कथन किया गया है । तथा मैं सिद्धान्त समुद्रके पारगामी पवित्र सिद्धान्त-रूपी श्रेष्ठ लक्ष्मीके पति श्रीसिद्धसेनको, तर्करूपी कमलके शशि करनेको सूर्य समान श्रीमद्भद्रकालकदेवको, शब्द समुद्रकी इन्द्रिये लिये चन्द्रमाके समान श्रीपूज्यपादस्वामीको, तथा विद्याके पारंगत महाप्रतियोंमें इन्द्रके समान ऐसे श्रीपीरनन्दि आचार्यको नमस्कार करता हूँ । मैं भव्य जीवोंको मोक्षमार्गमें लगानेके लिये तथा अपनी आत्माकी शुद्धिके लिये इस नियमसार ग्रन्थकी 'तात्पर्यवृत्ति' नामकी वृत्ति कृत है । यह परमात्म गुणके धारी श्रीगणधरदेवोंसे रचा गया है सो ही मुझे धारियोंकी परिपाटी द्वारा प्रगट किया गया है, ऐसे परमात्मके अर्थ कहनेको मैं मरुवृद्धि केम समर्थ हो सकता हूँ । तथापि इस परमात्मके धारकी पुष्ट रचि जो मेरेमें उत्पन्न हुई है उसीने मेरे मनकी बरतव्य प्रेरणा की है ।

पूर्वमें गुरुदेवोंके पञ्चान्धिकाय, पद द्रव्य, छान तत्त्व, और न पदार्थोंका तथा प्रत्यक्षानादि सब क्रियाओंका वर्णन किया है । यह अर्थिक विस्तार न करके मूल ग्रन्थका विवरण करते हैं ।



## मूल ग्रन्थकर्त्ताका मंगलाचरण ।

णमिऊण जिणं वीरं अणंतवरणाणदंसणसहावं ।

बोच्छामि णियमसारं केवळिसुद्धकेवलीमणिदं ॥ १ ॥

शास्त्रकी आदिमें कर्त्ताने असाधारण मंगल किया है । मंगल उसको कहते हैं जो पापको गटावे और सुसकी देवे । असाधारण मंगलसे यह प्रयोजन है कि यह मंगल साधारण नहीं है, किन्तु विशेष है । इस मंगलमें ही यह शक्ति है जो जीवात्माके अनादि कर्ममल पापका धोकर इस जीवको निज स्वरूपानंदी मुख प्राप्त करा सकता है, इसीलिये यह असाधारण मंगल है ।

सामान्य अर्थ—मैं कुंदकुंदाचार्य अनंत केवल ज्ञान दर्शन स्वभावके धारी ऐसे श्रीवीर जिनेन्द्रको नमस्कार करके केवली और श्रुतकेवलियोंसे कहे हुए ऐसे नियमसार परमागमको कहूँगा—यह प्रतिज्ञा करता हूँ ।

विशेष अर्थ—अनेक संसारके जन्मरूपी धनमें भ्रमण कर्गनेके कारण ऐसे जो समस्त राग, द्वेष, मोह आदिक विभाव भाव तिनको जो जीतता है उसका नाम 'जिन' है । 'वीरयते' अर्थात् कर्मरूपी शत्रुओंको जो परास्त करता है वह 'वीर' है । चौबीसवें तीर्थंकरके पांच नाम शशिद्वेह—श्रीवर्द्धमान, सम्मतिनाथ, आतिवीर, महावीर और वीर । ऐसे श्रीवर्द्धमान जिन ही परमेश्वर महा देवाधिदेव हैं । जो अपने निर्मल केवलज्ञान और केवलदर्शनसे पूर्ण होकर तीन लोकके चर अचर पदार्थोंकी समस्त पर्यायोंके जाननेको समर्थ हैं । यही आचार्योंने यह प्रगट किया है कि जो सर्वदर्शी सर्वज्ञ और वीतराग है वही आगमका स्वामी सत्यवक्ता आत हो सकता है । उसीको ही आगमकी व्याख्यारूप काव्यके प्रारम्भमें नमस्कार करना युक्त है । क्योंकि जो अल्पज्ञ और किसी प्रकारके भी राग और द्वेषको धरनेवाला होगा वह कदापि सत्पार्यकन्याणकारी उपदेश नहीं दे

सकता । परम हितोपदेशीपना उस परमौदारिक शरीरके धारी अरहन्-  
 देवमें ही हो सकता है, जो जीवन्मुक्त अवस्थामें भाव मुक्तिको प्राप्त कर  
 सर्वज्ञ और वीतराग गुणसे विभूषित है, जिसके क्षुधा, तृषा, जरा, रोग,  
 जन्म, मरण, भय, विस्मय, राग, द्वेष, मोह, स्वेद, सेद, मद, चिन्ता,  
 रति, अरति, और निद्रा ऐसे अठारह दोष नहीं हैं । ऐसे आत्मेके नमस्कार  
 करनेसे आचार्य्यने यह दर्शाया है कि उपासकोंको योग्य है कि ऐसे  
 अरहन्तको ही आत्त, देव, पूज्य, माननीय, सकल परमात्मा, परम  
 सुखी और दर्शन बंदन योग्य समझें । नियमसारसे प्रयोजन यह है कि  
 सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप जो नियम उसका सार जो शुद्ध रत्नरूप-  
 स्वरूप आत्मा तिसका व्याख्यान करूंगा । यह आचार्य्यकी प्रतिज्ञा है ।  
 कैसा है नियमसार जिसको सकल प्रत्यक्ष केवलज्ञानके धारी और  
 समस्त द्वादशांगरूप द्रव्यश्रुतके पारगामी ऐसे श्रुतकेवली कह चुके  
 हैं । इस वाक्यके कहनेसे आचार्य्यने यह दर्शाया है कि मैं जिस स-  
 मागमको कहूंगा, वह अपनी मनोकृतिसे नहीं कहूंगा, किन्तु जैसा मैं  
 गुरुने प्ररूपण किया है उसी अनुसार कहूंगा । यह नियमसार परमात्म  
 समस्त भव्यजीवोंके समूहोंका हितकारी है । इस तरह श्रीकुंडकुंडाचार्य-  
 देवने अपने इष्ट देवताकी स्तुति करके प्रतिज्ञा की है । टीकाकार  
 कहते हैं कि इस जगमें श्रीमहावीरस्वामी जयवन्त होहु । कैसे हैं स्वामी  
 जिन्होंने अपने शुद्ध भावोंके द्वाग कामदेवका नाश किया है, जो तीन  
 लोकके मनुष्योंमें पूज्य है, जिनके पास पूर्ण ज्ञानका एक गण्य है,  
 जिनका देवोंके समान नमन करते हैं, जिन्होंने समार वृक्षके बीज एक  
 द्वेषको नष्ट कर दिया है, जो केवलज्ञान दर्शन आदि लक्ष्मीके नियम  
 हैं, तथा जो समवशरणमें विराजमान हैं ।

आगे मोक्षमार्ग और उसका 'हठ' वर्णन करते हैं—

मग्गो मग्गफलंति य दुविहं जिणसासणे समकराई ।  
 मग्गो मोक्खउवापो तस्म फलं होइ जिण्यारणं ॥ २ ॥

सामान्य अर्थ—जिनशासनमें मार्ग और मार्गका फल ऐसे दो भेद हैं, जिनमें मोक्ष प्राप्तिका उपाय सो तो मार्ग है, और निर्वाणकी प्राप्ति उस मार्गके सेवनेका फल है ।

विशेष अर्थ—यहाँ पर मार्गसे प्रयोजन शुद्ध रत्नत्रयसे है, जिसका फल मोक्षरूपी स्त्रीके स्थूल भाटपर टीलासरित अलंकाररूप तिलकपनेकी प्राप्ति है, अर्थात् मोक्षका धरना है । जिनशासनसे प्रयोजन उस उपदेशसे है जिसका परम वीतराग सर्वज्ञ भगवानने तथा चार जानके धारी गणधरादि पूर्वाचार्योंने कहा है । सम्पददर्शन, ज्ञान, चारित्रकी एकता मोक्षमार्ग है । कैसा है मोक्षमार्ग; जो परम निरपेक्ष निश्चयनयके द्वारा निज शुद्ध परमात्म-तत्त्वका यथार्थ श्रद्धान ज्ञान और अनुभव स्वरूप शुद्ध रत्नत्रयमय है । इस मार्गके मनन और सेवनमें जो निर्वाण फल प्राप्त होता है वह अपने आत्मस्वरूपकी सम्पूर्णतया प्राप्तिरूप है ।

भावार्थ—निर्वाणको आत्माकी नाशित तथा शून्य अवस्थाके बहने-वालोकके निगकरणके अर्थ यह विवेचन है कि निर्वाण प्राप्त होनेसे इस आत्माका अपने सचे स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है । जब कमौक परद दूर हो जाते हैं, तब वह आत्मा स्वयं ही परमात्मा हो जाता है, और अपनी सनामें कायम रहकरके अपने अतीन्द्रिय परम स्वादमय स्वभावको अनंतकाल भोगता रहता है । यहाँ टीकाकार कहते हैं कि यह तसार्ग-जन कहीं तो स्त्रीकी रतिसे उत्पन्न जो मुख उतकी तरह खटा जाता है, कहीं द्रव्यकी रक्षामें अपनी बुद्धिको कर लेता है, परन्तु जो बुद्धिमान पुरुष है सो जिनेन्द्रके धर्मका लाभ कर अपने आत्मस्वरूपमें रत होता है । ऐसा ही ज्ञानी इस मुक्ति अवस्थाको प्राप्त होता है ।

आगे नियम सन्धके साथ सागका संबंध क्यों किया है, इसका प्रयोजन कहते हैं —

जियमेण च जं फज्जं तण्णियमं पाणदंसणपरिस्सं ।

विषयीयपरिहरत्थे भणिवं खलु मारमिदि वयणं ॥३

सामान्य अर्थ—नियम करके जी करने योग्य हो सो नियम है। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र ही नियम है, इससे विरुद्ध कोई नियम नहीं है। इसी लिये निश्चय करके सार पंजा वचन कहा गया है।

विशेष अर्थ—इस गायामें नियम शब्दके सारपना दिल्लानेके लिये स्वभाव रत्नत्रयका स्वरूप कहा है। जो सहज स्वभाविक अनंत उत्कृष्ट पारिणामिक भावमें ठहरा है, जो स्वभावसे अनंत-दर्शन-ज्ञान-मुक्त-वीर्यरूप ऐसे अनंत चतुष्टयस्वरूप है, तथा जो शुद्ध चेतनाका परिणाम है, सो नियम है। नियम अर्थात् निश्चय करके जो प्रयोजन भूत करने योग्य कार्य है वह दर्शनज्ञानचारित्र है। इसका निश्चय स्वरूप ऐसा है कि भगवान परमात्माके अतीन्द्रिय मुक्तकी सचि करने वाले जीवमें शुद्ध अंतरंग आत्मीक तत्त्वके जानन्दके उपजनेका स्थान अपने शुद्ध जीवास्तिकायका जो परम श्रद्धान—दृढ़ प्रतीति, सम्यक् निश्चय, सो ही दर्शन है। परद्रव्यका आलम्बन न करके अंतरंगमें अपना उपयोग रखकरके योग शक्तिकी निकटतासे अपने ही आत्मिक परम तत्त्वका ऐसा ज्ञान कि यही उपादेय—ग्रहण करने योग्य है सो ही ज्ञान है। तथा निश्चय दर्शनज्ञानमय कारण परमात्माके स्वरूपमें अचि-चल अर्थात् दृढ़ताके साथमें लवलीन या तन्मय हो जाना सो ही चारित्र है। ऐसे निजात्मीक तत्त्वकी सम्यक् सचि उसीका यथार्थ ज्ञान तथा उसीमें एक रूपसे ठहर जाना सो ही नियम है। यही नियम निवाण-पदका कारण है। कारण सदृश ही कार्य होता है। स्वरूपमें स्थिरता करनेका अभ्यास ही वास्तवमें अनंतकाल तक स्वरूपमें स्थिर रह जानेका उपाय है। यही सार उत्तम उत्कृष्ट करने योग्य उपाय है। इसके सिवाय सर्व असार है, विपरीत है, हेय (त्यागने योग्य) है। इससे उल्टा स्वरूप असार है, इस बातके बतानेके लिये सार पदको नियमके साथ रखनेका प्रयोजन है। इस प्रकार नियमसार शब्दकी सार्थकता वर्णन की। यहां टीकाकार कहते हैं कि मैं विपरीत स्वरूपसे रहित

अनुभव सर्वोत्तम स्वरूपको प्राप्त करके मुनिरूपी शरीर उत्पन्न जो अतीन्द्रिय आनन्द-विलास तिरको प्राप्त करता है ।

आगे कहने है कि स्वरूपका भेद करके लक्षण करना युक्त है -

णियमं मोक्षाय उपायो, तस्सफलं ह्यति परम णिव्याणं ।  
एदेमि तिण्हं पिय, पत्तय परूबणा होइ ॥ ४ ॥

सामान्य अर्थ—मोक्षका जो उपाय है सो नियम है और इस नियम धारणका फल परम निर्वाण अर्थात् मोक्ष है। नियम सम्यग्दर्शन-ज्ञान धारिन्नरूप है, इस लिये इन तीनोंका भी प्रगट अलग अलग वर्णन आगके सूत्रोंमें किया जायगा ।

विशेषार्थ—अनादि तथा सादि कालसे संसारि आत्माके लगे हुए समस्त कर्मोंके छूट जानेमें जो महा निरुपम, अविनाशी, अतीन्द्रिय आनन्दकी प्राप्ति होती है वही सदा आनन्दस्वरूप परम निर्वाण अर्थात् मोक्ष है । तथा आत्माकी अभेद स्वरूप जो परिणति है सो ही इस महानन्दके प्राप्तिका उपाय है । परन्तु इस अभेद स्वरूपका स्वरूप भेद-स्वरूपके जाने बिना अपने अनुभवमें नहीं आसकता, इसी लिये आचार्य्य दर्शन ज्ञान धारिन्नको भिन्न भिन्न प्रतिपादन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं ।

आगे व्यवहारसम्यग्दर्शनको कहते हैं:—

अत्तागमतच्चाणं, सहहणादी हवेइ सम्मत्तं ।  
ववगयअसेसदासां, सचलगुणप्पा हवे अत्तो ॥ ५ ॥

सामान्य अर्थ—आत अर्थात् आगमके ईश देव, आगम अर्थात् जिन-वाणी, तथा आगममें वर्णन किये हुए तत्त्व इन तीनोंके श्रद्धान करनेमें व्यवहार सम्यग्दर्शन होता है । तथा आत वही है सो सम्पूर्ण दोषोंसे रहित और सम्पूर्ण गुणमय है ।

यहां टीकाकार कहते हैं कि मुनियोंके लिये शुद्ध एतदपस्वरा अपने ही आत्माका होना मोक्षका उपाय है, अन्य न तो कोई दर्शन है न ज्ञान है और न चारित्र्य है। ऐसा ही संसारसे मुक्त श्रीअरहंत भगवानने कहा है। ऐसा जानकर भव्यजीव फिर कभी किसी माताके उदरमें नहीं जाता है, अर्थात् गर्भ जन्मके संकटोंसे छूट जाता है।

विशेष अर्थ—आप्त अर्थात् पूजने योग्य देव अथवा आगमका एक सम्पूर्ण मोह राग द्वेषादिक दोषोंसे निर्मुक्त है और सर्वज्ञ वीतराग और आत्मिक गुणोंसे विभूषित है। ऐसा गुणवान् ब्रह्मा ही परके हितरूप उपदेशको यथार्थ दे सकता है। इसके अतिरिक्त जो राग और द्वेष तथा स्नेह, भय, काम, निद्रा, जगत्कर्तृत्व, जगतके जीवोंको दंड देनेका गुण इत्यादि दोषोंमें लिप्त है उनके वचन यथार्थ वीतरागरूप नहीं हो सकते। वीतरागीहके वचन वीतरागरूप हो सकते हैं। इसलिये सत्यार्थ आप्त श्री अरहंत भगवान् हैं; जिनकी शांत प्रतिमाको देख कर तथा पूजन कर परम वीतरागरूप निमित्तका सम्बन्ध मिलनेमें भव्यजीव अपने भावोंको उज्ज्वल विशुद्ध और वैराग्यमय करते हैं। ऐसे सत्यार्थ आप्तके मुसकामलसे प्रगट होनेवाली जो हितोपदेशमय दिव्य ध्वनि, सो ही सप्त पदार्थोंके विस्तारके समर्थनमें प्रवीण सच्चा आगम है। अतएव तब परमात्मा तथा वाय तत्त्व परमान्मस्वरूपसे भिन्न पदार्थ, ऐसे दो तत्त्व हैं; अथवा जीव, अजीव, आश्रय, बंध, सवर्ग, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। इन तत्त्वोंके प्रदर्शन करानेवाले आगम हैं। आगमके द्वारा इन तत्त्वोंका स्वरूप जानना बहुत कार्यकारी है। इसी लिये सत्यार्थ आगम और तत्त्वोंके यथार्थ भ्रूयान करनेमें सम्यग्दर्शन होता है। सर्वत्र उपलब्ध दही उपादय है कि वीतराग सर्वज्ञको भले प्रकार अपना हित माने। यह करने अनभयमें आप्तका निश्चय हो जायगा तब सब्र हो आगम और तत्त्वोंका निश्चय ज्ञम जायगा। इसी लिये निश्चय आपने श्री

करना ही सामान्यका प्रबल उदाहरण है। यही टीकाकार कहते हैं कि वे संसारके भयकी निष्ठानकारी जिनवाणीरूप भगवती 'जो हम लोकमें नेरी भनिकी नहीं करता है यह संसार समुद्रके मध्यमें जो बुलबुली भाह है उसके मध्यमें धरा जाता है।

आगे आस अठारहशेषोंसे रहित होता है, इसलिए १८ शेषोंके नाम कहते हैं—

पुष्टतण्डभीरसो, रागो मांही चिंता जरा रुजा मिष्पू ।  
स्वेदं खेदं मद्दो रद्द, विह्वियणिष्ठा जणुप्येगो ॥ ६ ॥

सामान्य अर्थ—ऊपर गांधीमें वर्जित किया हुआ आस १८ शेषोंसे रहित होता है, उस आसके क्षुधा, गुषा, भय, क्रोध, राग, मोह, जिता, जरा, गम, मृत्यु, पक्षीना, मेद, मद्, रति, आश्चर्य, निद्रा, जन्म आदि-टना ऐसे १८ महाशेष नहीं होते हैं।

विशेष अर्थ—अज्ञाता वेदनी कर्मके तीव्र तथा मन्द उदयसे चित्तमें क्लेशका होना सो क्षुधा अर्थात् भूखकी पीड़ा है। केवली आहतके मोहनी कर्मके अभाव होनेसे वेदनी कर्म क्षुधा उपजानेका समर्थ नहीं है। वेदनी कर्म मोहकर्मकी प्रवृत्ति रति तथा अरतिके साथ ही परद्रव्यसम्बन्ध-जनित मुख तथा दुःख वेदन करानेको समर्थ है। मोहके नाशसे जब वीतरागी प्रभु अपने आनन्दमय स्वरूपमें टवटीन हो गये और अतीन्द्रिय अनंत सुखका स्वाद लेने लग गये तब उस अनुभवस्वार्थके उपयोगको हटाकर क्षुधाकी वेदना कराना और फिर क्षुधाका दुःख मिटकर साताका होना यह बात संभव नहीं है। अंतरायके नाशसे अनन बलके धनीको क्षुधासम्बन्धी निर्बलता नहीं पैदा हो सकती है।

इसी कारण साधारण मनुष्योंके समान आहार अर्थात् चार प्रकारके भोजनमें से किसीका भी ग्रहण केवली आसके नहीं है। उनकी देह परमौदारिक हो जाती है, निचकी स्थिति शुद्ध नोकर्मवर्णाओंके

ग्रहणसे ही हो जाती है। अनन्त चतुष्टयके स्वामीको छुड़का देना कहना उनके अनन्त चतुष्टयमें बाधाका देना है। इसलिये स्वामी स्वामृत भोजन ही है, जो उनकी अनावि कालकी गंभीर छुड़ाको हर समय भेट रहा है। असाता वेदनी कर्मके तीव्र, तीव्रतर, मंद और मंदतर उद्यके वशसे पीड़ाका पैदा होना सो वृषा अर्थात् व्यास है, सो भी प्रभुके सम्भर नहीं है। आत्मीक रसके पीनेवालेको क्षणिक व्यासको कुसनेवाले जलकी इच्छा कैसे हो सकती है? इस लोक, परलोक, अर्थात् अगुप्ति, मरण, वेदना, आकस्मिक ऐसे सात प्रकारके भयका नाम धर्म है, सो प्रभुके शरीर, भोग, इन्द्रियजनित मुरा तथा धन, धान्य, कुम्भ, पर, जमीन, चाँदी, मुरर्ण आदिसे किसी प्रकारकी मुर्ता नहीं है। क्योंकि प्रभुने चारित्रमोहनी और दर्शनमोहनी दोनोंका सर्षपा मरु हर डाला है, इसमें श्रीजिनेन्द्र सर्ष भयमें रहित अत्यन्त निरभे हैं। कोप कृपायुक्त उद्यसे तीन परिणामका होना सो रोष अर्थात् क्रोध है। यह भी क्षमाशील शक्ति प्रभुके नहीं हो सकता। क्योंकि प्रभुने कोप कृपायुक्ती सनाहा ती नाश अपनी पूर्व अवस्थामें अर्थात् अन्तः प्रतिक्रमण नामें गुणस्थानमें हर दिया है। सात दो प्रकारका है एक प्रसन्न अर्थात् शुभ, दूसरा अप्रसन्न अर्थात् अशुभ। शान, शक्ति, श्रवण, गुरुजनांकी वैध्यालय मया आदि शुभ कार्योंमें प्रतीना ना उपयोग सो प्रसन्न नाम है और भी, राज, चार, मानन इन चर्षोका कृपायुक्त मुननेर्ष कोनूदलक्ष्य पाँचगाम अर्थात् इनकी कर्षो कर्षो विनय कोनूदलक्ष्य रूप ही मानन्दका मानना सो अन्तः प्रसन्न है। यह भी शान ही प्रकारका नाम प्रभुके नहीं है। क्योंकि प्रभुने कोप विनयद्वैक साय कोप कर्षो प्रसन्न है। चार प्रकारके कोपोंके भाव, यति, मुनि, जनपद इनकी लक्ष्य सायसाय भावका है। यह लक्ष्य है। यह लक्ष्य भावका प्रसन्न प्रसन्न भावका कोनूदलक्ष्य प्रसन्न प्रसन्न विनय है। यह चर्षोदलक्ष्य



शुद्धध्यानरूप है। अशुभ विचार करना सो अशुभ चिन्ता है, यह मार्शध्यान और रौद्रध्यानरूप है। सो प्रभुके स्वरूपनिश्चलताके होनेसे इस चिन्ताका प्रवेश नहीं है। यद्यपि शुद्धध्यान कहा जाता है, परन्तु यह कथन मात्र उपचारसे है। श्रीवीतरागी अनंत मुरारीके चिन्ता होनेसे स्वयंमें विशेष पढ़ सकता है। सो प्रभुके चिन्ता नहीं है, इसी लिये स्वयंमें ब्रह्म नहीं है। तिर्यच और मनुष्योंके औदारिक शरीरोंका आयुकर्मके उरनेके निमित्तसे जर्जरा हो जाना अर्थात् बूढ़ा हो जाना सो जरा है। मनतबलके धारी कोटिसूर्यसे अधिक प्रभापारीके शरीरमें जराका स्वप्नमें ही प्रवेश नहीं हो सकता। प्रभुके नख केस ही बढ़ते नहीं हैं। वायु, पित्त कफकी विषमतासे पैदा हुई शरीरमें पीड़ा उर्साका नाम रोग है। सो परमाँदारिक महामुन्दर निश्चल शांत ध्यानाकार शरीरमें किसी तरह भी नहीं उत्पन्न हो सकता। आदि और अंतसहित, मूर्तीक, इन्द्रियोँकरके चिद्धित, आत्मीक जातिसे विलक्षण विजातीय नर, नारक, तिर्यच, वेदगतिसम्बन्धी विभाव व्यंजनपर्याय अर्थात् औदारिक और शक्तिरक शरीरका ही नाश अर्थात् आत्माके सूक्ष्म कार्माण शरीरसे अलग हो जाना सो मरण है। सो प्रभुके परमाँदारिक देहका टूटना कार्माण देहके साथ साथ होता है, इससे उनके संसारी जीवोंके समान मरण नहीं है। संसारियोंकी पर्यायका टूटना एक नवीन विभाव व्यंजनपर्यायके जन्म लेनेके लिये होता है। मरण जन्म करके सहित है। तथा स्वाधीन आत्माका अब किसी भी देहमें उपजना नहीं है, इसी कारण प्रभुके मरण अथवा मरणसम्बन्धी वेदना व्यापती नहीं। अशुभ कर्मके उदयसे शरीरमें परिभ्रमके होनेसे दुर्गंधरूप अलबिन्दुओंका प्रगट होना सो स्वेद अर्थात् पसीना है। सो स्वरूपानन्दी परम शुद्ध शरीरधारिके सम्भव नहीं है। जो वस्तु अपनेको अप्रिय है उसके लाभमें जो रज करना सो स्वेद है, सो परिग्रह तथा मूर्तारहित स्वरूपानन्दी स्वामीके स्वेदका प्रकाश कभी सम्भव नहीं है। सहज कविताकी धनुर्गा, सम्पूर्ण मनुष्योंकी सुननेसे आनन्द

हो ऐसी रचन की गयना, मनाज शरीर, उनम कुल, अनुष्ठ वन, अंशुन  
 ऐश्वर्य आदिक होनेम आत्माके भावमें अहकारका होना मो मद है ।  
 ऐसा मद सायकमम्यररभारी, शरीरादिपरद्रव्यपरिग्रहत्यागी तथा निज  
 भात्माके उत्कृष्ट माद्विगुणमें आशक्तके द्विनी भी प्रकारसे नही हो  
 सकता । मन हो प्यारी वस्तुओंमें माद्व प्रीतिक होना मो रति है । द्वि-  
 नारीमें रति करनेगले, परम वीतरागी, संकल्पविह्वल्यन्याकारण  
 मनके अभावका रसनेगले प्रभुके अपनी निज अनुभूतिसे तो रति है,  
 परन्तु उसके सिवाय अन्य किसी भी परद्रव्य, परमुज व परपदमें  
 प्रीति नही है । परम समरसी भावनासे दूरवती पुष्ट्योंको कनी द्विनी  
 अपूर्व वस्तुको जिसको पहले नही देखा है देखनेसे विस्मय अर्थात्  
 अचम्भेका हो जाना सो विस्मय अर्थात् आश्चर्य है । तीन लोक तथा  
 अलोककी भूत, वर्तमान, और भविष्य सर्व द्रव्योंकी सर्व अवस्थाओंको  
 अपने केवल दर्शन और ज्ञानसे एकही कालमें देखने जाननेवालेके ऐसा  
 कोई पदार्थ व उसकी कोई ऐसी पर्याय ही नहीं है जिसको कि अपूर्व  
 कहा जाय । जब प्रभुके लिये कोई अपूर्व वस्तु ही नहीं है तब प्रभुके  
 विस्मय दांप नही हो सकता । केवल शुभ कर्मोंके वशसे देवगतिमें, केवल  
 अशुभ कर्मोंके निमित्तसे नरकगतिमें, मायाचार करके तिर्यचगतिमें, शुभ  
 अशुभ मिश्रकर्मके वशसे मनुष्यगतिमें जाकर जीवका शरीरको प्र  
 करना सो जन्म है । प्रभुने चारोंगतिमें जानेके कारणरूप भावोंका ही ना  
 कर दिया है । न प्रभुके देवआयुके बंधके कारण सराग संयम, असंयम  
 अकामनिर्जरा, बालतप आदिके भाव है, न जिनेन्द्रश्रणोंके ना  
 स्थिति है, जहां ही देवायुका बंध होता है, न स्वामीके मोह कर्म  
 अत्यन्ताभावसे नरकायुबधके कारण बहु आरम्भ और बहुपरिग्रह स  
 म्बन्धी भाव हैं, न वीतरागीके तिर्यचायु बंधका कारण माया है और  
 अटल सुरा भोक्ताके अल्प आरम्भ, अल्प परिग्रहके भाव हैं और  
 साधारण मार्दव न साधारण सम्यक्त्व है, इसी लिये प्रभु जन्म अर्थात्



पुनः कदा । कर्म है ध्यामी जो भी इन्द्रनिहारी पुन्य है, अतिमुक्त सम्पत्जनका पाया है तन्व्य जिन्होंने, कामविजयी देव ऐसे तौकान्दिक देवोंके नाथ हैं, कुछ अष्टकर्मके समूहका जिन्होंने विश्वज्ञ किया है, जिनके वरगोंको नागयज्ञ उलमद्र नमस्कार करते हैं, जो भव्यकर्मकोंके प्रकृतिक करनेके लिये सूर्यके ममान हैं, तथा जो अन्नन्दके स्थान हैं ॥ ६ ॥

आगे तीर्थहर परम देवका स्वरूप और भी कहते हैं:-

णिस्सेसदोसरहिआं, केवलणाणाइपरमविभवजुदो ।  
सो परमप्पा उच्चइ, तद्विचरीओ ण परमप्पा ॥ ७ ॥

सामान्य अर्थ — जो सम्पूर्ण दोषोंमें रहित है और जो केवल ज्ञान आदि परम ऐश्वर्यसे संयुक्त है वही परमात्मा कहा जाता है। इससे जो विपरीत अर्थात् विरुद्ध है वह परमात्मा नहीं है।

विशेषार्थः—आत्माके गुणको घात करनेवाले ज्ञानावरणी दर्शन-वरणी अंतराय मोहनी ऐसे चार घातिया कर्म हैं। इनका सर्वथा नाश कर देनेसे वह परमात्मा सर्वदोषरहित है, अथवा पूर्वगाथाकल्पित १८ महादोषोंके निर्मूलन कर देनेसे वह परमात्मा निर्दोष है। सम्पूर्ण प्रकारसे निर्मल ऐसे केवल ज्ञान, केवल दर्शन, परम वीतरागता परमानन्द आदि अनेक अतरंग विभव और अष्टपातिहायोंदि बहिरंग विभूतिसे वह परमात्मा अतिशयकरके सुशोभित है। तथा जो निर्दोष और विभवयुक्त होने पर भी कार्यपरमात्मा है, अर्थात् तीन कालमें सम्पूर्ण आवरणों करके रहित, नित्य, आनन्दमय, एकस्वरूप, निजकारण परमात्माकी भावनासे उत्पन्न हुआ ऐसा कार्यपरमात्मा वही भगवान् अर्थात् परमेश्वर है। इस भगवान् परमेश्वरसे विपरीत गुणके धारी सर्व ही देवामास जो देवपनेके अभिमानसे दग्ध हैं; परन्तु देव नहीं वे सब ही संसारी हैं। श्रीकुंदकुंड-चार्य दूसरे ग्रन्थकी एक गाथामें कहते हैं:-“जिस देवका तेज अन्त

दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख, ईश्वरपना तथा तीन लोकमें प्रधानपना है ऐसी महिमाका धारी ही अरहंत होता है ।” श्रीअमृतचंद्रमूरि कहते हैं:—“ जो अपनी कांतिसे दशों दिशाओंको उजला करते हैं, जो अपने तेजसे बड़े बड़े तेजधारियोंके तेजको रोकते हैं, जो अपने रूपसे मनुष्योंके मनको हरते हैं, जिनकी दिव्यध्वनिसे कानोंमें मानो साक्षात् अमृत वर्षता है ऐसा सुख होता है, वे ही १००८ लक्षणके धारी तीर्थ-कर भगवान् बन्दना करने योग्य हैं । भावार्थ यह कि भी अरहंत परमात्माको अपना परीपकारी समझके उनको ही आत्मानके पूजना बन्दना योग्य है ।” यहाँ टीकाकार कहते हैं कि जिस अरहंतके ज्ञानरूपी कमलमें भ्रमरके समान यह लोक और अलोक नित्य स्पष्टपने प्रतिभासमान हैं ऐसे श्रीनेमिनाथ भगवानको मैं निश्चय करके यजन करता हूँ । उसी प्रभुके प्रसादसे मैं तीव्र तरंगबाँल ससार समुद्रको अपनी दोनों भुजाओंसे तर सकूँगा ।

आगे परमागमका स्वरूप कहते हैं.—

तस्स मुहग्गहवयणं, पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं ।

आगममिदि परिकहियं, तेण दुकहिया हवन्ति तच्चत्था ॥

सामान्य अर्थ:—ऊपर गाथामें कथित श्री अरहंत परमात्माके मुख-स निकले हुए वचन पूर्वापर दाँप करके रहित हैं, और शुद्ध हैं, उसीको आगम कहते हैं । इसी आगममें तत्त्वार्थोंका वर्णन किया गया है ।

विशेष अर्थ:—निश्चय करके उसी परमेश्वरके द्वारा परमागमका उद्योत हुआ है । कैसा है परमागम, जो श्रीअरहंतके मुखकमलसे निकले चतुर वचनरचनाका समूह रूप पूर्वापरदोषसे रहित है । श्रीअरहंत आत्मा सर्वज्ञ वीतराग हैं, इसी लिये उनके वचनोंके कथनमें ऐसा दाँप नहीं है कि पूर्वका कथन आगेके कथनसे लक्ष्मी हो जाय । जो अल्पज्ञ शास्त्रके वक्ता होते हैं उनके शास्त्रोंमें यह दोष दृश्य पड़ता है कि एक स्थानमें

जिसको पुष्ट किया है, उसीको दूसरे स्थानमें बिना किसी विशेष भो-  
क्षाके शिथिल कर दिया है अथवा निराकरण कर दिया है, एवं  
सर्वज्ञ धीतरागकथित परमागममें यह दोष नहीं है। तथा जो परमागम  
हिंसादि पापक्रियाकी पुष्टिके अभावसे शुद्ध है, क्यों कि निर्मल वीरग  
भगवान्के द्वारा प्रगट है। वे भगवान् कदापि भी हिंसाका समर्थन नहीं  
कर सकते। इसी परमागममें जीवादि सात तत्त्व और नव पशुपैश  
कथन है। केसा है परमागम, अमृतरूप है, जिसके रसको भय और  
कर्णरूपी अंजलीसे पीते हैं, फिर केसा है, मुक्तिरूप मुंरीके पुन-  
का दर्पण है अर्थात् जिसको देगनेसे मुक्तिका स्वरूप प्रगट होता है।  
यही परमागम संसाररूपी महासमुद्रमें डूब रहे जो समस्त भयपत्रन उनको  
हस्ताउपन देनेको समर्थ है। यही सतज वैराग्यरूपी महलके शिखरके  
शिखरमणि है, अर्थात् वैराग्यकी शोभा परमागमके ज्ञानसे ही है। नि-  
मोक्षरूपी महलमें चढ़नेके लिये यह प्रथम सीढ़ी है, अर्थात् परमागम  
ज्ञान बिना जीव मोक्षपर्यपर गमन नहीं कर सकता। तथा कामभाके  
तुष्णामें उत्पन्न अक्षुभ रागके अंगारोंसे जलते हुए समस्त बुद्धी वनके  
महतरे क्रोशोंका नाशनको समर्थ जलसे भरे मेधाके समान परमा-  
गम है।

भाषार्थ - इस संसारके केशमें पाँडेव जीवोंके लिये परमागमके  
अभ्यास परम शरण है-परमागममें जीव अजीव तत्त्वोंको पचावे तब  
ज्ञाने अनादि अज्ञानको छोड़कर आत्मज्ञानको कर सकता है। तब  
अज्ञानमें स्थिर होनकीवै जीवकी विभाव भावोंमें मुक्ति प्रगट है। तब  
जलमें ही जीवोंको सोनेको पट्टन पाटन अरण मनन विचारन अनुभ-  
वना परमागम निरालस करण है। परमागम छोड़कर ही परमागम  
अज्ञान परमागम है। परमागम परमागमका अर्थ है-  
अज्ञानको नष्ट करने के लिये ज्ञानके लक्ष्यको नष्ट करने का अर्थ है।







समान इन दोनोंका सम्बन्ध है। यह उपयोग दो प्रकार है। एक शानोप-  
योग, दूसरा दर्शनोपयोग, शानोपयोग स्वभाव ज्ञान और विभाव ज्ञान  
दोनों दो भेद रूप है। अमूर्तीक, अन्याबाध, अतीन्द्रिय और अविनिश्चर  
ऐसा स्वभाव ज्ञान है जो आत्माका निज ज्ञान है। यह शानोपयोग  
स्वभाव ज्ञान ही दो प्रकार है। एक कार्य स्वभाव ज्ञान, दूसरा कारण  
ज्ञान है। इसी केवलज्ञानका कारणरूप परम परिणामिकभावमें स्थित  
तीन काल सम्बन्धी सर्व उपाधि अर्थात् विभावरहित ऐसा जो आत्माका  
सहज ज्ञान अर्थात् स्वरूपरूप ज्ञान जो कारण स्वभाव ज्ञान है। कारण  
स्वभाव ज्ञानके द्वारा ही कार्य स्वभाव ज्ञान प्राप्त होता है। विभाव ज्ञान  
तीन प्रकार है—कुमति कुभुत और विभंग अवधि। यहाँ टीकाकार  
कहते हैं कि जो कोई जिनेन्द्रकथित सम्पूर्ण ज्ञानके भेदोंको जानकर  
परमात्मको त्यागता है और अपने आत्मीक स्वरूपमें स्थिर होता है तथा  
धैर्यके समतकारमात्र स्वभावमें प्रवेश करता है वही जीव मुक्तिरूपी  
रहीका पति होता है।

आगे इसी शानोपयोगके भेदोंको आगेकी दो गथाओंमें कहते हैं:-  
केवलमिद्विपरहियं, असहार्यं तं सहायणाणं चि ।  
सण्णाणिदरविपप्पे, विहायणाणं ह्वे दुचिहं ॥ ११ ॥  
सण्णाणं चउभेयं, मदिगुदओही तहेव मणपज्जं ।  
अण्णाणं तिचियप्पं, मदिपाई भेदवो चंय ॥ १२ ॥

सामान्यार्थ—अतीन्द्रिय असहाय जो केवलज्ञान है जो स्व-  
ज्ञान है। संज्ञान और विभाव ज्ञान ऐसे दो भेद और हैं। संज्ञानके  
भेद हैं—मति, भुत, अवधि तथा मन-पथ्यमान । विभाव ज्ञान  
अज्ञानके तीन भेद हैं, कुमति, कुभुत और कुअवधि ।

ऐसे आत्माकी भावना करनी योग्य है । कैसा है आत्मा, जिसका अंत कोई नाथ नहीं है, तथा जो मुक्तिरूप सुंदरीका पति है । इस संसारकर्तृ-लताके मूलको काटनेवाले संक्षेप कथनसे यह ब्रह्ममय उपदेश किया गया ।

भाचार्यः—श्रीगुरुने ज्ञानके भेद कहकर यह प्रतिपादन किया है कि इस भव्यजीवको अपने आत्माका निश्चय परमात्मस्वरूप अपने उपयोगमें जमाकर ध्यान करना चाहिये । स्वरूप ज्ञानको ही आत्मज्ञान कहते हैं । यही निराकुल आनन्दका साक्षात् देनेवाला है । जब यह अंतरात्मा पुण्य पाप सुख दुःख परिग्रह आदि भावोंसे दूरवर्ती निजभावका मनन करता है तब इस भेदज्ञानका सुन्दर फल जगतको मंगलदायक आनन्दस्वरूप पान पवित्र ज्ञान ज्योतिको प्रगट कर दिखाता है । मैं सर्वथा प्रकार शुद्ध चैतन्यमय हूँ, यह जानकर निर्विकल्प होता हूँ । यही दशा मेरे सब ज्ञानका साम्राज्य है और मैं इसका धनी स्वामी हूँ । यही भावना इस जीवके गुण शुद्ध स्वभावको प्रगट करती जाती है । इस कारण सर्व कर्म त्याग इस स्वरूपभावनारूपी रमणीक वनमें रमनेका उपाय करना योग्य है ।

यहां टीकाकार कहते हैं कि जो भव्य जीव ऊपर लिखित भेदज्ञानको प्राप्तकरके भयानक संसारका मूल समस्त पुण्य पाप सुख दुःखको अनि-शयकरके त्यागता है सो भव्यजीव सर्व सुखोंमें श्रेष्ठ ऐसे अविनाशी आनन्दको प्राप्त करता है । जो बुद्धिमान प्राणी है सो परिग्रहके आग्रह अर्थात् हठको त्यागकरके तथा देहमें उपेक्षा अर्थात् देह नह छोड़कर निराकुल चैतन्यमात्र शरीरहीकी भावना करता है । शुभ तथा अशुभ रागके दूर होनेसे मोहका विध्वंस होता है । मोहके जड़ मूलसे बने तथा द्वेषरूपी जलसे भरे मनरूपी घटके फूट जानेसे पवित्र और ज्योति सर्व उपाधिरहित और नित्य उदयरूप प्रगट होती

है। कैसी है ज्ञानज्योति, जो भेदज्ञानरूप वृक्षका सच्चा फल है—जगतमें मंगलरूप इस ज्ञानज्योतिको मैं बन्दना करता हूँ। यह आत्माका स्वाभाविक सहज ज्ञान जो आनन्दके विस्तारसे पूर्ण है सो मोक्ष अवस्थामें प्रगट रहता है। ऐसे सहज ज्ञानकी सदा जय हो। कैसा है यह सहज ज्ञान, जो सर्व बाधाओंसे रहित है, प्रगट आत्माकी सहज अवस्था है, आत्माके अंतरंगमें प्रगट है, अपने स्वाभाविक विलासरूप चैतन्यके चमत्कारमात्र स्वरूपमें लीन है। तथा जिसने अपनी आत्म ज्योतिसे अज्ञान अधकारको दूर करदिया है। तथा अपने चारित्रिकके नित्य ही अभिराम अर्थात् सुन्दर है। मेरा आत्मा स्वाभाविक सहज ज्ञानका राज्य है सर्व प्रकार शुद्ध चैतन्य रूप है, ऐसा जानकर मैं विकल्प रहित होता हूँ।

अब दर्शनोपयोगके भेदोंका प्रतिपादन करते हैं:—

तह दंसणउवओगो, ससहावेदरवियम्पदो दुविहो ।  
केवलमिंदियरहियं, असहायं तं सहायमिदि मणिदं॥१२॥

सामान्य अर्थ—तैसे ही दर्शनोपयोग दो प्रकारका है एक स्वभाव दर्शनोपयोग, दूसरा विभाव दर्शनोपयोग। जो केवल दर्शन इन्द्रियोंके व्यापाररहित असहाय है वह स्वभाव दर्शनोपयोग है।

विशेषार्थ—इस गाथामें दर्शनोपयोगका स्वरूप कथन है। जैसे ज्ञानोपयोग अनेक विकल्पोंका धनी है ऐसे ही दर्शनोपयोग भी है। स्वभाव और विभाव इस तरह दो भेदरूप है। स्वभाव दर्शनोपयोग भी दो प्रकारका है, एक कारण स्वभाव दूसरा कार्य स्वभाव। अब कारण स्वभावको कहते हैं.—कारण स्वभाव दृष्टि अपने स्वरूपकी श्रद्धा मात्र ही है, निजरूप है, सदा पवित्ररूप है, औद्दयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायक ऐसे चार विभाव स्वभावरूप भावोंसे अगोचर हैं, सहज परम परिणामिक भाव स्वभावरूप हैं, कारण समदधार अर्थात् कारण शुद्धात्म-स्वरूप है, आवरणरहित स्वभाव है निज स्वभावका सत्तामात्र भाव है;

ऐसे आत्माकी भावना करनी योग्य है । ईसा है आत्मा, जिसका जन्म कोई नाथ नहीं है, तथा जो मुक्तिरूप सुन्दरीका पति है । इस संसाररूप-लताके मूटको काटनेवाले संक्षेप इधनसे यह ब्रह्ममय उद्वेग किया गया ।

भाषार्थ—श्रीगुरुने ज्ञानके भेद कहकर यह गतिदात्रन किया है कि इस भव्यजीवको अपने आत्माका निश्चय परमात्मस्वरूप करने उपयोजने जमाकर ध्यान करना चाहिये । स्वरूप ज्ञानको ही आत्मज्ञान कहते हैं । यही निराकुल आनन्दका माहात् देनेवाला है । जब यह अंतगन्ना पुण्य वा सुख दुःख परिग्रह आदि मावोंसे दूरवर्ती निजभावका मनन करता है तब इस भेदज्ञानका सुन्दर फल जगतको मंगलदायक आनन्दस्वरूप पान पवित्र ज्ञान ज्योतिको प्रगट कर दिखाता है । मैं सर्वथा प्रकार शुद्ध चैतन्यमय हूं, यह जानकर निर्विकल्प होता हूं । यही दशा मेरे सर्व ज्ञानका साम्राज्य है और मैं इसका धनी स्वामी हूं । यही भावना इस जीवके गुप्त शुद्ध स्वभावको प्रगट करती जाती है । इस कारण सर्व कार्य त्याग इस स्वरूपभावनारूपी रमणीक वनमें रमनेका उपाय करना योग्य है ।

यहां टीकाकार कहते हैं कि जो भव्य जीव ऊपर लिखित भेदज्ञानको प्राप्तकरके भयानक संसारका मूल समस्त पुण्य पाप सुख दुःखको अविशयकरके त्यागता है सो भव्यजीव सर्व सुखोंमें श्रेष्ठ ऐसे अविनाशित आनन्दको प्राप्त करता है । जो बुद्धिमान प्राणी है सो परिग्रहके जाग्रह अर्थात् हठको त्यागकरके तथा देहमें उपेक्षा अर्थात् देह नेह छोड़कर निराकुल चैतन्यमात्र शरीरहीकी भावना करता है । शुभ तथा अशुभ समस्त रागके दूर होनेसे मोहका विच्छेद होता है । मोहके जड़ मूलसे चले जानेसे तथा द्वेषरूपी जलसे भरे मनरूपी घटके फूट जानेसे पवित्र और श्रेष्ठ ज्ञानरूपी ज्योति सर्व उपाधिरहित और नित्य उदयरूप प्रगट होती

है। कैसी है ज्ञानज्योति, जो भेदज्ञानरूप वृक्षका सच्चा फल है—जगतमें मंगलरूप इस ज्ञानज्योतिको मैं बन्दना करता हूँ। यह आत्माका स्वाभाविक सहज ज्ञान जो आनन्दके विस्तारसे पूर्ण है सो मोक्ष अवस्थामें प्रगट रहता है। ऐसे सहज ज्ञानकी सदा जय हो। कैसा है यह सहज ज्ञान, जो सर्व बाधाओंसे रहित है, प्रगट आत्माकी सहज अवस्था है, आत्माके अंतरगममें प्रगट है, अपने स्वाभाविक विलासरूप चैतन्यके चमत्कारमात्र स्वरूपमें लीन है। तथा जिसने अपनी आत्म ज्योतिसे अज्ञान अधिकारको दूर करदिया है। तथा अपने चारित्रिकरके नित्य ही अभिराम अर्थात् सुन्दर है। मेरा आत्मा स्वाभाविक सहज ज्ञानका राज्य है सर्व प्रकार शुद्ध चैतन्य रूप है, ऐसा जानकर मैं विकल्प रहित होता हूँ।

अब दर्शनोपयोगके भेदोंका प्रतिपादन करते हैं:—

तह दंसणउवओगो, ससहावेदरविघप्पदो दुविहो ।  
केवलमिंदियरहियं, असहायं तं सहायमिदि भणिदं॥१३॥

सामान्य अर्थ—तैसे ही दर्शनोपयोग दो प्रकारका है एक स्वभाव दर्शनोपयोग, दूसरा विभाव दर्शनोपयोग। जो केवल दर्शन इन्द्रियोंके व्यापाररहित असहाय है वह स्वभाव दर्शनोपयोग है।

विशेषार्थ—इस गायामें दर्शनोपयोगका स्वरूप कथन है। जैसे ज्ञानोपयोग अनेक विकल्पोंका धनी है ऐसे ही दर्शनोपयोग भी है। स्वभाव और विभाव इस तरह दो भेदरूप है। स्वभाव दर्शनोपयोग भी दो प्रकारका है, एक कारण स्वभाव दूसरा कार्य स्वभाव। अब कारण स्वभावको कहते हैं:—कारण स्वभाव दृष्टि अपने स्वरूपकी श्रद्धा मात्र ही है, निजरूप है, सदा पवित्ररूप है, औद्यिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायक ऐसे चार विभाव स्वभावरूप भावोंसे आगेचर है, सहज परम परिणामिक भाव स्वभावरूप है, कारण समयसार अर्थात् कारण सुन्दान्-स्वरूप है, आवरणरहित स्वभाव है निज स्वभावका सदाभात्र भाव है;

परम चैतन्य स्वरूप है, अकृत्रिम परम स्वरूपमें निश्चल स्थितिमें शुद्ध चारित्ररूप है, नित्य शुद्ध कर्माजनरहित ज्ञानरूप है तथा अज्ञानके वेरी राग द्वेषादि सेनाकी ध्वजाको विध्वंस कर्ता है ऐसे आत्मरूपका निश्चयकरके स्वरूपश्रद्धान मात्र ही कारण स्वभाव दर्शन है। दुर्गा कार्य स्वभाव दृष्टि है जो दर्शनावरणीय ज्ञानावरणीय आदि धर्तिया कर्मोंके नाश होनेसे उत्पन्न हो जाती है। यह दृष्टि भी श्री तीर्थंकर परमदेवके केवल ज्ञानके समान एक ही समयमें लोक और अलोकके सामान्य अवलोकन करनेवाली है। कैसे हैं श्री तीर्थंकर परमदेव, वे चातिया कर्मोंके क्षय होनेसे शायकलब्धिधारी हैं, सम्पूर्ण रूपसे निर्जन्म केवलज्ञानके द्वारा तीन लोकके ज्ञाता हैं, अपने आत्मस्वरूपसे अन्तः परम वीतरागरूप जो सुप्त अमृत उसके समुद्र हैं, यथाख्यात नन्दके कार्यरूप शुद्ध चारित्रिके धारी हैं, आदिरूप परन्तु अनन्त ऐसा अनूर्तक अतीन्द्रिय स्वभावकी प्रगटतासे शुद्ध सदभूतव्यवहारनयात्मक हैं, अर्थात् शुद्ध सदभूतव्यवहारनयसे अनूर्तक अतीन्द्रिय स्वभावकी प्रगटता ही ऐसा कहनेमें आता है, तीन लोकके मन्व्य जीवोंके द्वारा प्रत्यक्ष बदनके योग्य हैं। इस तरह कारण और कार्यरूप दर्शनोपयोगका स्वरूप करा।

भावार्थ—शुद्ध परमात्म तत्त्वकी सामान्य निश्चल श्रद्धा ही आत्मके स्वाभाविक गुण केवल दर्शनकी व्यक्तताका साधन है, इसलिये कारण स्वभाव दृष्टिको उपादेय जान प्रीति करना योग्य है। यहाँ टीकाकार कहते हैं कि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप ही एक चैतन्य सामान्यका अन्तः आत्मीकतत्त्व है। यह तत्त्व अतिशयसे मुक्तिकी इच्छा करनेवालोंके हितके दर्पणके समान है। इस मार्गके धारेविना मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

आमं विभाव दर्शनोपयोगको कहते हैं—

चक्षु अचक्षु आंही, तिण्णवि मणिवं विभावदिच्छति।  
दुधियप्पो, सपरावंस्सो य णिरवेस्सो ॥ १४ ॥

सामान्यअर्थ—चक्षु, अचक्षु, और अवधि ये तीनही विभाव दर्शन कहे गये हैं । पर्याय दो प्रकारकी होती हैं, एक स्वपरापेक्ष और दूसरी निरपेक्ष ।

विशेष अर्थ—इस माध्यामं अशुद्ध दर्शन और शुद्ध अशुद्ध पर्यायकी सूचना है । जैसे मतिज्ञानावरणी कर्मके क्षयोपशमसे मतिज्ञान मूर्तीक पदार्थको जानता है वैसे चक्षुदर्शनावरणी कर्मके क्षयोपशमसे चक्षुदर्शन मूर्तीक पदार्थको देखता है । जैसे श्रुतज्ञान श्रुतज्ञानावरणी कर्मके क्षयोपशमसे श्रुतद्वारा द्रव्यश्रुत अर्थात् द्वादशोमरूप जिनवचनमें कहे हुए मूर्तीक और अमूर्तीक समस्त वस्तुओंको परोक्षरूपसे जानता है ऐसे ही अचक्षुदर्शनावरणी कर्मके क्षयोपशमसे अचक्षुदर्शन स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्रके द्वारा अपनी अपनी इन्द्रियके विषयको सामान्य रूपसे देखना है, अर्थात् मालूम करता है । जैसे अवधिरान अवधिशानावरणी कर्मके क्षयोपशमसे समस्त मूर्तीक पदार्थको जानता है ऐसे ही अवधिदर्शन अवधि दर्शनावरणी कर्मके क्षयोपशमसे मूर्तीक पदार्थको देखता है । इसप्रकार उपयोगका व्याख्यान किया । अब पर्यायका स्वरूप कहते हैं । " परि समंतात् भेदश्च पति गच्छति इति पर्याय " जो सर्व तरफसे भेदको प्राप्त हो अर्थात् जो परिणामन करे सो पर्याय है । प्रथम स्वभाव पर्याय है, यह उहाँ द्रव्योंमें साधारण है, अर्धपर्यायरूप है, वचन और मनके अगोचर है, अत्यन्त सूक्ष्म है । आगम प्रमाणसे अनुभव करने योग्य है, तथा छ. प्रकारकी बुद्धि और छ प्रकारकी हानिकरक सहित है । अनंत भागबुद्धि, असंख्यात भाग बुद्धि, संख्यात भागबुद्धि, संख्यात गुणबुद्धि, असंख्यात गुणबुद्धि, अनंत गुणबुद्धि, इसीतरहसे छः भेदरूप हानि है । यह बुद्धि हानि अगुणुत्पु गुणमें होती है । इसका दृष्टान्त ऐसा है कि जैसे समुद्रमें जल उतना ही है उसमें जो तरंगे उठती है फिर बेड नापी है उनसे समुद्रके जलमें हानि नहीं होती । जैसे निर्मल सुन्दरमकी

प्रभामें चमककी चंचलता है, कभी हीन कभी तीव्र है उसीप्रकार इह आगमोक्त वृद्धि और हानिको समझना । दूसरी अशुद्ध पर्याय है जो न नारक तिर्यच और देवरूप है । इसको व्यञ्जनपर्याय भी कहते हैं । यहाँ टीकाकार कहते हैं कि जो मनुष्य उत्कृष्ट भावके होनेपर निर्मलबुद्धि होता हुआ स्वाभाविक गुणरत्नोंकी स्तान पूर्ण ज्ञानमय एक अपने शुद्ध आत्माका भजन करता है, वह शुद्ध सम्यग्दृष्टी जीव मोक्षरूपी रत्न बन जाता है । इस प्रकार उत्कृष्ट गुण और पर्यायके होनेपर उत्तम पुरुषोंके इदपरूपी सरोवरमें जो कारणरूप आत्मा शोभायमान होता है, हे मन्थरूपी सिंह, तू उसी परब्रह्मरूप समयसार आत्माको भजन कर, जो अपने ही स्वभावमें उदयमान है । यही आत्मा कहीं अपने सत्यगुणोंसे शोभता है, कहीं अशुद्ध गुणोंसे विराजता है, कहीं अपनी स्वाभाविक पर्यायोंसे, तथा कहीं अशुद्ध पर्यायोंसे शोभता है । ऐसा होनेपर भी यह जीव तत्त्व समस्त विभाव गुण पर्यायोंसे रहित है, मैं सदा ही अपने सर्व प्रयोजनोंकी सिद्धिकेलिये उसी तत्त्वको नमन करता हूँ और उसीकी चार चार भावना करता हूँ ।

आगे स्वभाव विभाव पर्यायका विस्तार कहते हैं—

णरणारयतिरियसुरा, पञ्जाया ते विभावमिदि भाणिदा ।  
कम्मोपाधिविवाज्जिय, पञ्जाया ते सहावमिदि भाणिदा १५

सामान्य अर्थ—नर, नारक, पशु और देव ये चार मुख्य विभाव पर्याय कही गई हैं । जो पर्याय कर्मोंकी उपाधिसे रहित हैं वे स्वभाव पर्याय हैं ।

विशेष अर्थ—इस गायामें स्वभाव और विभाव पर्यायका संज्ञेन कथन है । स्वभाव पर्यायोंके मध्यमें स्वभाव पर्याय दो भेदरूप की जाती है । पहली कारण शुद्ध पर्याय दूसरी कार्य शुद्ध



पर्याय । इस लोकमें शुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षासे आदि और अंत दोनोंसे रहित अमूर्तिक अतीन्द्रिय स्वभावसे शुद्ध स्वाभाविक ज्ञान, स्वाभाविक दर्शन और स्वाभाविक चारित्र तथा स्वाभाविक परम वीतराग सुखमय शुद्ध अंतराग तत्त्वरूप स्वभावमय अनंत चतुष्टय जो निजस्वरूप है उसके साथ विराजमान जो पंचम पारिणामिक भावकी परिणति है वही कारण शुद्ध पर्याय है । कारण शुद्ध पर्यायका मनन कार्य्य शुद्ध पर्यायकी उत्पात्तिका साधन है । आदिसहित और अंतरहित जो अमूर्तिक अतीन्द्रिय स्वभावसे शुद्ध ऐसे सद्भूत व्यवहारनयके द्वारा केवल ज्ञान केवल दर्शन केवल सुख और केवल वीर्य्यकरके सहित फलरूप अनंत चतुष्टयके साथमें परम उत्कृष्ट क्षायिक भावकी जो शुद्ध परिणति है वही कार्य्य शुद्ध पर्याय है । भावार्थ-शुद्ध आत्माके शुद्ध निश्चय स्वरूपके साधनेसे ४ घातियाकमोंका नाश होता है, जब क्षायिक भावकी प्राप्ति होकर अरहत अवस्था प्राप्त होती है । अथवा पूर्व सूत्रमें कहे हुए सूक्ष्म ऋजुगूत्र नयके अभिप्रायसे वह द्रव्योंमें साधारण सूक्ष्म जो अर्थ पर्याय है, वे भी शुद्ध पर्याय है, ऐसा जानना योग्य है । इस तरह संक्षेपसे शुद्ध पर्यायके भेद कहे । अब व्यञ्जन पर्यायको कहते हैं । जिसकरके पदार्थ प्रगट हो सो व्यञ्जनपर्याय है । जैसे रस आदिकी पर्याय अपने नेत्र गोचर है, अथवा आदि और अंत सहित मूर्तिक निज जाति सिञ्चाप विजातीय विभाव स्वभावको जो धार तथा जो दिसलाई पड़े और नाश होजाय सो व्यञ्जन पर्याय है । संसारी जीवोंके आत्मज्ञानके बिना अपनी पाई हुई जो पर्याय उसी रूप अपना स्वभाव करलेनेसे जो अपने शुभ अशुभसे मिले मिश्रपरिणाम होते हैं उनके निमित्तसे यह जीव व्यवहार नयकरके नर होता है, अर्थात् मनुष्यके आकार नर पर्याय भोगता है । यही संसारी जीव कुछ शुभ कुछ मिश्र और मायाचाररूप परिणामकरके तिर्यचकी

कायमें जाता है, व्याहार नयकरके पंचन्द्रियादिके आहार होय तब  
पर्याय भोगता है। यही जीव अपने केवल शुभ परिणामके द्वारा वाये दु  
कर्मके निमित्तसे व्याहार नयमें ईरका आहार और शरीर धन पर  
देवपर्यायका भोगता है। (अशुभ परिणाममें वांछे हुए कर्मोंमें व्य-  
हार नयकरके नरकर्यायको भोगता है)। यह चार्गे गतिरूप जीवके शरीरको  
प्रगटता सौ विभाग व्यंजन पर्याय है। इन पर्यायोंका विशेष स्वरूप अब  
आगमसे जानना योग्य है। टीकाकार कहते हैं कि जीवके विभाव होने  
पर भी जो कोई सम्पन्नवृत्ती तत्त्वाभ्यासमें अपनी बुद्धिको जनाकरके देव  
मानता है कि शुद्ध आत्माके स्वभाव सिंगाय और कोई मेरा कल्याण  
कारी नहीं है वह जीव मुक्तिरूपी लक्ष्मीका पति होता है। भावार्थ-  
अपनी इस पर्यायको कर्मकृत मान इसको त्याग्य समझ इससे उद-  
सीन बुद्धिकरके निज स्वभावमें रमनेकी उत्कंठा करनी योग्य है।  
अब चार गतिकका विशेष स्वरूप कहते हैं —

माणुस्ता दुवियप्पा, कम्ममहीभोगभूमिसंजादा ।

सत्तविहा णेरइया, णादब्बा पुढविभेएण ॥ १६ ॥

चउदहभेदा मणिदा, तेरिच्छा सुरगणा चउम्भेदा ।

एदेसिं वित्थारं, लोयविभागेसु णादब्बं ॥ १७ ॥

सामान्य अर्थ—मनुष्य दो प्रकारके होते हैं, कर्मभूमिज और भोगभूमिज  
नारकी ७ प्रकारके जानने। पृथ्वी आदि भेद करके १४ प्रकार तिर्यच  
तथा चार प्रकारके देव होते हैं। इनका विस्तार 'लोकविभाग' का  
आगममें जानना योग्य है।

विशेष अर्थ—इन माथाओंमें ४ गतिकका निरूपण है। १।  
अर्थात् कुलकर उनके अपत्य अर्थात् सन्तानोंको मनुष्य कहते हैं  
कर्मभूमिकी आदि और भोगभूमिके अंतमें १४ कुलकर तप  
कपभेदव और श्रीभरत चक्रवर्तीको ले १६ कुलकर हुए है। इन्हों

ही मनुष्योंको आर्जाविकाके साधन व अन्यआवश्यक कर्म बताये । यह  
 लकर पितासमान रक्षक होते हैं । इसीकारण उनके द्वारा लालित  
 गलित होनेवाले सर्व मनुष्य कहलाये । अब यह शब्द स्वरूप वर्तनेमें  
 जाता है । मनुष्य दो प्रकारके, है एक कर्मभूमिज दूसरे भोगभूमिज । कर्मभू-  
 नेके मनुष्य भी दो प्रकारके हैं, आर्ष्य और म्लेच्छ । जो पुण्यक्षेत्र निवासी  
 वे आर्ष्य हैं और जो पापक्षेत्रवर्ती हैं वे म्लेच्छ हैं । भोगभूमिजोंको भी  
 आर्ष्य कहते हैं । ये जघन्य, मध्यम और उत्तम क्षेत्रमें निवास करनेसे  
 नि भेदरूप हैं तथा रत्न, शर्करा, बालुका, पंक, धूम, तम और महातम  
 सी सात प्रकारकी प्रभाओंको धारण करनेवाली सात श्रधिवियाँ हैं, जिनके  
 निवासी नारकी जीव सात प्रकारके होते हैं । पहले नरकके नारकी एक  
 सागरोपम आयुधारी, दूसरेके तीन सागरोपम, तीसरेके सात, चौथेके  
 दस, पाँचवेंके सत्रह, छठेके बाईस और सातवेंके तैसीस सागरोपम आयु-  
 धारी हैं । यहाँ विस्तारके भयसे संक्षेप कहा है । तिर्यचोंमें १४ भेद  
 -१ सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त, २ सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त, ३ वादर  
 केन्द्रिय पर्याप्त, ४ वादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त, ५ द्वीन्द्रिय पर्याप्त,  
 ६ द्वीन्द्रिय अपर्याप्त, ७ तेन्द्रिय पर्याप्त, ८ तेन्द्रिय अपर्याप्त, ९ चोन्द्रिय  
 पर्याप्त, १० चोन्द्रिय अपर्याप्त, ११ पंचेन्द्री असंज्ञी पर्याप्त, १२ पंचेन्द्री  
 असंज्ञी अपर्याप्त, १३ संज्ञी पंचेन्द्री पर्याप्त, १४ संज्ञी पंचेन्द्री  
 अपर्याप्त । भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी, कल्पवासी ऐसे देवोंमें  
 शर जातिके समूह हैं । इन चारों गति सम्बन्धी जीवोंका वर्णन  
 टीकाविभाग नाम परमागमसे जानना योग्य है । यहाँ आत्मस्वरूपका  
 अर्थ है, अतः लोकका विशेष कथन सूत्रकार पूर्वाचार्यने यहाँ नहीं  
 किया है । यहाँ टीकाकार प्रार्थना करते हैं कि हे जिनेन्द्र स्वर्गमें हो,  
 इस मनुष्यभवमें व विधाधरोंके लोकमें हो, व देवलोक, ज्योतिर्लोक  
 व भवनवासीके भवनमें, व नारकियोंके निगसमें हो, व जिनेन्द्र  
 भवनमें हो व अन्य किसी स्थानमें हो हमें कर्मोंकी उत्पात्ति न हो; परन्तु

पुनः पुनः आपके चरण कमलोंकी भक्ति ही हमको श्रांत होते । हे मैं  
तू राजा महागजाओंकी विभूतिको मुनकर व देकर न्यों संद कल  
हे ! हे जड़बुद्धि, सब पुण्यमे पैदा होती हैं । यदि श्रीजिनेन्द्रके  
चरणकमलोंमे तेरी भक्ति है और उन चरणोंकी पूजामें टवर्जन है,  
तो यह नानाप्रकारके भोग आपमें आप हो जायेंगे ।

आगे कर्ता भोक्तापनेको कहते हैं:—

कर्ता भोक्ता आदा, पोग्गलकम्मस्स हांदि ववहारो ।  
कम्मजभावेणादा, कर्ता भोक्ता दु णिच्छयदो ॥ १८

सामान्य अर्थ—यह आत्मा पुत्रल कर्मका कर्ता और भोक्ता है  
हे सो व्यवहार नयसे है । कर्ममे उत्पन्न हुए जो भाव तिनका कर्ता और  
भोक्ता है सो अशुद्ध निश्चयनयसे है ।

विशेषार्थ—इस गायामें कर्ता और भोक्तापनेका कथन है । तिन-

आदि भाव कर्मोका कर्ता और भोक्ता है । अनुपचरित असद्भूत व्यवहार  
नयसे नोकर जो औदारिक शरीरादि तिनका कर्ता है, तथा उपचरित  
असद्भूत व्यवहार नयसे यह आत्मा घट पट रथ गाड़ी आदि पदार्थ  
कर्ता है । इस प्रकार अशुद्ध जीवका स्वरूप कहा । भावार्थ—आका  
यह बतलाते हैं कि कोई एक अनादि शुद्धबुद्ध ईश्वर कर्ता नहीं है, कि  
यह संसारी अशुद्ध आत्मा ही नाना प्रकारकी अवस्थाओंका बनानेवाला  
और अपनेही कर्तव्यके अनुसार सुख दुःख फलोंको भोगनेवाला है । इस  
निश्चयनय जो वस्तुके यथार्थ शुद्ध स्वभावको बतलाने वाला है उक्त  
अपेक्षा यह आत्मा निज शुद्ध पारिणामिक भावका ही कर्ता और भोक्ता

है । परन्तु अशुद्ध निश्चयनय जो वस्तुके अशुद्ध भावको बतलानेवाला है उसकी अपेक्षासे यह आत्मा पूर्व बाधे कर्मोंके परिणामनके निमित्तसे पैदा होनेवाले जो राम द्वेषादि औपाधिक भाव तिनका कर्ता और भोक्ता है । अत्यन्त निकट अर्थात् एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्धको बतलानेवाला ऐसा जो अनुपचरित अर्थात् जिसको मात्र कल्पना ही नहीं किया है किन्तु जो वास्तवमें सम्बन्धित है तथा जो असद्भूत अर्थात् आत्माकी सनामें नहीं है, ऐसा जो व्यवहारनय उसके द्वारा देखा जाय तो यही आत्मा द्रव्य कर्मोंका कर्ता और तिनके बाह्य प्रगट होनेवाले सुखदुःखका भोक्ता है । तथा दूरवर्ती अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नयकरके यह आत्मा स्थूल शरीरका कर्ता है । तथा कल्पना मात्र ऐसे उपचरित और असद्भूत व्यवहारनयसे यह आत्मा पर पदार्थ जिनका अपनेसे अर्थात् अपने भ्रदेशोंसे बिडकुल सम्बन्ध नहीं है ऐसे घट पटादिका कर्ता है । यद्यत् टीकाकारने आत्मानुभवकरके कहा है कि जो आत्मा रागद्वेष मोहमें लिप्त हो रहा है यदि परम गुरुके चरणकमलकी सेवा करे तो उसके प्रसादमे स्वाभाविक शुद्धात्मरूपको जो विकल्प अर्थात् भेदरहित है उसको पहचान करके मोक्षरूप स्वीकार हो जाता है । क्योंकि भावकर्म जो रागादि इनको रोकनेसे द्रव्यकर्म रुकते हैं और द्रव्यकर्मोंके सेवरसे संसारका निरोध है । यह मूढ़ जीव सम्यग्ज्ञानरूपी भावसे छूटा हुआ शुभ तथा अधुभ अनेक प्रकारके कर्मोंको करता है । यदि यही जीव कर्मरहित मोक्षमार्गकी थोड़ी भी इच्छाकरके उसको जाने तो इस लोकमें उसकी रक्षाका उपाय दूसरा नहीं है । जो जीव कर्मजनित सम्पूर्ण बाधारूप मुरको त्यागता है वह सम्यग्दृष्टि भव्य आत्मा कर्मरहित निराकुल आनन्द समूह-रूप अमृतके समुद्रमें दूबेरूप अत्यन्त ही शुद्ध चेतन्यमय एकरूप अद्वितीय अपने आत्मीक भावको प्राप्त करता है । मेंमें वास्तवमें कोई विभाव नहीं है, इसलिये मुझे उसकी कोई चिन्ता नहीं है । मैं निरन्तर अपने हृदयकमलमें विराजमान सर्व कर्मसे रहित एक शुद्ध आत्माका ही



जीवोंका परिणमन अर्थ पर्यायोंके द्वारा होता है व्यंजनपर्यायोंके द्वारा नहीं होता क्योंकि श्रीसिद्ध महाराज सदा निरंजन हैं, अर्थात् कर्मरूपी अंजनसे रहित हैं। प्रगटरूपसे अवस्थाका बदलना सो व्यंजनपर्याय है, जैसे देवसे मनुष्य होना। प्रगटरूपसे एक पर्याय रहते हुए अंतंग गुणोंमें परिणमन होना सा अर्थपर्याय है। जैसे श्रीसिद्ध महाराजका एक गुण अनंत ज्ञान है। ज्ञेय (जानने योग्य) पदार्थोंको जाने सो ज्ञान। ज्ञेय पदार्थ समय समय उत्पत्ति विनाश और भ्रौव्य गुणसे संयुक्त है। ऐसा ही अनंत ज्ञानमें भी परिणमन होता है। यहाँ कोई शंका करे जब सिद्ध सदा निरंजन हैं तब गाथामें यह कहना व्यर्थ होगा कि सर्व जीव द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नयोंके द्वारा दोनों पर्यायोंकरके संयुक्त हैं इसका समाधान इस भांति है कि नैगमनय तीन प्रकार है:—नैगम नाम विकल्पका है विकल्पमें होवे सो नगम है। भूत नैगम, वर्तमान नैगम, और भावी नैगम। गत अवस्थाका विकल्प पदार्थमें कहना सो भूत नैगम, वर्तमान अवस्थाका विकल्प सो वर्तमान नैगम—सम्पूर्ण कार्य्य न होते हुए कार्य्य होना कहना, भावी अवस्थाको पदार्थमें कहना सो भावी नैगम। यहाँ पर भूत नैगम नयकी अपेक्षासे सिद्धोंके भी व्यंजनपर्यायकी संभवता है, सिद्ध अवस्था होनेके पूर्व सर्व जीव संसारी अशुद्ध होते हैं। अधिक क्या कहें सर्व ही जीव दोनों नयोंके द्वारा शुद्ध और अशुद्ध हैं। ऐसा ही श्री अमृतचंद्र सुरिने कहा है:—जो जीव स्यात् पदसे विहित और दोनों नय अर्थात् निश्चय व्यवहार नयके विरोधको दूर करनेवाले ऐसे जिनेन्द्रके वचनोंमें रमते है वे मोहको वमन कर देते हैं और सीमा ही अतिशयसे परम ज्यातिरूप समयसार अर्थात् शुद्धात्मा तिसको देवते ही हैं। कैसा है समयसार, जो नवीन नहीं है तथा किसी सौटी नयकी पक्षसे संदने योग्य नहीं है। यहाँ टीकाकार कहते हैं “ जो संतपुरुष दोनों नयोंकी धुनियोंको नही उत्पन्न करते हुए परम जिनेन्द्रके धारण कमलोंक मल धमर हो जाते हैं, अर्थात् भीरके समान भग-

वत् भक्तिमें लीन हो जाते हैं । वे संत शीघ्र ही सदा-नित्यरूप सम्य-  
सारको प्राप्त करते हैं । सज्जनोंको इस जगतमें अन्य कथनसे क्या  
फलही सिद्धि होगी । भावार्थ—द्वानों नयांसे जीवका स्वरूप समझकर  
हमको उचित है कि हम परमात्माकी भक्तिमें अपने उपयोगको लीन करें ।

इसप्रकार सूक्ष्मस्वरूप कमलकेटिलिये मूर्खके समान, पंचेन्द्रियोंके फला-  
वसे रहित, शरीरमात्र परिग्रहके धारी 'ध्रीपद्मप्रममलधारीवैव'  
रचिन नियमसारकी तात्पर्यवृत्तिमें जीवाधिकार नामक प्रथमश्रुत  
स्कंध पूर्ण हुआ ।

## अजीवाधिकार ।

अणुसंधवियप्पेण दु, पोग्गलदब्बं हवेइ दुवियप्पं ।  
संधा इ छप्पयारा, परमाणू चेव दुवियप्पो ॥ २० ॥

सामान्यार्थ—पुद्गल द्रव्यके दो भेद हैं, एक अणु दूसरा स्कंध ।  
स्कंध निश्चयकरके छः प्रकार है और परमाणु दो प्रकार है ।

विशेषार्थ—इस गाथामें पुद्गल द्रव्यके भेदोंका कथन है । प्रथम ही  
पुद्गल द्रव्यके दो भेद हैं एक स्वभावपुद्गल दूसरा विभावपुद्गल । पर-  
माणु स्वभाव पुद्गल है और स्कंध विभाव पुद्गल है । स्वभावपुद्गलके दो  
भेद हैं एक कार्प्यपरमाणु, दूसरा कारणपरमाणु । स्कंध छः प्रकारके  
होते हैं—पृथ्वी, जल, छाया, चार इन्द्रियके विषयरूप पदार्थ जैसे शब्द  
सुगंध आदि, कार्माण योग्य पुद्गल वर्णणा और कर्म अयोग्य पुद्गल ऐसे  
छः भेद है । इनका स्वरूप आगेकी गाथाओंमें विस्तारसे कहेंगे ।  
“स्कंधोंके गलनेसे अणु होता है और अणुओंके मिलनेसे स्कंध होता है ।  
इस पुद्गलपदार्थके बिना लोकयात्रा नहीं हो सकती अर्थात् जीवको इस  
लोकमें भ्रमण और पर्यायोंमें निवास पुद्गलद्रव्यके द्वारा ही होता है ।



आगे स्कंधके भेदोंको कहते हैं:-

अइथूलथूल थूलं, थूलंसुहुमं च सुहुमथूलं च ।  
 सुहुमं अइसुहुमं इदि, धरादियं होदि छम्भेयं ॥ २१ ॥  
 भूपद्वदमादीया, भणिदा अइथूलथूलमिदि खंधा ।  
 थूला इदि विण्णेया, सप्पीजलतेलमादीया ॥ २२ ॥  
 छायातवमादीया, धूलेदरखंधमिदि वियाणाहि ।  
 सुहुमथूलेदि भणिया, खंधा चउरक्खविसया य ॥ २३ ॥  
 सुहुमा हवंति खंधा, पावांग्गा कम्मवग्गणस्स पुणो ।  
 तट्ठिवरीया खंधा, अइसुहुमा इदि परूवेदि ॥ २४ ॥

सामान्य अर्थ-इन ४ गाथाओंमें विभाव पुद्गलके स्वरूपका व्याख्यान है । अत्यंत स्थूल वे पुद्गल हैं जो पर्वत पृथ्वी आदिके समान हैं । धी तैल मठा दूध जल आदि बहनेवाले द्रव्य स्थूल जातिके पुद्गल हैं । छाया, आतप, अंधकार आदि स्थूलसूक्ष्म पुद्गल हैं । स्पर्श रसन प्राण और श्रोत्रइन्द्रियके विषय भूत पदार्थ सूक्ष्मस्थूल जातिके पुद्गल हैं अर्थात् शब्द, स्पर्श, रस, गंध ये सुक्ष्मस्थूल हैं । शुभ और अशुभ आत्माके परिणामोंके द्वारा आनेवाले शुभ और अशुभ कर्मोंके योग्य होनेवाले काम्मांग स्कंध सूक्ष्मपुद्गल हैं । इन सबसे विरुद्ध जो स्कंध कर्मवर्गणासे भी सूक्ष्म हैं वे अत्यंत सूक्ष्मस्कंध हैं । इस प्रकार विभाव पुद्गलके छः भेद हैं । ऐसाही पचास्तिकाय और मार्गप्रकाश ग्रन्थमें कहा है आर उनके कथनका अभिप्राय ऊपर कहा जा चुका है । इसी प्रकार भीअमृतचन्द्र-सूरिने कहा है कि “ इस महा भारा अनादि कालसे होनेवाले अज्ञान-रूपी वृत्त्यके असाहसमें वर्ण स्पर्श रस गंध गुणका धारी पुद्गलही वृत्त्य कर रहा है । इसके सिवाय दूसरा कोई वृत्त्य करनेवाला नहीं है । यह जीव तो रागद्वेष आदि विकारोंसे विरुद्ध शब्दवैतन्य धातुकी एक

मूर्ति है" । भावार्थ—पुत्रलकर्मके ही निमित्तसे जीव प्रमत्ता है, निश्चय करके आत्मा शुद्ध निर्विकार है । गतिसे मृत्यन्तर होना इसका स्वभाव नहीं है इसीकारण आचार्यने नाश करनेवाला पुत्रलहीको कहा है । क्योंकि श्रीगुरुकी इच्छा इस भवपिंजरेमें फंसे हुए जीवको अपने शुद्धस्वरूपके स्मरण करानेकी है । जब तक यह आत्मा अपनी शुद्धताका निश्चय नहीं करता तबतक रागद्वेषको हटा नहीं सकता । राग द्वेषोंको विना दूरकिये कर्मबंधकी संततिका अभाव नहीं होता । इस कारण कल्याणार्थी आत्माको अपना शुद्धस्वरूप अनुभवना योग्य है । यही शिक्षा उपादेय है । टीकाकार कहते हैं हे भव्यसिंह अर्थात् सिंहके समान भव्यात्मा तू नानाप्रकारके पुत्रलोंका भेद जगत्में देखकर उनमें अपनी प्रीतिभावको न कर-तू अपनी रति अपनी लोडीनता उस अतुल चैतन्यके चमत्कारमें कर, जिसके प्रभावसे तू मोक्षरूप स्त्रीका बरहो- जावेगा । भावार्थ—मोक्ष पानेका यही उपाय है जो अपनी चैतन्य सत्ता भूमिमें कड़ोळ करे और पर वस्तुमें क्रीडा करनेका त्याग करे ।

आगे कारणपरमाणु और कार्यपरमाणुका हेतु कहते हैं:—

धातुचतुष्टयस्य पुणो, जं हेतु कारणंति तं जेयो ।  
खंधाणं अवसाणं, णाद्ववो कज्जपरमाणू ॥ २५ ॥

सामान्य अर्थ—चार धातुका जो हेतु है वह कारण परमाणु है तथा स्कंधोंका अंतिमभाग कार्य परमाणु है, ऐसा जानना योग्य है ।

विशेष अर्थ—इस गायमें कारणपरमाणु द्रव्य और कार्यपरमाणु द्रव्यका स्वरूप वर्णित है । पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चार धातु हैं । इन चार धातुओंका जो कारण है वह कारण परमाणु है । अर्थात् जिन परमाणुओंके सम्बन्धसे ये चार धातुएँ परिणत होती हैं, स्कंध रूप दीसती हैं, वे परमाणु कारण परमाणु कहलाते हैं । वे कारण परमाणु ही उपन्य परमाणु हैं । इनमें स्निग्ध और रुक्ष गुणोंका

सर्वसे जघन्य अनन्तवां भाग रहता है । यह सम अथवा विषमरूपसे दोनों प्रकार भी बंध योग्य नहीं है, अर्थात् न दो गुण स्निग्ध व रूक्षवाला परमाणु अन्य दो गुण स्निग्ध व रूक्षसे बंधता है और न तीन गुण रूक्ष व स्निग्धवाला परमाणु तीन गुणवालोंसे बंधता है किन्तु स्निग्ध रूक्ष गुणोंकी अनन्तताके ऊपरके परमाणु जिनमें दो गुण होंगे वे चार गुणवाले परमाणुओंसे बंधेंगे । जो तीन गुणवाले परमाणु होंगे वे पांच गुणवाले परमाणुओंसे बंधेंगे । दो गुण अधिकसे ही बंध होता है । यही ( बंध योग्य ) उत्कृष्ट परमाणु है । पुद्गल द्रव्य स्कंधोंके गठते हुए अंतिम अवस्थामें रहा हुआ जो परमाणु सो कार्प्यपरमाणु है ॥ इस प्रकार अणु चार प्रकारके हैं—कार्प्यरूप, कारणरूप, जघन्यरूप, उत्कृष्टरूप । यह परमाणुद्रव्य अपने स्वरूपमें स्थितरूप होनेसे विभावभावसे रहित है इसलिये परमस्वभाव है । ऐसाही श्री प्रवचनसारमें ' प्लिद्धा वा ' आदि गायामें कहा है जिसका अर्थ ऊपर आगया है । विशेष यह है कि स्निग्ध रूक्षसे, रूक्ष रूक्षसे, स्निग्ध स्निग्धसे सम दो व विषम दो गुण अधिक होनेसे बंध प्राप्त होता है । टीकाकार श्रीपद्म-प्रभुमठधारिदेव कहते हैं " कि मैं छः प्रकार स्कंध और चार प्रकार परमाणुओंसे अपने आत्माको भिन्न शुद्ध अक्षयरूप वारम्बार भावता हूँ " भावार्थ—पुद्गल चाहे स्कंध हो वा अणु हो शुद्ध आत्माके ज्ञानानन्दमय टंकैतकीर्ण परम स्वभावसे सर्वथा भिन्न है । उसकी भावना कार्प्यकारी नहीं है । इसलिये शुद्ध आत्मस्वभावकी वारम्बार भावना ही उपादेय, कार्प्यकारी और कर्त्तव्य है । जो भावना भावक पुरुषको उपशम भाव प्रदानकर सुधारस गर्भित परमात्माको प्रदान करती है ।

अब परमाणु विशेषको कहते हैं:—

अत्तादि अत्तमज्ज्ञं, अत्तंतं णेव इंदिए मेज्ज्ञं ।

अविभागी जं दृढं, परमाणु तं विआणाहि ॥ २६ ॥

सामान्यअर्थ—जिसका स्वयं स्वरूपही आदि मध्य और अंतरूप है, जो इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण योग्य नहीं है ऐसा अविभागी जिसका दूसरा भाग नहीं होसके सो द्रव्य परमाणु जानने योग्य है ।

विशेषार्थ—जैसे नित्य अनित्य निगोदसे ले सिद्धक्षेत्रपर्यंत स्थित तर्क ही जीव अपने स्वाभाविक परम पारिणामिक भावरूप सहज निश्चयनपट्टे द्वारा अपने असली स्वरूपसे कभी च्युत—पतित नहीं होते, तैसे ही परमाणु द्रव्य पारिणामिकभावकी अपेक्षासे परमस्वभावका धारी है । उस परमाणुकी आत्मा ही आदि है अर्थात् वह स्वयं आदिरूप है वही मध्यरूप है वही अंतरूप है । जैसे आत्मा अपने स्वरूपका आप ही आदि मध्य अंतरूप है वैसे ही परमाणुको भी जानना अर्थात् आत्मा जैसे आदि मध्य अंतरहित है, वैसे परमाणुको भी अनुभव करना । आदि मध्य अंतरूप वही स्वयं है । इसलिये वह परमाणु अपने आत्माके समान पंचेन्द्रिय ज्ञानगोचर नहीं है, वह परमाणु निर्मल है । अग्नि आदिसे अविनाशी है, विभागरहित अविभागी है । हे शिष्य परमाणुका स्वरूप तुम ऐसा जानो । टीकाकार कहते हैं जड़ स्वरूप पुद्गलकी स्थिति पुद्गलमें ही जानकर वे सिद्धजीव अपने चैतन्यस्वरूप चिदात्मामें क्यों नहीं तिष्ठें, अपि तु तिष्ठें ही तिष्ठें ।

आगे स्वभावपुद्गलका स्वरूप कहते हैं:-

एयरसरुवगंधं, दो फासं तं ह्ये सहावगुणं ।

विहावगुणमिदं मणिदं, जिणसमये सव्वपयडत्तं ॥२७॥

सामान्य अर्थ—एक रस एक रूप एक गंध और दो स्पर्श इतने गुणोंसे सहित स्वभावगुण पुद्गलका जिनआगममें प्रकट रूपसे कहा है ।

विशेष अर्थ—इस गंधामें स्वभावपुद्गलके स्वरूपका कथन है । तीला, कड़वा, कषायटा, आमल, और मधुर इन पांच प्रकृतिके रसोंमेंसे एक रस होता है । इतैत, पीला, हरा, लाल, काला इन पांच वर्णोंमेंसे एक वर्ण दृश्य है । सुगंध और दुर्गंधमेंसे एक गंध होती है । कड़ा, कोमल,

भारी, हलका, शीत, उष्ण, चिकना, रूखा इन आठ स्पर्शोंमेंसे अंतमें कहे जो चार स्पर्श उनसेसे अविरोधी दो स्पर्श होते हैं अर्थात् शीत अथवा उष्ण व चिकना अथवा रूखा । इसप्रकार पांच ही गुण पुद्गल परमाणुके स्वाभाविकगुण हैं ऐसा जिनेन्द्रभगवानके आगमका मत है । विभावगुणरूप विभावपुद्गल हैं । यह दोअणु आदिसे ले संख्यात असंख्यात अनंत अणुओंके स्क्ंधरूप हैं, विभावगुणधारी हैं । सम्पूर्ण इन्द्रिय ग्रामोंके द्वारा ग्रहण योग्य हैं । इन्द्रियोंसे स्क्ंधोंका ग्रहण हो सकता है ऐसा भाषार्थ है । ऐसा ही श्रीपंचास्तिकाय में कहा है । उसका अभिप्राय ऊपर आगया । विशेष इतना जो परमाणु स्वयं अशुद्ध है परन्तु वह शुद्धका कारण है । तथा मार्गप्रकाशमें भी ऐसा ही कहा है । टीकाकार कहते हैं कि एक परमाणु अपने वर्णादि गुणोंसे अपनेमें प्रकाशमान है परन्तु उससे मरे कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती ऐसा निश्चयकरके जो भव्य जीव परम सुसमई मोक्षपदका इच्छक है उसको अपने हृदयमें एक शुद्ध आत्माकी ही भावना करनी उचित है । भावार्थ—सर्व पर वस्तुओंको हेय जान भव्यजीवोंको एक शुद्ध निज आत्मा ही उपादेय, ध्येय और सम्यक् मनन योग्य है ।

अत्र स्वभाव विभाव पर्यायको कहते हैं:—

अण्णणिरावेक्खो जो, परिणामो सो सहावपज्जाधो ।  
खंधसरूवेण पुणो, परिणामो सो विहावपज्जायो ॥२८॥

सामान्य अर्थ—जो परिणामन अन्यकी अपेक्षाकरके रहित होता है वह स्वभाव पर्याय है । और जो परिणामन स्क्ंधरूपसे होता है वह विभावपर्याय है ।

विशेष अर्थ—इस गाथामें पुद्गलकी पर्यायका कथन है । पुद्गलकी परमाणुरूपपर्याय पुद्गलकी शुद्ध पर्याय है, जिसका लक्षण परम पारिणामिक भाव है । वस्तुमें पट्टप्रकार हानि वृद्धिरूप जो अत्यन्त सूक्ष्म

अर्थपर्याय होती हैं उस परिणमनरूप है । सादि और सान्त होनेर भी परद्रव्यकी अपेक्षा रहित होनेसे शुद्ध सद्गत-व्यवहारनयरूप है, अथवा निश्चयकरके एक ही समयमें उत्पाद् उत्पत्ति, व्यय विनाश, तथा धीव्यता नित्यता इन तीन स्वरूप है । इस अपेक्षासे सूक्ष्म सद्गुण नयका विषय रूप है ॥ स्कंधरूप पर्याय अपने सजातीय परमाणुओंसे बंधरूप है । इस लक्षणसे अशुद्ध है । इसलिये विभाव पर्यायरूप है । टीकाकार कहते हैं पर परिणमनसे दूर शुद्ध पर्यायरूप परमाणुसे स्वभावपर्याय है स्कंधपर्याय नहीं है, तथा यह परमाणु नित्य है । जैसे चैतन्यनाथ श्रीभगवान्में पंचबाणरूप कामदेवकी वार्ता नहीं है और जैसे श्रीसिद्ध महाराज नित्य हैं इसी प्रकार यह परमाणु विभावर्याय रहित नित्य है ।

आगे पुत्रलद्रव्यको व्याख्यानको संक्षेपते हैं:—

पोग्गलद्वयं उच्चद्, परमाणु णिच्छएण इदरेण ।

पोग्गलद्वयोत्ति पुणो, धवदेसो होदि संधस्स ॥ २९ ॥

सामान्यअर्थ—निश्चयनयकरके परमाणुको पुत्रलद्रव्य कहने है तथा व्यवहारनयकरके स्कंधको भी पुत्रलद्रव्य कहा जाता है ।

विशेषअर्थ—इस गाथामें पुत्रलद्रव्यके व्याख्यानको संक्षेपते है । स्वभावसे शुद्ध पर्यायरूप परमाणुकी शुद्ध निश्चयकरके पुत्रलद्रव्य संज्ञा है । तथा व्यवहार नयकरके विभावर्यायरूप स्कंधपुत्रलोंको भी पुत्रलद्रव्य एवा नाम कहा जाता है । टीकाकार कहते हैं कि " इत्यन्यनाथ, त्रिनन्द भगवान्के आगममें तदशरीका स्वयं जानकर नू समस्त चतन अचतन पदार्थोंको त्याग और जीति निके कल्प समाधिमें लीन होकर पर पदार्थोंमें रहित चैतन्यके धर्मका प्रकृतत्वका भजन कर" । भाषाअर्थ—यह पुत्रलका विषय उपादेश नहीं है । उपादेश मरना वह चैतन्यका परमतत्व है, त्रियमें लीनही पुत्रल

धींको सुख प्राप्त करना चाहिये । पुद्गल द्रव्य अचेतन है, जीव द्रव्य चेतन है, यह कल्पना प्रथम अवस्थामें साधर्मियोंके होती है । जो योगी निष्कल है अर्थात् ध्यानाभ्यासमें पूर्ण है उनको यह कल्पना नहीं होती । यती मुनियोंकी ऐसी शुद्ध दशा होती है जिससे वे यह अनुभव करते हैं कि जैसे अचेतन पुद्गल कायमें न द्वेषभाव है न रागभाव है, उसी तरह सचेतन परमात्मतत्त्वमें रागद्वेष भाव नहीं है ॥२९॥

आगे धर्मादि द्रव्यका स्वरूप कहते हैं:—

गमणाणिमित्तं धम्म, मधम्मं त्रिदि जीवपुग्गलाणं च ।  
अवगहणं आयासं, जीवादीसत्त्वदृष्टवाणं ॥ ३० ॥

सामान्य अर्थ—जीव पुद्गलोंके गमनमें निमित्त धर्मद्रव्य है और स्थितिमें निमित्त अधर्मद्रव्य है, तथा जीवादि सर्व द्रव्योंको अवगाहन अर्थात् स्थान देनेवाला आकाशद्रव्य है ।

विशेषार्थ—इस गायामें धर्म, अधर्म और आकाशका संक्षेप कथन है यह धर्मास्तिकाय स्वयं गमनाक्रियासे रहित है, जैसे वादिकामें जल । अ इ उ ऋ ए, पंच लपुअक्षरमात्र कालमें स्थित १४ वैगुणस्थानवर्ती अयोगजिन जब अंतके समयमें पंचमगतिको अपनी स्वभाव गमनक्रियाकी परिणतिसे गमन करते हैं, उससमय यह धर्मद्रव्य उनको स्वभाव गति क्रियांहेतुरूप होता है । कैसी है पंचमगति मोक्ष, जहाँ सम्पूर्ण क्लेश और दुःखोंका पर द्रव्य, क्षेत्र, फाट, भव, भावरूप पंचप्रकार संसारका समस्तपने स्थान नहीं है । फिर कैसी है वह पंचमगति, कि जिसमें रहनेवाले जीव सिद्ध कहलाते हैं । जहाँ छः कायरूप जीवोंका नाम जो चारों गतियोंके अन्दर होता है टूट जाता है । तथा वह मोक्षस्थानरूप सिद्धशिला तीन लोकके अग्रभाग विराजमान है । जिस सिद्ध अवस्थामें स्थित जीव मोक्षरूप छीके नेत्रोंको देखकर गूढ रहते हैं । तथा षट्कायमें परिभ्रमण करनेवाले संसारीजीवोंके यही धर्मद्रव्य विभावगति क्रियाका

हेतु होता है। जैसे मछलियोंकेलिये जल कारण होता है वैसे ही जीव पुद्गलोंके गमनका कारण यह धर्मद्रव्य है। यह अमूर्तीक है। आठ स्पर्श, पांच वर्ण, पांच रस, और दो गंध ऐसे पुद्गलोंके २० गुणसे रहित है। अगुरुलघुत्व आदि गुणोंका आधार है। लोकाकाशमात्र आकाशका धारी है, असंख एक पदार्थ है। आगमका यह वचन है कि "सह-भुवो गुणाः कमवर्तिनः पर्यायाः" अर्थात् साथमें रहनेवाले गुण होते हैं और क्रमसे वर्तनेवाली पर्यायें होती हैं। इस कारण इस गति-हेतु वाचक धर्मद्रव्यके शुद्ध ही गुण और शुद्ध ही पर्याय हैं। अधर्मद्रव्य जीव पुद्गलोंकी स्थितिमें कारण है, यही इसका विशेष गुण है। धर्मास्तिष्ठायके समान इसके भी सर्व शुद्धगुण और शुद्धपर्याय होते हैं। आकाशद्रव्यका जीवादि द्रव्योंको स्थान देना ही विशेष गुण है, अन्य सर्व गुण और पर्याय धर्म अधर्म द्रव्यके सदृश हैं। लोकाकाश, धर्मद्रव्य, और अधर्मद्रव्य इन तीनोंका प्रमाण समान है, अलोकाकाश निश्चयकरके सचसे बड़ा है। टीकाकार कहते हैं कि "हं भव्यं लोकं" इस लोकमें जीव पुद्गलोंकी गमन वा स्थितिका कारण तथा सर्व द्रव्योंको स्थानदान देनेका कारण जो जो द्रव्य हैं उन सबको द्रव्य अपेक्षायार्थे अवलोकन कर, तू सर्वदा निज आत्मीक तत्त्वमें ही प्रवेश कर। भावार्थ-धर्माधर्माकाशको ज्ञेयपदार्थमात्र ही जान इनको उपोष्यमान, एक अपने शुद्ध आत्मीक तत्त्वही भावना कर। यही भावना तैलिये सदा कल्याणकारि है ॥ ३० ॥

आगे व्यवहार कालके भेदोंको कहते हैं:-

समयायलिभेदेण नु, दृथियत्पं अह्य होइ तियियत्पं ।  
तीदो संसेजायलि. हृदसंठाणप्पमाणं नु ॥ ३१ ॥

सामान्य अर्थ-समय और आयत्तीके भेदमें व्यवहारकालके दो भेद हैं, अथवा तीन भेद हैं। अतीत कालमें अनंत आयत्ती होती है ऐसा ही अनेक कालस्थान अर्थात् विज्ञाका प्रमाण है।



विशेष अर्थ-इस गायामें व्यवहार कालके विविध भेदोंका कथन है एक आकाशके प्रद्वारमें जो परमाणु तिष्ठ है उसको अन्य परमाणु भेद चलनरूप गतिसे टोप जाता है । उसमें जितना समय लगता है उसको समय नामका व्यवहार काल करते हैं । इस प्रकारके असंख्यात समयोंका एक निमेष होता है । आंशकी पटक मारनेमें जितना समय लगे उसको निमेष कहते हैं । आठ निमेषोंकी एक काष्ठा होती है । १६ काष्ठाओंकी एक कला होती है । ३२ कलाओंकी एक घटिका होती है । ६० घटिका अर्थात् नालिकाका एक दिनरात होता है । ३० दिन-रात्रिका एक मास होता है । दो मासकी एक ऋतु होती है । तीन ऋतुका एक अयन होता है । दो अयनका एक संवत्सर अर्थात् वर्ष होता है । इस प्रकार व्यवहार काल जानना । यही व्यवहार काल समय और आवृत्तियोंके भेदसे दो प्रकार है । असंख्यात समयोंकी एक आवृत्ति होती है । यही काल अतीत, अनागत और वर्तमानके भेदसे तीन प्रकार है अब अतीत कालका प्रपञ्च कहते हैं । सिद्ध पर्यायको प्रगट करनेवाले अतीत कालमें अनंत सिद्ध हो गए हैं । सत्कार अवस्थाको त्याग कर उः सत्स्थान अर्थात् आकार विशेष जिनके नहीं रहे वे सिद्ध हैं, वे अनंत हैं, तिनके सदृश व्यवहार काल भी अनंत बीता है अनागत काल भी भविष्य सिद्धोंके समान अनंत है । यह गायामें जो असंख्यात आवृत्ति शब्द है उसका यहां प्रकरणके वशसे अनंत आवृत्ति अर्थ है ऐसा विदित होता है । व्यवहार कालके भेद श्री पंचास्तिकायमें भी ऐसे ही कहे हैं । टीकाकार कहते हैं कि यह व्यवहार काल जो समय, निमेष, काष्ठा, कला, नाली, आदि दिवस वर्ष आदिके भेदसे प्रगट होता है, उस व्यवहार कालसे मुझे कोई फलभी प्राप्ति नहीं होती है । मुझे तो निज उपमा-रहित परम एक आत्मीक तत्त्वको छोड़कर और कोई नहीं है जिससे वास्तविक फलका लाभ हो । भावार्थ-कालका विकल्प मात्र शेषरूप है,

उपादेय नहीं है । उपादेयरूप तो एक अपना शुद्ध आत्मीक तत्त्व ही है ।  
और कोई नहीं है ।

अब मुख्यकालको कहते हैं:—

जीवाद्दु पुग्गलादो, ऽणंतगुणा चावि संपदा समया ।  
लोयायासे संति य, परमढो सो हवे कालो ॥ ३२ ॥

सामान्य अर्थ—जीवोंसे पुद्गल अनंत गुणे हैं वैसेही पुद्गलसे अनंत  
गुणे कालके समय भी हैं । जो कालाणु लोकाकाशमें तिष्ठे हैं वे कालाणु  
परमार्थ यानी निश्चय काल हैं ।

विशेष अर्थ—इस गाथामें मुख्य कालका वर्णन है । जीवादिसे  
अनंत गुणे पुद्गल हैं, पुद्गलोंसे अनंत गुणे कालके समय हैं । यह  
समय व्यवहार काल है । परन्तु कालके अणु जो लोकाकाशके  
एक एक प्रदेशमें अलग अलग तिष्ठे हुए हैं वे परमार्थ यानी  
निश्चयकाल हैं । ऐसा ही श्रीप्रवचनसारमें कहा है उस गाथामें भी  
समय शब्दसे मुख्य काल जो कालाणु उसका ही स्वरूप कथन  
किया है । समय नाम व्यवहार कालरूप समय उसका उ-  
पादान कारण जो समय अर्थात् कालाणु सो अव्यपदेश अर्थात् दिशि-  
यादि प्रदेश रहित है । अर्थात् कालाणु एक प्रदेशी है । दूसरे कालाणु  
ओंसे जुड़ा हुआ नहीं है । सो कालाणु परिणमनका सहकारी है, स्व  
हेतुसे वर्तन करता है । एक प्रदेश मात्र पुद्गल जातिधारी जो परब्रह्म  
द्रव्य मंदगतिसं आकाश द्रव्यके अन्य दूसरे प्रदेशको जाता है जिस  
प्रदेशमें कालाणु व्याप्त है । इस परमाणुके इस वर्तनरूप कार्यमें कालाणु  
सहकारी है । द्रव्योंका वर्तना उदासीन रूपसे प्रवर्तनमें सहई होना  
कालाणुरूप निश्चयकालका कार्य है ॥ अन्य ग्रन्थमें कहा है:—

“अर्थात्—लोकाकाशके एक एक प्रदेशमें रत्नोंकी राशिके समान  
जो कालाणु एक एक करके व्याप्त है सो कालाणु आकाशके असंख्य

बदलनेके समान अमरप्राप्त है " । ऐसीही मार्यप्रकारासे कहा है अर्थात् " काठद्रव्यके अभावसे पद्मार्थका परिणमन नहीं हो सकता । परिणमनके बिना न द्रव्य ठहर सकता है, न उसकी पर्याय हो सकती है । इसलिये सर्व द्रव्योंका अभाव हो जावेगा ।" टीकाकार कहते हैं कि जैसे कुंभके बनानेमें एक कारण है, उसीप्रकार जो द्रव्योंके वर्तनेका कारण हो वह कान द्रव्य है । इस द्रव्यके बिना पांच अस्तिका-रोंका वर्तन अन्य प्रकारसे नहीं हो सकता । सिद्धान्तकी पद्धतिसे ये जीव, पुत्रल, धर्म, अधर्म, आकाश, काठ उर्ध्वद्रव्य सिद्ध है, इसलिये वे सब विश्वास करने योग्य है । भाषार्थ—सर्वजरीतराम कथित सिद्धान्तके अन्दरघारना नहीं हो सकता । इसलिये उनके आगममें वर्णित पदार्थ सत्य है । परी निधम आत्महितशीलकों करना योग्य है ।

फिरभी काठ द्रव्यके विषयमें कहा जाता है:—

जीवादीदृष्टवाण, परिपट्टणकारणं ह्ये काली ।

धम्मादिचओसेणं, महाउगुणपञ्जया हांति ॥ ३३ ॥

सामान्यअर्थ—जीवादि द्रव्योंके परिवर्तनका जो कारण सो काठ द्रव्य है । तथा धर्म, अधर्म, आकाश, काठ इन चार द्रव्योंके स्वभाविक गुण और पर्याय होते हैं ।

विशेषअर्थ—इस गायामें काटादि शुद्ध अमूर्तक अथेतन द्रव्योंके स्वभावगुण और पर्यायोंका कथन है । निधमकालद्रव्य; जीव पुत्रल धर्म अधर्म और आकाश इन पांचों द्रव्योंकी पर्यायोंके परिणमन करने अर्थात् बदलनेमें कारण भूत है । इसीलिये इसको परिवर्तन लिंग कहते हैं । धर्म, अधर्म, आकाश और काठके अपनेमें स्वनातीय किसी प्रकारके बंधके सम्बन्धका अभाव है, इस कारण इनमें विभागगुण पर्याय नहीं होती हैं, परन्तु मात्र स्वभाव गुणपर्याय ही होती हैं । स्वभाव गुण पर्यायोंका कथन पहले कहा जा चुका है इसलिये यहाँ संक्षेपमें कहा

है। भाषाये--अग्नेइ द्रव्यके स्वाभारिक गुण ता एतद रूपेण द्विजे जानुके हैं। इन नाममें पद्मगुणो ज्ञानि गुणिरूप एभाउ पर्याय ही होलें हैं। इनका समुद्र क्लोठगत ज्ञान आगम प्रमाणमें निश्चय करना संभव है। श्रीकाकार कहते हैं कि इस प्रकार पद्म द्रव्योंका प्रकृत व्यक्त्यान जो अतिशय करके कहा गया है सो बहुत ही रमणीक है, मध्यर्वाकोके कानोंको अमृत समान है तथा निज स्वरूपके मनन करनेवाले मुनियोंकेलिये यह आनन्दका दाता है। इन पद्मद्रव्योंका स्वरूप सर्वश मध्यर्वाकोके संगारसे बुझानेकेलिये कारणरूप है।

आगे अस्तिकायको कहते हैं:—

एव छद्मव्याणि य, कालं मोक्षुण अत्थिकायत्ति ।

णिद्विधा जिणसमये, काया नु बहुप्पदेसत्तं ॥ ३४ ॥

सामान्यअर्थ—इन उहाँ द्रव्योंमें कालको छोड़ अन्य पांच द्रव्य अस्तिकाय कहलाते हैं, क्योंकि निश्चयकरके इनके बहु प्रदेशापना है, इससे कायमंशा है। ऐसा जिनआगममें कहा है।

विशेषअर्थ—इस भाषामें काल द्रव्य सिवाय अन्य द्रव्योंके अस्ति कायका वर्णन है। कालद्रव्य दो तीन आदि प्रदेशोंसे रहित है इनके एक ही प्रदेश है। कालके द्रव्यपना ही है। अन्यपांचोंके कायपना ही, क्योंकि ये पांचों कायके समान कायरूप प्रदेशोंके समूहको धारण वाले हैं। अस्तिनाम सत्ताका है। यह सत्ता दो प्रकारकी है एक अवांतर सत्ता, दूसरी महासत्ता। समस्त वस्तुओंमें विस्तार करके फैली हुई महासत्ता है। प्रति नियत एक वस्तुमें व्यापनेवाली अवांतर सत्ता है। महासत्ता सर्व स्वरूपोंमें व्यापिनी है, किन्तु अवांतर सत्ता प्रतिनियत एकरूपव्यापिनी है। अनंतपर्यायोंमें रहनेवाली महासत्ता है। प्रतिनियत एक ही पर्यायमें रहनेवाली अवान्तर सत्ता है। अस्ति नामरहनेका है। उसका भाव अस्तित्व। अस्तित्वके साथमें कायत्वको रखनेवाले है

पंचास्तिकाय है । कालके अस्तित्व है परन्तु कायत्व नहीं है क्योंकि कालद्रव्यके कायके समान बहुत प्रदेश नहीं है । टीकाकार कहते हैं कि " यह षट् द्रव्यरूप रत्नमाला जिनमार्गस्पी समुद्रसे पूर्व आचार्योने भव्य जीवोंके कठका आभरण बनानेकेलिये प्रीतिपूर्वक उद्धृत की है ॥" भावार्थ—इन षट् द्रव्योंका स्वरूप भव्यजीवोंको अपने भ्यानमें भठे प्रकार रसना चाहिये ।

अब द्रव्योंकी प्रवेशसंख्याको कहते हैं —

सखंज्जासंखेज्जा; णंतपदेसा हवन्ति मुत्तस्स ।

धम्माधम्मस्स पुणो, जीवस्स असंखदेसा इ ॥ ३५ ॥

लोयापासे ताव, इदस्स अणंतयं हवं देहो ।

कालस्स ण कायत्तं, एयपदेसो हवे जम्हा ॥ ३६ ॥

सामान्य अर्थ—मूर्तीकद्रव्य पुद्गलके संख्यात, असंख्यात और अनंत प्रदेश होते हैं । धर्म, अधर्म, तथा एक जीवके संख्य प्रदेश होते हैं । लोकाकाशके भी इतने ही हैं । अलोकाकाशके अनंत प्रदेश हैं । कालद्रव्यके कायपना नहीं है, इससे एक प्रदेश ही होता है ।

विशेष अर्थ—इन दो गाथाओंमें उहो द्रव्योंके प्रदेशोंका कथन है । शुद्ध पुद्गलके परमाणुद्वारा ग्रहण किया गया जो आकाश स्थल से प्रदेश कहलाता है । इस प्रकार पुद्गल द्रव्यके प्रदेश संख्यात, असंख्यात और अनंत होते हैं । भावार्थ—कोई पुद्गलका स्कंध दांसे आदि से संख्यात परमाणुओंका, कोई असंख्यातका तथा कोई अनंतका होता है । लोकाकाश, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य तथा एक जीव द्रव्यके असंख्यात प्रदेश होते हैं । अलोकाकाशके अनंत प्रदेश होते हैं । कालके एक ही प्रदेश है, इसी कारण इसके कायपना नहीं है परन्तु द्रव्यपना अवश्य है ही ॥ टीकाकार करते हैं कि " यह पदार्थरूपी रत्नोंका आभरण देने मुमुक्षुओंके कंठकी शोभाकेलिये रचा है । जो बुद्धिमान् हैं वह इसके



## शुद्धभावाधिकार ।



जीवादिवाहित्तयं, हेयमुपादेयमप्पणो अप्पा ।

कम्मोपाधिसमुब्भय, गुणपज्जाण्हिं वदिरत्तो ॥३८॥

सामान्य भ्रम—जीवादि वास्तु तत्त्व हेय हैं, इस आत्माको निधय-  
करके आत्मा ही उपादेय है । यह आत्मा कर्मकी उपाधिसे पैदा होनेवाले  
गुणपर्यायोत्तं भिन्न है ।

विशेष भ्रम—इस भाषामें हेय उद्योद्यतत्त्वोंके स्वरूपका कथन  
है । जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष यह सात  
तत्त्व परद्रव्य स्वरूप हैं इसलिये ग्रहण योग्य नहीं हैं । जो आत्मा  
स्वाभाविक वैराग्यरूपी मूढके सित्तरका शिरसामणि है, परद्रव्योंसे  
उदासीन पराङ्मुख है, पंचेन्द्रियके विषयोंके विस्तारसे रहित शरीर-  
मात्र परिग्रहका धारी है, परम जिन अर्थात् कृपाय विजयी योगेश्वर है  
सथा जिसने अपने ही द्रव्यमें अपनी बुद्धिको जाड़ दिया है ऐसे वीतराग  
आत्माकेलिये वही आत्मा उपादेय अर्थात् ग्रहणयोग्य है । जो औद्यधिक,  
औपशमिक, क्षयोपशमिक और क्षायक चारों भावोंके अगोचर होनेसे  
द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि भावकर्म रागद्वेषादि नोकर्म वास्तु शरीरादि इन  
रूप जो उपाधि उससे उत्पन्न हुए जो विभावगुण और विभावपर्याय  
उनसे रहित हैं । जो आदि अंतरहित अमूर्तीक अतीन्द्रिय स्वभावसे ही  
शुद्ध सहज पारिणामिक भाव स्वरूप कारण परमात्मा है । ऐसा ही आत्मा  
उपादेय है । अत्यन्त निकट भव्य जीवोंकेलिये ऊपर कहे प्रमाण निज  
परमात्माको छोड़कर और कोई वस्तु आदेय नहीं है, अर्थात् उनके  
एक निज शुद्ध स्वरूपका ही ग्रहण है । टीकाकार कहते हैं  
“ सर्वतत्त्वोंमें एक सारभूत जो समयसार, अर्थात् शुद्ध आत्मा है





## शुद्धभावाधिकार ।



जीवादिबाह्यत्तत्रं, हेयमुवादेयमप्पणो अप्पा ।

कम्मोपाधिसमुच्चमव, गुणपज्जाएहिं वदिरत्तो ॥३८॥

सामान्य अर्थ—जीवादि बाह्य तत्र हेय हैं, इस आत्माको निश्चय-करके आत्मा ही उपादेय है । यह आत्मा कर्मकी उपाधिसे पैदा होनेवाले गुणपर्यायोसे भिन्न है ।

विशेष अर्थ—इस गायामें हेय उपोदयतत्त्वोंके स्वरूपका कथन है । जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष यह सात तत्त्व परद्रव्य स्वरूप हैं इसलिये ग्रहण योग्य नहीं हैं । जो आत्मा स्वाभाविक वेगग्रहीरूपी महलके शिखरका शिखामणि है, परद्रव्योंसे उदासीन पराङ्मुख है, पचेन्द्रियके विषयोंके विस्तारसे रहित शरीर-मात्र परिग्रहका धारी है, परम जिन अर्थात् कपाय विजयी योगीश्वर है तथा जिसने अपने ही द्रव्यमें अपनी बुद्धिको जाड़ दिया है ऐसे वीतराग आत्माकलिये वही आत्मा उपादेय अर्थात् ग्रहणयोग्य है । जो औद्येक, औपशमिक, क्षयोपशमिक और क्षायक धारों भावोंके अगोचर होनेसे द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि भावकर्म रागद्वेषादि नोकर्म बाह्य शरीरादि इन रूप जो उपाधि उससे उत्पन्न हुए जो विभावगुण और विभावपर्याय उनसे रहित हैं । जो आदि अंतरहित अमूर्तीक अतीन्द्रिय स्वभावसे ही शुद्ध सहज पारिणामिक भाव स्वरूप कारण परमात्मा है । ऐसा ही आत्मा उपादेय है । अत्यन्त निकट भव्य जीवोंकेलिये ऊपर कहे प्रमाण निज परमात्माको छोड़कर और कोई वस्तु आदेय नहीं है, अर्थात् उनके एक निज शुद्ध स्वरूपका ही ग्रहण है । टीकाकार कहते हैं

“ सर्वतरवोंमें एक सारभूत जो समयसार, अर्थात् शुद्ध आत्मा है

द्वारा व्यवहार मार्गको जानकर फिर शुद्ध मार्गको जानो अर्थात् भू-  
भव करो ।

अब अजीव द्रव्यके कथनको संक्षेपते हैं:—

पुग्गलद्वयं मोत्तं, मुत्तिविरहिया ह्वयंति सेसाणि ।  
चेदणभावो जीओ चेदणगुणवज्जिया सेसा ॥ ३७ ॥

सामान्य अर्थ—पुत्रल द्रव्य मूर्तीक है, अन्य शेष मूर्तिरहित है ।  
जीव चेतन्यभाववान है । शेष चेतन्यगुणसे रहित हैं ।

विशेष अर्थ—इस माध्यामं अजीव द्रव्यका संक्षेप है । मूत्र ११  
द्रव्योंमें पुत्रल द्रव्यको ही मूर्तिमत्तपना है । शेष जीव धर्म अर्थात्  
आकाश तथा काल मूर्तिपनेसे रहित अमूर्तीक हैं । तथा चेतन्यपना मः ११  
जीवद्रव्यके ही है । अन्य पांचोंद्रव्य चेतना रहित हैं । इस माध्यामं  
और विजातीय बंधनकी अपेक्षासे जीव पुत्रलोंके ही अशुद्धपना हो-  
गै । परन्तु धर्मादिक चार द्रव्योंके विशेषगुणकी अपेक्षासे शुद्धपना हो-  
गै । टीकाकार कहते हैं कि जिस मध्योत्तमके मुखकी सतीकाके  
लक्षित पक्षोंकी भावकी उत्पन्न होकर निष्प प्रकाशमान होती है, उस  
निर्मलबुद्धि धारी जीवके बुद्धकी कमलके मध्यमें शीघ्र ही समपन्न  
अर्थात् शुद्धात्मा प्रकाशमान होता है । इसमें कोई माध्यामिकी का  
नहीं है । भाष्यार्थ—ये कोई इन सु-११ माध्यामिकों परे मध्यका मध्य  
मध्यको जीव ही मध्यमार अर्थात् शुद्ध आत्मा ही उत्पन्न होती है ।

इस प्रकार सुचारुतन-कमलाकेदिने मुख्यममान, पंचेन्द्रकी  
विषयोंके केदारने मन्त्रित सतीमार की परिपक्वके धारी जीवप्रपन्नम  
धारीके द्वारा । मन्त्रित मन्त्रियममार ही उत्पन्नतामन्त्रित-  
अर्थात् मन्त्रित नाम शुद्ध पुत्रलकेव पुत्रे पुत्रा ।

## शुद्धभावाधिकार ।



जीवादिबहिस्तत्रं, हेयमुवादेयमप्यणो अप्या ।

कम्मोपाधिसमुम्भव, गुणपज्जाएहिं वदिरत्तो ॥३८॥

सामान्य अर्थ—जीवादि बाह्य तत्त्व हेय हैं, इस आत्माको निश्चय-करके आत्मा ही उपादेय है । यह आत्मा कर्मकी उपाधिसे पैदा होनेवाले गुणपर्यायोंसे भिन्न है ।

विशेष अर्थ—इस गाथामें हेय उपोद्भयतत्त्वोंके स्वरूपका कथन है । जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष यह सात तत्त्व परद्रव्य स्वरूप हैं इसलिये ग्रहण योग्य नहीं हैं । जो आत्मा स्वाभाविक वेदायस्वरूपी मरलके शिखरका शिखामणि है, परद्रव्योंसे उदासीन पराङ्मुख है, पचेन्द्रियके विषयोंके विस्तारसे रहित शरीर-मात्र परिग्रहका धारी है, परम जिन अर्थात् कपाय विजयी योगीश्वर है तथा जिसने अपने ही द्रव्यमें अपनी बुद्धिको जोड़ दिया है ऐसे वीतराग आत्माकलिये वही आत्मा उपादेय अर्थात् ग्रहणयोग्य है । जो औदायिक, औपशमिक, क्षयापशमिक और क्षायक चारों भावोंके अगोचर होनेसे द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि भावकर्म रागद्वेषादि नोकर्म बाह्य शरीरादि इन रूप जो उपाधि उससे उत्पन्न हुए जो विभावगुण और विभावपर्याय उनसे रहित हैं । जो आदि अंतरहित अमूर्तिक अतीन्द्रिय स्वभावसे ही शुद्ध सहज पारिणामिक भाव स्वरूप कारण परमात्मा है । ऐसा ही आत्मा उपादेय है । अत्यन्त निकट भव्य जीवोंकेलिये ऊपर कहे प्रमाण निज परमात्माको छोड़कर और कोई वस्तु आदेय नहीं है, अर्थात् उनके एक निज शुद्ध स्वरूपका ही ग्रहण है । टीकाकार कहते हैं “ सर्वतत्त्वोंमें एक सारभूत जो समयसार, अर्थात् शुद्ध आत्मा है

उमड़ी जग हो । केमा ने ज गमयार, सम्पूर्ण भिद्य अर्थात्  
 विकारोंमें पूर है । कठिनतामें निराणो योग्य कामदेवों निरुने  
 असन कर रिगा है । पापक्षी दुःखके बादनेको छुटारके समान  
 है, शुद्ध जानका मानो भगतार है, आनन्दक्षी समुद्रमें परिपूर्ण है,  
 तथा केशक्षी सागरसमुद्रमें पार हो चुका है । भावार्थ-कितगोत्रको  
 पंसाती साक्षरपरमात्माको ध्यानमें लेकर अनुभव करना योग्य है ।  
 तिर भी कहते हैं:-

णो ररलु सहावठाणा, णो माणवमाणभावठाणा वा ।  
 णो हरिसभावठाणा, णो जीवस्स हरिस्स ठाणा वा ॥३९॥

सामान्य अर्थ-इस समयसारके निश्चयकरके न तो कोई स्वभाव  
 स्थान है न मान अपमानरूपी भावस्थान हैं न हर्षभावरूप स्थान हैं  
 और न अहर्षभावरूप स्थान हैं ॥

विशेषार्थ-इस गाथामें निर्विकल्प तत्व स्वरूपका वर्णन है । नू. भविष्य  
 वर्तमान तीनों कालमें जो निरुपाधि स्वभाव है अर्थात् जिसके कोई द्र-  
 द्रव्यसम्बन्धी उपाधि नहीं है, ऐसा जो शुद्ध जीवास्तिकाय है उसके  
 निश्चयकरके कोई विभावरूप स्वभावस्थान नहीं है । शुभ अशुभ सर्व ही  
 मोह, राग और द्वेषके अभावसे उस शुद्ध जीवके मानअपमानके कारण-  
 भूत कोई कर्मके उदयस्थान नहीं हैं । न निश्चय करके उसके शुभो-  
 पयोगरूप परिणति होती है । इसलिये शुभकर्मका बंध नहीं होता । शुभ-  
 कर्मके न होनेसे संसारिक असारसुख नहीं होता, सासारिक सुखके  
 अभाव होनेसे उस शुद्ध जीवके कोई हर्षके स्थान नहीं है । इसीप्रकार  
 उस शुद्धजीवके अशुभोपयोगकी परिणति नहीं होती इस कारण अशुभ  
 कर्मका बंध नहीं होता । अशुभकर्मके अभावसे दुःख नहीं होता । दुःख  
 न होनेसे उस शुद्ध आत्माके कोई अहर्ष अर्थात् निरानन्द (दुःख)के  
 स्थान नहीं होते । टीकाकार कहते हैं कि "हे भव्यजीव; यदि तू

इस दुःस्वरूप संसारसे हटकर सुखकी इच्छा करता है तो तू क्यों नहीं अपनी बुद्धि उस आत्मामें करता, जो प्रीति अप्रीतिसे रहित अविनाशी पदमें विराजमान है । जो सर्वथा अंतर्मुख होकर भेदरहित उदयमान सुरतमें निराकार प्रकाशमान है । जिसका निर्मल शरीर चैतन्यअमृतसे परिपूर्ण मरा हुआ है । तथा जो आत्मस्वरूप सोजिगोंके ही ध्यानके गोचर है ” ।

भावार्थ—भव्यजीवको उचित है कि निरन्तर ऐसे ही उत्कृष्ट स्वभाववाले आत्माका मननकर अद्भुत और अनुपम सुखकी प्राप्ति करे । फिर भी कहते हैं—

णो ठिदिवंधद्वाणा, पयदिद्वाणा पदेसठाणा वा ।

णो अणुभागद्वाणा, जीवस्स ण उदयठाणा वा ॥ ४० ॥

सामान्य अर्थ—उस शुद्ध जीवास्तिकायके न तो कोई स्थितिबंधके स्थान है, न प्रकृतिबंधके स्थान है न प्रदेश बंधके और न अनुभागबंधके स्थान हैं तथा उसके कोई उदयस्थान भी नहीं हैं ।

विशेषार्थ—इस गाथामें बंध व उदयके अभाव स्वरूपका कथन है । उस शुद्ध जीवात्माके कपायरूप स्थितिबंधका कारण ऐसे कोई स्थितिबंध स्थान नहीं है अर्थात् जब आत्मामें कर्मोंका बंध होता है तब उसमें आत्माके साथ उन कर्मोंके संबंधक रहनेकी मियादका नाम स्थितिबंध है । उस आत्माके स्थितिको लिये हुए कोई स्थिति बंधरूप कर्म नहीं है । और न स्थितिबंधका कारण कोई कपायस्थान है । न उस आत्माके ज्ञानावरण आदि अष्टकर्मरूप होने योग्य पुद्गल द्रव्योंका स्वीकाररूप प्रकृतिबंध है । और न उसके कारण योगस्थान हैं । अशुद्धआत्माकी सत्तामें कर्मवर्गणारूप पुद्गलोंका परस्पर प्रदेशोंमें प्रवेश होजाना सो प्रदेशबंध है । उस शुद्धआत्माके न ता यह बंध है और न इस बंधके योग्य योगस्थान ही है । शुभअशुभ कर्मोंकी जब निर्मल होनेका समय आता है तब वे

सुखदुःखरूप फल प्रदान करते हैं उसममय जिस शक्तिके फलदान होता है उस शक्तिका नाम अनुभाग बंध है, उस शुद्धआत्मानमें इस अनुभाग बंधका और इसके कारण कृपायम्यानोंका जग भी अवकाश नहीं है। और न इस निर्मल आकाश सदृश आत्मानमें द्रव्यकर्म और भावकर्मके उदयरूप स्थानोंके ही रहनेकी जगह है। ऐसा ही श्री अमृत-चन्द्रसूरिने कता है:- "जिस आत्मानमें बद्ध और मर्शभावको डिये हुए कर्म प्रगष्टरूपसे ऊपर ही ऊपर रहते हैं उसमें म्यान करनेरूप प्रविष्टाको नहीं प्राप्त करते, तथा जो सर्वतरफसे प्रकाशमान है ऐसे आत्माको जगत्का सम्पूर्ण मोह छोड़कर है भव्यजीव तू अनुभव कर। केसा है आत्मा, जो सम्यक्स्वभावरूप है।" ऐसाही टीकाकार भी कहते हैं। "मैं उस चेतन्यके पदका अतिशय करके अनुभव करता हू जो नित्य शुद्ध चिदानन्दमयी संपदाकी सानि है उत्कृष्ट है। और विपदाओंका स्थान नहीं है। अर्थात् जिसमें किसी प्रकारकी आपत्ति नहीं है। जो भव्यजीव सर्व कर्मरूपी विषवृक्षमे पैदा होनेवाले अपने आत्माके स्वते विलक्षण सांसारिक फलोंको त्यागकर स्वाभाविक चेतन्यस्वरूप अपने आत्मतत्त्वको इससमय भोगता है वह भव्यजीव शीघ्र ही मुक्तिको प्राप्त करता है। इसमें कौन जीव संशय कर सकता है। भावार्थ- जो कोई इन्द्रियजनित विषयसुखोंको विपके समान जानकर त्यागता है और अपने आत्मीकतत्त्वका अनुभव करता है वही जीव कर्मोंकी निर्जरा करता हुआ कुठेक भवोंमें मुक्तिको प्राप्त कर सकता है। इसमें संदेह नहीं करना चाहिये।

फिर भी कहते हैं:-

णो खड्यभावठाणा, णो खयउवसमसहावठाणा वा ।

ओदइयभावठाणा, णो उवसमणो सहावठाणा वा ॥४१॥

सामान्य अर्थ-उस शुद्ध जीवास्तिकायके न तो क्षयिकभावके

स्थान हैं, न क्षयोपशमभावके स्थान है, न औद्यिक भावके स्थान हैं और न उपशमभावके स्थान हैं ।

विशेष अर्थ—इस माध्यामें चार विभाव स्वभावोंके कथनके द्वारा पंचम भावका व्याख्यान है । कर्मोंके क्षयसे जो भाव उत्पन्न हो सो क्षायिक भाव है, जैसे सात प्रकृतियोंके क्षयसे क्षायिक सम्यक् होता है व चारित्र मोहनीके नाशसे क्षायिक चारित्र होता है । कर्मोंके क्षयोपशमसे जो पैदा हो वह क्षयोपशमिक भाव है अर्थात् सर्व पातीके उदयाभावरूप क्षयसे तथा सर्व पातीके उपशमसे तथा देश पातीके उदयसे जो भाव हो सो क्षयोपशम भाव है, जैसे छ प्रकृतियोंके उपशम तथा सम्यक् मोहनीके देशपाती स्पर्धकोंके उदयसे क्षयोपशम सम्यक् होता है । जो भाव कर्मोंके उदयसे होता है सो औद्यिक भाव है, जैसे नर्कगतिके उदयसे नारकी । कर्मोंके उपशमसे जो भाव हो सो औपशमिक भाव है, जैसे सात प्रकृतियोंके उपशमसे उपशम सम्यक् होता है । सर्व कर्मरूपी उपाधिसे रहित जो भाव आत्माके स्वाभाविक परिणाममें हो सो पारिणामिक भाव है । इन पांच भावोंमें औपशमिक भाव दो प्रकार, क्षायिक भाव नौ प्रकार, क्षयोपशम भाव १८ प्रकार, औद्यिक भाव २१ प्रकार तथा पारिणामिक भाव तीन प्रकारका है । औपशमिक भावोंके दो भेद हैं, एक उपशम सम्यक् दूसरा उपशम चारित्र । क्षायिक भाव नौ प्रकार है, क्षायिक सम्यक् क्षायिक चारित्र अर्थात् यथास्थाय चारित्र, केवलज्ञान, और केवल दर्शन तथा अतराय कर्मके नाश होनेसे पैदा होनेवाले अनंतदान अनतलाभ, अनत भोग, अनंत उपभोग और अनतवीर्य्य है । क्षायोपशमिक भावके १८ भेद यह हैं—मति, धृत, अवधि, मन पर्य्यय ऐसे ज्ञान ४ कुमति, कुधृत और विभग अवधि ऐसे अज्ञान तीन । चक्षु, अचक्षु, अवधि ऐसे तीन दर्शन । काठ, करण, उपदेश, उपशम और प्रायोग्यता ऐसी पांच लब्धियाँ अर्थात् काठ लब्धि जिसको क्षयोपशम लब्धि भी कहते

सुखदुःखरूप कल पदान करते हैं उससमय जिस शक्तिसे कलपदान होता है उस शक्तिका नाम अनुभाग बंध है, उस शुद्धआत्मानें इस अनुभाग बंधका और इमंके कारण इथायग्यानोंका जग भी भावना नहीं है। और न इस निर्मल आकाश सदृश आत्मानें द्रव्यकर्म और भारकर्मके उदयरूप स्थानोंके ही रहनेकी जगह है। ऐसा ही श्री अमृत-चन्द्रमूरिने कता है:- "जिस आत्मानें बद्ध और स्पर्शभावको जिये हुए कर्म प्रगट्त्वरूपमें ऊपर ही ऊपर रहते हैं उसमें स्थान करनेरूप शक्ति-काको नहीं प्राप्त करते, तथा जो सर्वतरफसे प्रकाशमान है ऐसे आत्माको जगत्का सम्पूर्ण मोह छोड़कर है भव्यजीव तू अनुभव कर। कैंसा है आत्मा, जो साम्यकर्म्यभावरूप है।" ऐसा ही टीकाकार भी कहते हैं। "मैं उस चैतन्यके पदका अतिशय करके अनुभव करता हूँ जो नित्य शुद्ध चिदानंदमयी संपदाकी सानि है उत्कृष्ट है। और विपदाओंका स्थान नहीं है। अर्थात् जिसमें किसी प्रकारकी आपत्ति नहीं है। जो भव्यजीव सर्व कर्मरूपी विपदक्षमे पैदा होनेवाले अपने आत्माके रूपसे विलक्षण सासारिक फलोंको त्यागकर स्वाभाविक चैतन्यस्वरूप अपने आत्मतत्त्वको इससमय भोगता है वह भव्यजीव शत्रि ही मुक्तिको प्राप्त करता है। इसमें कौन जीव संशय कर सकता है"। भावार्थ- जो कोई इन्द्रियजनित विषयमुखोंको विषके समान जानकर त्यागता है और अपने आत्मीकतत्त्वका अनुभव करता है वही जीव कर्मोंकी निर्जरा करता हुआ कुछेक भवोंमें मुक्तिको प्राप्त कर सकता है। इसमें संदेह नहीं करना चाहिये।

किर भी कहते हैं:-

णो खड्यभावठाणा, णो खयउवसमसहावठाणा वा ।

ओदइयभावठाणा, णो उवसमणो सहावठाणा वा ॥४१॥

सामान्य अर्थ-उस शुद्ध जीवास्तिकायके न तो क्षायिकभावके



स्थान है, न क्षयोपशमभावेक स्थान है, न औद्द्यिक भावके स्थान है और न उपशमभावेक स्थान है ।

विंशत्य अर्थ—इम साधामे चा विभाव स्वभावोके कथनके द्वारा पचम भाषाका व्याख्यान है । कर्मोके क्षयमे जो भाव उत्पन्न हो सो क्षायिक भाव है, जैसे सात प्रवृत्तियोंके क्षयसे क्षायिक सम्यक होता है व चारित्र मोहनीके नाशमे क्षायिक चारित्र होता है । कर्मोके क्षयोपशममे जो पैदा हो वह क्षयोपशमिक भाव है अर्थात् सर्व पातोंके उद्दयाभावरूप क्षयसे तथा सर्व पातोंके उपशममे तथा देश पातोंके उद्दयमे जो भाव हो सो क्षयोपशम भाव है, जैसे छ प्रवृत्तियोंके उपशम तथा सम्यक मोहनीके देशपाती स्पर्धकाके उद्दयसे क्षयोपशम सम्यक होता है । जो भाव कर्मोके उद्दयमे होता है सो औद्द्यिक भाव है, जैसे नर्कगतिके उद्दयसे नारकी । कर्मोके उपशमसे जो भाव हो सो औपशमिक भाव है, जैसे सात प्रवृत्तियोंके उपशमसे उपशम सम्यक होता है । सर्व कर्मरूपी उपाधिमे रहित जो भाव आत्माके स्याभाविक परिणाममे हो सो पारिणामिक भाव है । इन पांच भावोंमे औपशमिक भाव दो प्रकार, क्षायिक भाव नौ प्रकार, क्षयोपशम भाव १८ प्रकार, औद्द्यिक भाव २१ प्रकार तथा पारिणामिक भाव तीन प्रकारका है । औपशमिक भावोंके दो भेद हैं, एक उपशम सम्यक दूसरा उपशम चारित्र । क्षायिक भाव नौ प्रकार है, क्षायिक सम्यक क्षायिक चारित्र अर्थात् यथारय्यात चारित्र, केवलज्ञान, और केवल दर्शन तथा अतर्गप कर्मके नाश होनेसे पैदा होनेवाले अनंतज्ञान अनंतलाम, अनंत भोग, अनंत उपभोग और अनंतवीर्य्य हैं । क्षयोपशमिक भावके १८ भेद यह हैं—मति, ध्रुत, अवधि, मन पर्य्यय ऐसे ज्ञान ४ कुमति, कुध्रुत और विनंग अवधि ऐसे अज्ञान तीन । चध्रु, अचध्रु, अवधि ऐसे तीन दर्शन । काळ, करण, उपदेश, उपशम और प्रायोग्यता ऐसी पांच लब्धियाँ अर्थात् काळ लब्धि जिसको क्षयोपशम लब्धि भी कहते

सुखदुस्वरूप फल प्रदान करते हैं उससमय जिस शक्तिसे फलप्रदान होता है उस शक्तिका नाम अनुभाग बंध है, उस शुद्धआत्मामें इस अनुभाग बंधका और इसके कारण कषायस्थानोंका जरा भी अवकाश नहीं है। और न इस निर्मल आकाश सदृश आत्मामें द्रव्यकर्म और भावकर्मके उदयरूप स्थानोंके ही रहनेकी जगह है। ऐसा ही श्री अमृत-चन्द्रसूरिने कहा है:-“जिस आत्मामें बद्ध और स्पर्शभावको लिये हुए कर्म प्रगष्टरूपसे ऊपर ही ऊपर रहते हैं उसमें स्थान करनेरूप प्रति-ष्ठाको नहीं प्राप्त करते, तथा जो सर्वतरफसे प्रकाशमान है ऐसे आत्मामें जगत्का सम्पूर्ण मोह छोड़कर हे भव्यजीव तू अनुभव कर। केसा है आत्मा, जो सम्यक्स्वभावरूप है।” ऐसा ही टीकाकार भी कहते हैं। “मैं उस चैतन्यके पदका अतिशय करके अनुभव करता हूँ जो नित्य शुद्ध चिदानंदमयी संपदाकी स्वानि है उत्कृष्ट है। और विषयोंका स्थान नहीं है। अर्थात् जिसमें किसी प्रकारकी आपत्ति नहीं है। जो भव्यजीव सर्व कर्मरूपी विषयवृक्षमें पैदा होनेवाले अपने आत्मामें रूपसे विलक्षण सांसारिक फलोंको त्यागकर स्वाभाविक चैतन्यस्वरूप अपने आत्मतत्त्वको इससमय भोगता है वह भव्यजीव शीघ्र ही मुक्तिमें प्राप्त करता है। इसमें कौन जीव संशय कर सकता है”। भावार्थ- जो कोई इन्द्रियजनित विषयसुखोंको विषयके समान जानकर त्यागता है और अपने आत्मतत्त्वका अनुभव करता है वही जीव कर्मोंकी निर्मला करता हुआ कुठेक भवोंमें मुक्तिको प्राप्त कर सकता है। स्वयं संदेह नहीं करना चाहिये।

किर भी कहते हैं:-

णो स्वइयमायठाणा, णो रयउवसमसहावठाणा या ।

ओइइयमायठाणा, णो उवसमणो सहावठाणा या ॥४१॥

सामान्य अर्थ-उस शुद्ध जीवास्तिकायके न तो क्षयिकभावके

स्थान है, न क्षयोपशमभावांक स्थान है, न औद्यिक भावके स्थान है और न उपशमभावांक स्थान है ।

विशेष अर्थ—इस माध्यमे चार विभाव स्वभावोंके कथनके द्वारा पंचम भावका स्थान पान है । कर्मोंके क्षयमें जो भाव उत्पन्न हो सो क्षायिक भाव है, जैसे सात प्रवृत्तियोंके क्षयसे क्षायिक सम्बन्ध होता है व पारिव मांहनीके नाराय क्षायिक पारिव होता है । कर्मोंके क्षयोपशमसे जो पैदा हो वह क्षयोपशमिक भाव है अर्थात् सर्व पारिवके उद्वाभारूप क्षयमें तथा सर्व पारिवके उपशमसे तथा देश पारिवके उद्घने जो भाव हो सो क्षयोपशम भाव है, जैसे छ प्रवृत्तियोंके उपशम तथा सम्बन्ध मांहनीके देशपानी शब्दोंके उद्घने क्षयोपशम सम्बन्ध होता है । जो भाव कर्मोंके उद्घने होता है सो औद्यिक भाव है, जैसे नर्मगतिके उद्घने नारकी । कर्मके उपशमसे जो भाव हो सो औपशमिक भाव है, जैसे सात प्रवृत्तियोंके उपशमसे उपशम सम्बन्ध होता है । सर्व कर्मरूपा उपादिमें रहित जो भाव आत्माके स्वाभाविक परिणाममें हो सो पारिणामिक भाव है । इन पांच भावोंमें औपशमिक भाव दो प्रकार, क्षायिक भाव नौ प्रकार, क्षयोपशम भाव १८ प्रकार, औद्यिक भाव २१ प्रकार तथा पारिणामिक भाव तीन प्रकारका है । औपशमिक भावोंके दो भेद है, एक उपशम सम्बन्ध दूसरा उपशम पारिव । क्षायिक भाव नौ प्रकार है, क्षायिक सम्बन्ध क्षायिक पारिव अर्थात् यथाख्यात पारिव, केवलज्ञान, और केवल दर्शन तथा अनराय कर्मके नाश होनेसे पैदा होनेवाले अनतदान अनतदाम, अनंत भोग, अनंत उपभोग और अनंतवीर्य्य है । क्षयोपशमिक भावके १८ भेद यह हैं—मति, धुत, अवधि, मन पर्य्यय ऐसे ज्ञान ४ कुमति, कुधुत और विभेग अवधि ऐसे अज्ञान तीन । यधु, अचधु, अवधि ऐसे तीन दर्शन । काठ, करण, उपदेश, उपशम और प्रायोग्यता ऐसी पांच लब्धिषी अर्थात् काठ लब्धि जिसको क्षयोपशम लब्धि भी कहते

मुसवृगरूप कल धरान करते हैं उससमय जिस शक्तिसे फटज्जान होता है उस शक्तिका नाम अनुभाग बंध है, उस शुद्धजातानमें इस अनुभाग बंधका और इसके कारण कषायस्थानोंका जग भी अवकाश नहीं है। और न इस निर्मल आकाश सदृश आत्मानमें द्रव्यकर्म और भावकर्मके उदयरूप स्थानोंके ही रहनेकी जगह है। ऐसा ही श्री अमृ-  
चन्द्रसूरिने कहा है:—“जिस आत्मानमें क्रुद्ध और स्पशेनावको दिने हुए कर्म प्रायस्वरूपसे ऊपर ही ऊपर रहते हैं उसमें स्थान करनेरूप प्रति-  
ष्ठाको नहीं प्राप्त करते, तथा जो सर्वतरफसे प्रकाशमान है, ऐसे आत्माको जगतका सम्पूर्ण मोह छोड़कर है भव्यजीव तू अनुभव कर। केमा है आत्मा, जो सम्यक्स्वभावरूप है।” ऐसा ही टीकाकार भी कहते हैं।  
“मैं उस चैतन्यके पदका अतिशय करके अनुभव करता हूँ जो नित्य शुद्ध चिदानंदमयी संपदाकी सानि है उत्कृष्ट है। और विपदाओंका स्थान नहीं है। अर्थात् जिसमें किसी प्रकारकी आपत्ति नहीं है। जो भव्यजीव सर्व कर्मरूपी विपदक्षमे पैदा होनेवाले अपने आत्माके रूपसे विलक्षण सांसारिक फलोंको त्यागकर स्वाभाविक चैतन्यस्वरूप अपने आत्मतत्त्वको इससमय भोगता है वह भव्यजीव शिव ही मुक्तिको प्राप्त करता है। इसमें कौन जीव संशय कर सकता है”। भावार्थ— जो कोई इन्द्रियजनित विषयमुत्सोंको विपके समान जानकर त्यागता है और अपने आत्मीकतत्त्वका अनुभव करता है वही जीव कर्मोंकी निर्जरा करता हुआ कुठेक भवोंमें मुक्तिको प्राप्त कर सकता है। अपने संदेह नहीं करना चाहिये।

फिर भी कहते हैं:—

णो खड्यभावठाणा, णो खयउवसमसहावठाणा वा ।  
ओदइयभावठाणा, णो उवसमणो सहावठाणा वा ॥४१॥

सामान्य अर्थ—उस शुद्ध जीवास्तिकायके न तो क्षायिकभावके

"इदं नाम चरितं तत्र और वीर्यं ऐस एव भावतोकी अन्वयैकते  
 विद्याम ज्ञान एवं प्राणको स्थान पर एक लक्ष्यभावकी कोम  
 भाव करनेकिये स्थान बन है । और बिनी भावका प्रभव नहीं  
 करत । एवं पुण्यकर्मकी भी कोसी नीचैकिये भावोका मूल समझकर  
 पापमन्त्राद्यादी मुक्ति योग देत है और पाप सम्यक्भाव प्राप्त  
 आये तब मन्त्रकी संज्ञासे मुक्ति प्राप्त करनेकिये प्रवृत्त है इनके  
 बानाए हाथ है । अथात् वही निरीय कहते है । भावार्थ अर्थात्  
 पुण्य पुण्यकी भी एक समझते है और पुण्य स्वभावकी सामग्र्यभावनासे  
 प्रवृत्त बन है । वही भावना पुण्य स्वभावके प्राप्त होनेकिये  
 पाप भावन कारण है । इत्येव योऽपि इत्युक्तोऽपि स्वभावभावना  
 ही कथ्यते ।

य उग्रह भवसंभ्रमणं जाह्नवसामान्यसंक्रा प ।  
 कुत्र जाणि जीवममाण, ठाणा जीवम जां मन्ति ॥४२॥  
 सामान्यअर्थ-इस पुण्य जीवक पार । तिस्र भ्रमण नहीं है, न इसके  
 नाम भावोका स्थान भी नहीं है । तथा इसके कुल यानि जीवमान  
 विधाय अर्थ-इस साधारण पुण्य निश्चयनकी अवगत पर कथन है  
 कि इस पुण्य जीवक समस्त प्रकारके विकार नहीं है । पर पुण्य जीव-  
 निकाय द्रव्य कर्म और भाव कर्मको स्वीकार नहीं करता इस कारण  
 नाक, त्रिदश, मनुष्य और देव वंशी पार गतिको भ्रमण नहीं करता ।  
 पर जोसा नित्य पुण्य चिदानुरूप है कारण परमात्मस्वरूप है अर्थात्  
 इसके ही ध्यान करनेसे परमात्मा होता है । न इस जीवक द्रव्यकर्म  
 नाकर्मके ग्रहण योग्य विनायकत्विति होती है इत्यर्थे इसके जन्म  
 जग, मरण, राग और शोक नहीं है । न इसके पार गति सब  
 जीवोके योग्य कुल और योनिके विकल्प है । कुल और योनिके

हैं, दूसरी उपशम अर्थात् विशुद्धि लब्धि, तीसरी उपदेश अर्थात् देशना लब्धि, चौथी प्रायोग्य लब्धि, पंचमी करण लब्धि, क्षयोपशम सम्यक् और क्षयोपशम चारित्र्य तथा संयमासंयम परिणति ये १८ भेद क्षयोपशम भावके हैं । औदयिक भाव २१ प्रकार इस भांति है—नाटक तीर्थक्ष, मनुष्य, देव ऐसे चार गति, क्रोध मान माया लोभ ऐसे ४ क्वाय। स्त्री, पुष्टिंग, नपुंसक ऐसे तीन लिंग, सामान्य संग्रहनयकी अपेक्षासे निष्पा दर्शन एक, अज्ञान एक, असंयम एक, असिद्धत्व एक, शुद्ध, पद्म, पीत, कापोत, नील, कृष्ण ऐसे छः रेश्या । पारिणामिक भाव ३ प्रकार हैं जीवत्व पारिणामिक, भव्यत्व पारिणामिक और अभव्यत्व पारिणामिक । इनमें जीवत्व पारिणामिकभाव भव्य अभव्य दोनोंके होता है । भव्यत्वभाव भव्योंहीके और अभव्यत्व अभव्योंहीके होता है । इस प्रकार पांचप्रकार भावोंके ५३ भाव हैं । इन पांच भावोंके बंधोंके क्षायिकभाव तो कार्यसमयसार स्वरूप है । यह कार्यरूप भाव तीर्थक्षर उपलक्षणसे सामान्य केवली अथवा सिद्धके होता है । केसे हैं तीर्थक्षर, तीन लोकके प्रक्षोभके कारण भूत तीर्थक्षरपनेके द्वारा सम्पूर्ण प्रकार निर्मल केवलज्ञान जिनको प्राप्त हुआ है । औदयिक, औपशानिक, और क्षयोपशमिक, ये भाव संसारियोंहीके होते हैं । मुक्त जीवोंके ये भाव नहीं होते । परन्तु वे चारों ही भाव कर्मोंके आवरणकी अपेक्षासे होते हैं । इसलिये ये चारों ही मुक्तिके कारण नहीं हैं । तीनों कालमें जिसको किसी प्रकारकी उपाधि नहीं है ऐसा निर्पाधि निर्जनरूप जो अपना ही शुद्ध पारिणामिक पंचम भाव है उसकी भावना करनेसे मुमुक्षुजीव मोक्षरूप पंचम गतिमें जाते हैं, जाये

होनेकी अवस्था निश्चय आती जाती है । टीकाकार कहते हैं कि

'दूरीन, ज्ञान, चरित्र, तप और दीर्घ्य ऐसे पांच आचारोंको आपराजेवाले विद्वान् लोग सर्व प्रपंचको त्याग कर एक पंचमभावर्हीको मोक्ष प्राप्त करनेकेलिये स्मरण करते हैं । और द्विती भावका ध्यान नहीं करते । सर्व पुण्यकर्मका भी भोगी जीवोंकेलिये भोगोंका मूल समझकर परमात्मवाच्यार्थी मुनि छांदू केते हैं और परम समयगाररूप सारभूत अपने तत्त्व स्वरूपको शेषागते मुक्ति प्राप्त करनेकेलिये भजते हैं इसमें कान्क्षा हाथ है । अर्थात् वही निश्चय कार्य्य है । भावार्थ—दुर्न्यास शुभ पुण्यको भी हेय समझते हैं और शुद्ध स्वरूपकी सारभूतभावनामें लब्धीन रहते हैं । यही भावना शुद्ध स्वभावके प्राप्त होनेकेलिये परम साक्षात् कारण है । इसलिये मोक्षपद हस्तुकोंको स्वस्वरूपभावना ही कर्मभ्य है ।

चतुर्गद्भवसंभ्रमणं. जाइजरामरणरौपसोहा य ।

कुलजोणिजीयमगण, ठाणा जीयस्स णी सन्ति ॥४२॥

वामान्वअर्थ—इस शुद्ध जीवके चार गतियों भ्रमण नहीं है, न इसके जन्म, जग, मरण और शोक है । तथा इसके कुल, योनि, जीवसमास और मार्गणा स्थान भी नहीं है ।

विशेष अर्थ—इस गाथामें शुद्ध निश्चयनयकी अवेशा यह कथन है कि इस शुद्ध जीवके समस्त संसारके विकार नहीं हैं । यह शुद्ध जीवात्मिकाय द्रव्य कर्म और भाव कर्मको स्वीकार नहीं करता इस कारण नरक, तिर्यक्ष, मनुष्य और देव ऐसी चार गतियोंमें भ्रमण नहीं करता । यह आत्मा नित्य शुद्ध निश्चयनद्रूप है कारण परमात्मस्वरूप है अर्थात् इसीके ही ध्यान करनेसे परमात्मा होता है । न इस जीवक द्रव्यकर्म भावकर्मके ग्रहण योग्य विभावपरिणति होती है इसलिये इसके जन्म, जग, मरण, रोग और शोक नहीं है । न इसके चार गति संबन्धी जीवोंके योग्य कुल और योनिके विकल्प हैं । कुल और योनिके भेद

हैं, दूसरी उपशम अर्थात् विशुद्धि लब्धि, तीसरी उपदेश अर्थात् देहना लब्धि, चौथी प्रायोग्य लब्धि, पंचमी करण लब्धि, क्षयोपशम सम्यक् और क्षयोपशम चास्त्र तथा संयमासंयम परिणति ये १८ भेद क्षयोपशम भावके हैं । औदयिक भाव २१ प्रकार इस भांति है—नाटक तिर्यक, मनुष्य, देव ऐसे चार गति, क्रोधमान माया लोभ ऐसे ४ कषाय। श्री, पुष्टिंग, नपुंसक ऐसे तीन लिंग, सामान्य संग्रहनयकी अपेक्षासे मिथ्या दर्शन एक, अज्ञान एक, असंयम एक, असिद्धत्व एक, शुक्ल, पद्म, पीत, कापोत, नील, कृष्ण ऐसे छः लेश्या । पारिणामिक भाव ३ प्रकार है जीवत्व पारिणामिक, भव्यत्व पारिणामिक और अभव्यत्व पारिणामिक । इनमें जीवत्व पारिणामिकभाव भव्य अभव्य दोनोंके होता है । भव्यत्वभाव भव्योंहीके और अभव्यत्व अभव्योंहीके होता है । इस प्रकार पांचप्रकार भावोंके ५३ भाव हैं । इन पांच भावोंके बीचमें क्षायिकभाव तो कार्यसमयसार स्वरूप है । यह कार्यरूप भाव तीर्थकर उपलक्षणसे सामान्य केवली अथवा सिद्धके होता है । कैसे है तीर्थकर, तीन लोकके प्रक्षोभके कारण भूत तीर्थकरपनेके द्वारा सम्पूर्ण प्रकार निर्मल केवलज्ञान जिनको प्राप्त हुआ है । औदयिक, औपशमिक, और क्षयोपशमिक, ये भाव संसारियोंहीके होते हैं । मुक्त जीवोंके ये भाव नहीं होते । परन्तु वे चारों ही भाव कर्मोंके आवरणकी अपेक्षासे हांते हैं । इसलिये ये चारों ही मुक्तिके कारण नहीं हैं । तीनों कालमें जिसको किसी प्रकारकी उपाधि नहीं है ऐसा निरुपाधि निरंजनरूप जो अपना ही शुद्ध पारिणामिक पंचम भाव है उसहीकी भावना करनेसे मुमुक्षुजीव मोक्षरूप पंचम गतिमें जाते हैं, जादवे और गए हैं । भावार्थ—यहा शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षासे कथन है । जब मुमुक्षु अपने निर्विकल्प शुद्ध स्वभावका अनुभव करता है तब ही कर्मबध शिथिल होते हैं तथा उनकी निर्जरा होती है । और आत्माकी मोक्ष होनेकी अवस्था निकट आती जाती है । टीकाकार कहते हैं कि



“दर्शन, ज्ञान, चरित्र, तप और वीर्य्य ऐसे पांच आचारोंको आचरणेवाले विद्वान् लोग सर्व प्रपंचको त्याग कर एक पंचमभावहीको मोक्ष प्राप्त करनेकेलिये स्मरण करते है । और किसी भावका मनन नहीं करते । सर्व पुण्यकर्मको भी भोगी जीवोंकेलिये भोगोंका मूल समझकर परमतरवाभ्यासी मुनि छोड़ देते हैं और परम समयसाररूप सारभूत अपने तत्त्व स्वरूपको संसारसे मुक्ति प्राप्त करनेकेलिये भजते है इसमें कानसा दोष है । अर्थात् वही निर्दोष कार्य्य है ” । भावार्थ—सुनीश शुभ पुण्यको भी हेय समझते हैं और शुद्ध स्वरूपकी सारभूतभावनामें लवटीन रहते है । यही भावना शुद्ध स्वभावके प्रगट होनेकेलिये परम साक्षात् कारण है ॥ इसलिये मोक्षपद इच्छुकोंको स्वस्वरूपभावना ही कर्तव्य है ।

चतुर्गद्भवसंभ्रमणं, जाइजरामरणरोयसोका य ।

कुलजोणिजीवमग्गण, ठाणा जीवस्स णो सन्ति ॥४२॥

सामान्यअर्थ—इस शुद्ध जीवके चार गतिमें भ्रमण नहीं है, न इनके जन्म, जरा, मरण और शोक है । तथा इसके कुल, योनि, जीवममास और मार्गणा स्थान भी नहीं हैं ।

विशेष अर्थ—इस गायामें शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा यह कथन है कि इस शुद्ध जीवके समस्त संसारके विकार नहीं हैं । यह शुद्ध जीवास्तिकाय द्रव्य कर्म और भाव कर्मको स्वीकार नहीं करता इस कारण नरक, तिर्य्यक्ष, मनुष्य और देव ऐसी चार गतियोंमें भ्रमण नहीं करता । यह आत्मा नित्य शुद्ध चिदानंदरूप है कारण परमात्मस्वरूप है अर्थात् इमीके ही ध्यान करनेसे परमात्मा होता है । न इस जीवके द्रव्यकर्म भावकर्मके ग्रहण योग्य विभावपरिणति होती है इसलिये इसके जन्म, जरा, मरण, रोग और शोक नहीं है । न इसके चार गति सबन्धी जीवोंके योग्य कुल और योनिके विकल्प हैं । कुल और योनिके भेद

कहते हैं—पृथ्वीकायिक जीवोंके बाईसलाख कोड़ कुल हैं। जलकायिक जीवोंके सात लाख कोड़ कुल हैं। तेजकायिक जीवोंके तीनलाख कोड़ कुल हैं। वायुकायिक जीवोंके सात लाख कोड़ कुल हैं वनस्पतिकायिक जीवोंके अठ्ठाईस लाख कोड़ कुल हैं। द्वान्द्रिय जीवोंके सातलाख कोड़ कुल हैं, तन्न्द्रिय जीवोंके आठलाख कोड़ कुल हैं। चोन्द्रिय जीवोंके नौलाख कोड़ कुल हैं, पंचेन्द्रियोंमें जलचर जीवोंके साढ़े बारह लाख कोड़ कुल हैं, आकाशचारी पक्षियोंके बारह लाख कोड़ कुल हैं। चार पैर वाले पशुओंके दस लाख कोड़ कुल हैं, सरीसर्पोंके नौ लाख कोड़ कुल हैं, नारकियोंके पच्चीस लाख कोड़ कुल हैं। मनुष्योंके बारह लाख कोड़ कुल हैं, देवोंके छब्बीस लाख कोड़ कुल हैं, सर्व मिथके एकसौ साठे सत्तानवे लाख कोड़ कुल हैं . . . . . योनियोंके भेद कहते हैं—

जलकायिक जीवोंके सात लाख योनिमुक्त हैं। तेजकायिक जीवोंके सात लाख योनिमुक्त हैं। वायुकायिक जीवोंके सात लाख योनिमुक्त हैं। निम्ब निगोद जीवोंके सात लाख योनिमुक्त हैं। चतुर्गति निगोद जीवोंके सात लाख योनिमुक्त हैं। वनस्पति कायिक जीवोंके दस लाख योनिमुक्त हैं। द्वेन्द्रिय जीवोंके दो लाख योनिमुक्त हैं। तन्न्द्रिय जीवोंके दो लाख योनिमुक्त हैं। चोन्द्रिय जीवोंके दो लाख योनिमुक्त हैं, देवोंके चार लाख योनिमुक्त हैं। नारकियोंके चार लाख योनिमुक्त हैं। विष्वक् पंचेन्द्रियोंके चार लाख योनिमुक्त हैं। मनुष्योंके चौदह लाख योनिमुक्त हैं। स्थूल एकेन्द्री, सूक्ष्म एकेन्द्री, संज्ञी पंचेन्द्री, असंज्ञी पंचेन्द्री, द्वीन्द्रिय, तन्न्द्रिय, चोन्द्रिय, यह सात प्रकारके जीव पर्याय और अवयवोंके भेदसे चौदह प्रकार होते हैं। इनहींको १५ जीव समाप्त कहते हैं। गति, इन्द्रिय, काय, याग, वेद, कथाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, देश्य, भय्य, सम्यक्, सज्ञा, आहारक ऐंम १५ प्रकार मार्गनास्थान हैं। इन समाप्त मार्गनास्थान आदिका स्वरूप श्रीगोमयुधारणुं जानना योग्य

है । श्रीभगवान् सूत्रकार श्रीबुंदूकुदाध्याप्यजीका यह अभिप्राय है कि शुद्ध निश्चय नयकरके उस भगवान् परमात्मा अर्थात् शुद्ध जीवास्ति-  
 कायके यह कुल पानि, समास, मार्गना आदि कोई स्थान नहीं है । ऐसा ही श्रीभूमतचंद्र सुरिने कहा है । “ सर्व ही चैतन्य शक्तिसे स्राटी जो पदार्थ है उनको इस समय त्यागकर तथा प्रगटरूप अपनी चैतन्य मात्र शक्तिमें प्रवेशकरके जगतके साक्षात् ऊपर ऊपर रहनेवाले अंत र-  
 हित आत्माको अपने आत्माकेबिषय यह परमात्मा अर्थात् महान आत्मा अनुभव करे । चैतन्य शक्तिसे व्याप्त सर्वका सारभूत यह आत्मा है, यह इतना ही है इसके सिवाय अन्य सर्व ही भाव पुत्रल सम्बन्धी है ।  
 भाषार्थ—चैतन्य शक्तिका पुंज यह आत्मा ही है जगतमें रहते हुए भी जगतके पदार्थोंसे भिन्न है । इसलिये इस शुद्ध आत्माका अनुभव कार्यकारी है । टीकाकार कहते हैं कि “ यह आत्मा जो निरंतर ऐसी भावना करे कि मैं अखंड ज्ञानरूप हूँ तो भयानक संसारसम्बन्धी विकल्पको दूर करता है । और निर्विकल्प समाधिको प्राप्त करके सत्ता मात्र रहकर पर परणमनसे दूर तुलना रहित और पापवर्जित अवस्थाको प्राप्त करता है ॥ इसप्रकार श्रीवीरनाथ तीर्थीकरसे पापमुक्त्यर्थी अधकारका धात करनेको प्रवीण तथा जन्म जरा मरणका नाशक ऐसा उपदेश समझकर सत्य और शीलके जहाज जो सन्तपुरुष सो संसार समुद्रके अगले तटको पहुँच जाते हैं । कैसे है वीरनाथस्वामी, जिनके चरणारविन्द भक्तिसे भरे इन्द्रोके मुकुटोंकी सत रत्नमालाओंसे पूजनीक है ” ।  
 भाषार्थ—श्रीवर्द्धमानस्वामीका यही उपदेश है जो संसारके विकल्प दूरकर आत्मानुभव करे—इस उपदेशको मानकर चलनेवाले जीव अवश्य मुक्तिके भोगी होते हैं ।

फिर भी कहते हैं:—

णिदंती णिद्वंद्वो, णिम्ममो णिकलो णिरालंबो ।

णीरागो णिपोसो, णिम्मूढो णिम्भयो अप्पा ॥ ४३ ॥

सामान्यअर्थ—वह शुद्ध आत्मा ब्रह्म रहित है, द्वन्द्व रहित है, ममकार रहित है, शरीर रहित है, आलम्ब रहित है, राग रहित है, द्वेष रहित है, मूढ़ता रहित है तथा भय रहित है, निश्चयकरके ऐसा जानो ।

विशेषअर्थ—इस गायामें कहते हैं कि शुद्ध आत्माके समस्त विना-  
वभावोंका अभाव है । मनद्वन्द्व, वचनद्वन्द्व, और कायद्वन्द्व अर्थात् मन  
वचन कायकी क्रिया और इनके योग्य द्रव्यकर्म और भावकर्तृ  
होनेके भावसे यह शुद्धआत्मा निर्द्वन्द्व है । निश्चयकरके यह शुद्ध  
आत्मा ही परमपदार्थ है सर्व अन्य पदार्थोंसे रहित है, इसकारण नि-  
द्वन्द्व है । न इस आत्माके शुभ तथा अशुभ समस्त मोह राग द्वेष हैं,  
इनके अभाव होनेसे यह आत्मा ममकार रहित निर्मम है । निश्चयकरके  
औदारिक, वैकियिक, आहारक, तेजस, कामांग इन पाँच शक्तिसे  
रहित होनेसे यह आत्मा निःकृत् अर्थात् अशरीर है । निश्चयकरके उस  
परमात्माके परद्रव्यका कोई आलम्ब अर्थात् सहारा नहीं है । इसलिये  
वह निरालम्ब है । मिथ्यात्व, वेद, राग, द्वेष, हास्य, रति, जर्षि,  
शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ इत्येक प्रकार चोदह  
प्रकारका अभ्यन्तगपरिग्रह उस प्रभुके नहीं है । इसलिये वह शुद्ध  
आत्मा नीराग है । निश्चयकरके सम्पूर्ण पाप मलकलंकरूपी कीबडसे  
रहित सामर्थवान् स्वाभाविक परमवीतरागरूप सुख समुद्रके मध्य द्वीप  
हुई प्रगट सहज आत्माकी अवस्था होनेके कारण वह शुद्ध आत्मा स्वाभ-  
विक ज्ञानरूप शरीरके धारनेसे पवित्र है इसलिये वह आत्मा निर्द्वेष  
है । स्वाभाविक निश्चयनयके बलसे स्वाभाविक ज्ञान, स्वाभाविक  
दर्शन, स्वाभाविक चरित्र तथा स्वाभाविक परमवीतराग नुस्त्र आदि  
अनेक परमधर्मोंको धारण करनेवाला ऐसा जो निज उत्कृष्ट तत्व उसके  
जाननेको शक्तिमान है इस कारण वह शुद्ध आत्मा निर्मूढ़ अर्थात् मूढ़ता

रहित है । अथवा निर्मूढ़के स्थानमें निर्गूढ़ शब्द भी है इसलिये कहते हैं कि आदि सहित परन्तु अंतररहित अमूर्तीक अतीन्द्रिय स्वभावरूप होनेसे शुद्ध सद्भूत व्यवहार नयके बलसे वह आत्मा भूतभविष्य वर्तमान त्रिकाळ सम्बन्धी तीनटोकवर्ती समस्त ज्ञान स्थावर जीवोंको, वचर अचर पदार्थोंको तथा उनके सम्पूर्ण गुण और पर्यायोंको एक ही समयमें जाननेको शक्तिमान जो सम्पूर्णतया निर्मल केवल ज्ञानरूप अवस्था उसको धारण करनेवाला है, इसकारण वह शुद्ध आत्मा निर्गूढ़ अर्थात् कोई बात जिससे छिपी नहीं है ऐसा है । तथा जो आत्मा सर्व पापरूप धैरियोंकी संनासे किसीप्रकार भी प्रवेश योग्य नहीं है, ऐसे शुद्ध निज आत्म तत्त्वरूप महान दुर्ग अर्थात् किलेमें बसनेके कारण निर्भय अर्थात् भयरहित है । भावार्थ—जो दुःप्रवेश दुर्गमें बसे जहाँ कोई शत्रु घुस नहीं सके उसको किस बातका भय । ऊपर कहे हुए विशेषणों सहित जो शुद्ध आत्मा है सो ही उपादेय है—अनुभव करनेके योग्य है । ऐसाही श्रीअमृतदासि नाम ग्रन्थमें कहा है—“वह शुद्ध आत्मा अ आ आदि स्वर समूह व विसर्ग व क स आदि व्यंजन ऐसे अक्षरोंसे रहित है, स्वहितदानसे रहित अविनाशी मुक्तरूप है, उसके पच रस, अंधकार, रूप, स्पर्श, गंध, जल, वायु, पृथ्वी अग्नि आदिके अणु और स्थूल रूप तथा दिशाओंके चक नहीं हैं ।” टीकाकार कहते हैं वह समयसार, अर्थात् शुद्ध आत्मा क्षीप्र ही हमारी रक्षा करे । कैसा है वह समयसार, जो पापरूपी वनके काटनेके लिये कुठारके समान है । जो दुष्ट कमोकी विजयको प्राप्त कर चुका है, पररूप परिणमन करनेमें दूर है । रागरूपी समुद्रको जिसने सोस लिया है । नानाप्रकारके विकार अर्थात् विभावभाव उनको जिसने नाश कर डाले हैं, जो सत्य आनन्दरूपी समुद्र है तथा जिसने कामदेवको जस्त कर दिया है । वह परमतत्त्व जयवन्त हैं । जो आत्मतत्त्वमें तत्त्वीन पद्मप्रभमुनिके हृदय कमलमें विराजित हैं । जो विकार रहित हैं, नानाप्रकार विकल्पोंका

नाश करनेवाला है तथा जो कल्पनामात्र अर्थात् देखनेमात्र सुन्दर ऐसे भवभवके मुक्त कुरांसे रहित है, बुद्धिमान आचार्योंने जिस परमतत्वका ऐसाही स्वरूप कहा है। हे भव्यजीव यदि भव्यतारूपीभावने तुझको प्रेरित किया है तो तू संसारसे मुक्ति प्राप्त करनेकेलिये ऐसे ही जन्माका भजन कर, जो रात्रिदिन अपने अनंत ज्ञानके आर्धन है। जो स्वाभाविक गुणरूपी रत्नोंकी खानि है, जो सर्वतत्त्वोंमें सार है तथा आत्मिक परिणतिसे उत्पन्न सुखरूपी समुद्रमें मग्न है। हे यती जो तू संसार और भोगोंसे उदास है तथा निज आत्मामें अपनी बुद्धि धारनेवाला है तो तू संसारके कारण कर्मवधको नाश करनेवाला जो यह आत्मिक पद है उसीका भजन कर। विनाश होनेवाली वस्तुकी चिंता करनेसे तुझको क्या लाभ होगा? मैं उस समयसार अर्थात् शुद्ध आत्माको समतारसरूपी जलसे सदा पूजता हूँ, जो समयसार परमात्मा आकुलताररहित है, अपने गुणोंसे अच्युत अर्थात् दृढ़ है, जन्म मरण रोगादिसे रहित है तथा स्वाभाविक निर्मल आनन्दरूपी अमृतका घर है। पूर्व सूत्रकार आचार्योंने जैसा आत्मतत्वका वर्णन किया है ऐसा ही निज आत्म तत्वको अपने स्वसंबेदनज्ञानके द्वारा विशुद्धरूप जानकरके तथा अनुभवकरके जो कोई भव्यजीव मुक्तिको प्राप्त करता है उस शुद्ध आत्माको मैं उन्नम सुखकी प्राप्तिकेलिये निरन्तर भाता हूँ, अर्थात् मनन करता हूँ। जो भव्यजीव इस लोकमें परमात्मतत्वकी भावनामें अपने आत्माको परिणमन करता है वह भव भवके कुरांसे दूर होकर सिद्ध अवस्थाको प्राप्त करता है। कैसा है वह परमात्मतत्त्व, जो आदि अंतरहित, पापमुक्त, निर्द्वंद्व अक्षय अत्यंत विशाल और ज्ञेयज्ञान है। भावार्थ—सर्व भावोंको भेटकर एक शुद्धस्वभावकी भावनेकी शक्तिभारी है।

फिर भी उसीका स्वरूप कहते हैं:-

णिग्गंधो णीरागो, णिस्सल्लो सयलदोसणिम्मुक्को ।

णिक्कामो णिक्कीहो, णिम्माणो णिम्मदो अप्पा ॥४४॥

सामान्य अर्थ—वह शुद्ध जीवास्तिकाय निर्मन्थ है वातराग है । निःशल्य है, सर्व दोंपरहित है, कामरहित, शोधराहित तथा मान और मदरहित है ।

विशेष अर्थ—इस गाथामें भी शुद्ध जीवका स्वरूप कहा है । वह आत्मा बाह्य और अभ्यंतर २४ प्रकारके परिग्रहरहित है इससे निर्मन्थ है, सम्पूर्ण मोह रागद्वेषमयी चेतनकर्मके अभावसे नीराग है, निदान, माया, और मिथ्यात्व ऐसे तीन शल्यरहित निःशल्य है, शुद्ध निश्चयकरके शुद्ध जीवास्तिकायके द्रव्यकर्म और नांकर्म नहीं है इससे सर्व शोषसे रहित है । शुद्ध निश्चयकरके अपने परम तन्त्रमें भी बाँटाके न होनेसे निःकाम है । निश्चयकरके शुभ अशुभ सर्व परद्रव्यकी परिणतिके न होनेसे निःक्रोध है, क्योंकि परद्रव्यका सम्बन्ध ही क्रोधका कारण है । निश्चयकरके सदा परम समनारसमयी है इससे मानका अभावरूप निर्मान है । निश्चयकरके अपने आत्मभावमें पूर्णपने तीन होनेके कारण मदरहित निर्मद है । इस प्रकार विशेषकरके शुद्ध सहजासिद्ध अविनाशी निज कारणसमयसारका स्वरूप कहा है अर्थात् जिस स्वरूपके मनन करनेसे समयसारता प्राप्त होती है इसकारण वही स्वरूप उपादेय अर्थात् ग्रहणयोग्य है । ऐसीही धीअमृतचंद्रसूरिने कहा है:-सुखिर कालसे पर परिणतिके छेदसे तथा कर्त्त कर्म आदि भेदकी भाँतिके नाश होनेसे जिसने शुद्धात्मतत्त्वको प्राप्त किया है तथा जो चेतन सत्य चिन्मात्र प्रत्यक्ष ज्योतिमें मूर्तित है उसकी स्वाभाविक उदयरूपमहिमा सर्वदा मेरेको मुक्त करनेकेलिये स्थित रहे अर्थात् कायम रहे । टीकाकार कहते हैं कि जिसने ज्ञान ज्योतिके द्वारा पाप-

अंधकारके समूहको नाश कर डाला है, जो नित्य आनंद भादि अनुल महिमाका धारी है, जो सदा ही मूर्तिकरके रहित है, जो अपने स्वभावमें निश्चल रहनेके कारण अपने शुद्ध स्वभावका मूल है, जो भवभयको हरनेवाला मोक्षरूप लक्ष्मीका स्वामी है उसको मैं वन्दना करता हूँ।

आगे कहते हैं कि कारण परमात्माके पुद्गलद्रव्य सम्बन्धी कोई विकार नहीं है:-

वण्णरसगंधफासा, थीपुंसणओसयादिपज्जाया ।  
 संठाणा संहणणा, सव्वे जीवस्स णो संति ॥ ४५ ॥  
 अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेदणागुणमसई ।  
 जाण अलिंगग्गहणं, जीवमणिद्धिसंठाणं ॥ ४६ ॥

सामान्य अर्थ—उस शुद्ध जीवास्तिकायके वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, पुरुष, नपुंसक पर्याय, उः संस्थान, उः संहनन नहीं हैं। इस आत्मा रसरहित, रूपरहित, गंधरहित है। इन्द्रियों द्वारा प्रगट नहीं है। चेतना गुणवान है, शब्दरहित है, किसी चिन्ह व आकारसे ग्रहण निर्देश करनेयोग्य नहीं है।

विशेष अर्थ—इन दो गाथाओंमें कहा है कि परम स्वभावधारी कारण परमात्माके पुद्गलद्रव्य सम्बन्धी कोई भी विकार नहीं है। निश्चयनयकरके उस शुद्धआत्माके पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध, अत्र स्पर्श, थी, पुरुष, नपुंसक विभावरूप विजातीय व्यंगनपर्याय, कुञ्जक आदि उ संस्थान, वज्ररूपभ नाराच आदि उः संहनन नहीं है। पर सर्व पुद्गलोंके ही होते हैं जीवोंके नहीं। सत्तागी अरस्यामें सत्तागी जीवोंके स्थावर नामा नामकर्मके उदयसे एकैन्द्रियोंके कर्म फल चेतना होती है, वस नामा नामकर्मके उदयसे वस जीवोंके कार्यसहित कर्म चेतना होती है। कार्यकर परमात्मा तथा कारणकर परमात्माके शुद्धज्ञान चेतना होती है। इस कारण कार्य समयभार वा कारण समयभारके जो शुद्धद्रव्य



चेतना होती है वह स्वभावरूप तथा स्वाभाविक फलरूप है । अतएव हे शिष्य, तुम सहज शुद्ध ज्ञान चेतनारूप आत्माको अर्थात् निज कारण परमात्माको ससार अवस्था वा मुक्तरूप अवस्थामें सर्वदा एकरूप उपादेय है, ऐसा जानो । भावार्थ—कर्मफल चेतना, और कर्म चेतनाके भावोंको त्यागकर शुद्ध ज्ञान चेतनाके ही भाव सदा कर्तव्य है । ऐसाही एकचक्षुस-सतिमें कहा है—“ आत्मा भिन्न है वैसे ही उसकेसाथ रही हुई नोकर्म दूह भिन्न है तथा द्रव्यकर्म भिन्न है, कर्म और आत्माकी निकटतास जो विकार होता है वह विकार भी शुद्ध आत्मासे भिन्न है । काल, क्षेत्र आदि जो कुछ परद्रव्य हैं सो सर्व मेरे आत्मस्वरूपसे भिन्न हैं । सर्व ही द्रव्य अपने अपने गुण कटासे शोभित रहकरके भिन्न भिन्न ही रहने हैं ” गीताकार कहते हैं कि “ आत्माके साथ बंध होवे व न होवे शुद्ध जीवके स्वरूपस समस्त ही मूर्तीक द्रव्योंका विचित्र जाल भिन्न है पृथक है । यह श्रीजिनेन्द्रका शब्द बचन है । आचार्योंने भी ऐसाही कहा है । यही इस भुवनमें प्रगट भी है । हेतू भव्य नित्य ऐसा ही समस्त ’ । भावार्थ—सर्व परद्रव्यजनित विकारोंको अपने शुद्ध स्वरूपसे अलग अनुभव कर, परमात्मस्वभावक मननकरनेका अभ्यास करना योग्य है ।

आगे संसारी और मुक्तजीवोंकी समानता बताते हैं —

जारिसिया सिद्धप्पा, भयमल्लिय जीव तारिसा होंति ।

जरमरणजम्ममुक्ता, अटगुणाटकिया जेण ॥ ५७ ॥

सामान्य अर्थ—जैसे सिद्ध आत्मा है वैसे ही ससारमें लीन जीव हैं । जैसे हैं सिद्ध, जरा मरण और जन्मसे रहित हैं तथा अटगुणसे शोभायमान हैं ।

विशेष अर्थ—शुद्ध द्रव्यार्थिक नयके अभिप्रायसे संसारी और मुक्तजीवोंमें कोई अंतर नहीं है यह बात इस गाथामें बहते है । वा कोई अत्यन्त निकट भव्यजीव हैं वे प्रथम संसार अवस्थामें संसारके

अंधकारके समूहको नाश कर डाला है, जो नित्य आनंद आदि अतुल महिमाका धारी है, जो सदा ही मूर्तिकरके रहित है, जो अपने स्वभावमें निश्चल रहनेके कारण अपने शुद्ध स्वभावका मूल है, जो भवमयको हरनेवाला मोक्षरूप लक्ष्मीका स्वामी है उसको मैं वन्दना करता हूँ।

आगे कहते हैं कि कारण परमात्माके पुद्गलद्रव्य सम्बन्धी कोई विकार नहीं है:-

वण्णरसगंधफासा, थीपुंसणओसयादिपज्जाया ।

संठाणा संहणणा, सव्वे जीवस्स णो संति ॥ ४५ ॥

अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेदणागुणमसईं ।

जाण अलिंगग्गहणं, जीवमणिद्विदसंठाणं ॥ ४६ ॥

सामान्य अर्थ—उस शुद्ध जीवास्तिकायके वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, स्त्री, पुरुष, नपुंसक पर्याय, छः संस्थान, छः संहनन नहीं हैं। इस आत्मा रसरहित, रूपरहित, गंधरहित है। इन्द्रियों द्वारा प्राप्त नहीं है चेतना गुणवान है, शुद्धरहित है, किसी चिन्ह व आकारसे ग्रहण व निर्वेश करनेयोग्य नहीं है।

विशेष अर्थ—इन दो गाथाओंमें कहा है कि परम स्वभावधारी कारण परमात्माके पुद्गलद्रव्य सम्बन्धी कोई भी विकार नहीं है। निश्चयनयकरके उस शुद्धआत्माके पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध, आठ स्पर्श, स्त्री, पुरुष, नपुंसक विभावरूप विजातीय व्यंजनपर्याय, कुञ्जक आदि छः संस्थान, ब्रह्मवृषभ माराच आदि छः संहनन नहीं हैं। यह सर्व पुद्गलोंके ही होते हैं जीवोंके नहीं। ससारी अवस्थामें संसारी जीवोंके स्थावर नामा नामकर्मके उदयसे एकैन्द्रियोंके कर्म फल चेतना होती है, वस नामा नामकर्मके उदयसे वस जीवोंके कार्यसहित कर्म चेतना होती है। कार्यरूप परमात्मा तथा कारणरूप परमात्माके शुद्धज्ञान धेतन्य होती है। इसकारण कार्य समयकार वा कारण समयसारके जो शुद्धज्ञान

विशेष अर्थ—इस गायामें कार्य्य समयसार और कारण समयसारके भेदके अभावको दिसाया है । निश्चयकरके जैसे सिद्ध भगवान् औदारिक आदि पांच शरीरोंसे रहित अशरीर हैं, नरनारक आदि पर्यायके त्याग और ग्रहणके अभावसे अविनाशी हैं, एक समयमें भी परम-आत्मीकतत्त्वके स्थिरभूत ऐसे स्वाभाविक दर्शन आदि तथा कारण-मई शुद्ध स्वरूपके जाननेमें समर्थ ऐसी स्वाभाविक ज्ञान ज्योतिकरके सर्व संशयोंको हटा देनेसे अतीन्द्रिय हैं अर्थात् इन्द्रियोंसे अवलम्बन रहित हैं । मल अर्थात् अतीचार उनको उत्पन्न करनेवाले क्षयोपशम आदि विभावस्वभावोंके अभावसे निर्मल हैं, तथा द्रव्यकर्म ज्ञानवरणादिक और भावकर्म रागद्वेषादिक इनके अभावसे विशुद्धात्मा है, एमं सिद्ध भगवान् परमेष्ठी लोकके अग्रभाग तनुत्रातवलयमें विराजमान है । वैसे ही इस संसारमें शुद्ध निश्चयसे समस्त संसारी जीव शुद्धरूप अवस्थामें शोभायमान हैं । भावार्थ—जबतक यह जीव वस्तुके यथार्थ स्वरूपको नहीं पहचानता तबतक वस्तुकी प्राप्ति नहीं करसकता । इसलिये स्वहित वांछक जीवको शुद्ध निश्चयसे सदा ही अपने शुद्धरूपका मनन करना चाहिये । टीकाकार कहते हैं “ कि जो जीव नित्य शुद्ध अशुद्ध विकल्पोंमें लवलीन है उस मिथ्यादृष्टिके नित्य यह भ्रम है कि कारण और कार्य दोनों ही तत्त्व शुद्ध हैं । अर्थात् जिसके ध्यान करनेसे स्वरूपशुद्धीरूप साध्यकी सिद्धि करना है वह साधन भी शुद्ध परमात्माका भाव है तथा उसका साध्य भी शुद्ध परमात्मा है क्योंकि उपादान कारणके सदृश ही कार्य्य होता है तथा जो कोई सार और असारके विचार करनेमें सुन्दर ऐसी अपनी बुद्धिकरके इस अतुल अनुपम परमागमके अर्थको समझता है वही सम्यग्दृष्टी है । हम उसको बन्दना करते हैं ।

आगे दोनों नयोंकी सफलता करते हैं:-

एदे सद्ये भावा, वयहारणयं पडुच्च भणिदा ह ।

सद्ये सिद्धसहाया, शुद्धणया संसिदी जीया ॥ ४९ ॥

नि. वा. ५

कृपांमि मन्त्रेन हृत् ओं क्रि र भ्यमारभे ही वैगम्यमे लीन हृत् तथा इत्य-  
 लिंग धार मायत्रिंशी मुनि होइ जिन्होंने परमगुरुके प्रसादसे परमात्मके  
 अभ्यास किया और ध्यानके बलसे कमोडो नाशकर सिद्धदेवको प्राप्त  
 किया और बाधारहित सम्पूर्ण प्रकारसे निर्मल केवलज्ञान, केवल दर्शन  
 केवल मुक्त, केवल वीर्यमें युक्त होकर सिद्धात्मा अर्थात् कार्यसनकता-  
 रूप होगए अर्थात् कार्य्य शुद्ध भए। शुद्ध परमात्मा ध्यान अवस्थानमें कार्य  
 समयसार है वही ध्यानके फलमें कार्य्यरूप समयसार होता है।  
 भावार्थ—ज्ञानी जो उमीके ध्यानके बलसे उस सदृश हो जाता है।  
 यह सिद्ध जैम शुद्ध हैं वैसे ही शुद्धनिश्चयनयकरके भव्यजीव भी शुद्ध हैं।  
 जैसे सिद्ध जन्म जरा मरणकरके रहित हैं और सम्यक्दर्शन, अनंत ज्ञान,  
 अनंत दर्शन, अनंत वीर्य, मुश्मत्त्व, अवगाहना, अगुरुलघु, अज्वाज्व  
 ऐसे आठ गुणसे सहित हैं ऐसे ही शुद्ध निश्चय करके वे भव्यजीव भी हैं,  
 शुद्ध निश्चयनय पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको प्रतिपादन करनेवाली हैं।  
 इसलिये इसकी अपेक्षासे मोक्ष प्राप्त और मुक्त होने योग्य सारी  
 भव्यात्माओंके मध्यमें कोई अंतर नहीं है। भावार्थ—ज्ञानीको निज स्व-  
 परीको शुद्ध सिद्ध सदृश ध्यान करना योग्य है। टीकाकार कहते हैं कि  
 “जिन सिद्ध और संसारी भव्यजीवोंमें पूर्वहीसे शुद्धता विद्यमान है  
 तब हम किस नयसे उनके भेदको जाने”। भावार्थ—शुद्ध निश्चय-  
 नयसे दोनोंका स्वरूप एक है, यद्यपि व्यवहारनयसे भेद है।

फिर भी अभेदभावको दिसाते हैं:—

असरीरा अविणासा, अणिंदिया णिम्मला विसुद्धया।  
 जह लीयग्गे सिद्धा, तह जीवा संसिदी णेया ॥ ४८॥

सामान्य अर्थ—जैसे श्रीसिद्ध महाराज शरीररहित अविनाशी,  
 निर्मल, विशुद्ध स्वरूपवान होकर इस लोकके अग्रभागमें विराजमान हैं  
 वैसे ही इस संसारमें सर्व जीवोंको निश्चयकरके जानना चाहिये।

शुद्ध निश्चय नष्टके षट्सं सर्वं हेय अर्थात् त्यागने योग्य है । क्योंकि वे परस्परभाव हैं, अतएव पर द्रव्य है आत्माका स्वद्रव्य नहीं है । तथा सब विभाव गुण और पर्यायोंसं रहित जो शुद्ध अंतरंग तत्त्व स्वरूप जो अपना आत्म द्रव्य है सो ही प्रवृत्त करने योग्य है । क्योंकि यह आत्मा निश्चयसं स्वाभाविक गान स्वाभाविक दर्शन स्वाभाविक चाग्रि और स्वाभाविक परमै वातगत सुखमई शुद्ध अंतरंग तत्त्व रचनाका आधार है । और यही स्वाभाविक परम पारिणामिक भाव है लक्षण जिसका ऐसा कारण सम्यक्सार है ।

ऐसा ही श्री अद्भुतचंद्रसूरिने कहा है:-निर्मल भावमें चलनेवाले मोक्ष चाहनेवाले पुरुषोंको इसी सिद्धान्तकी सेवा भक्ति करनी चाहिये कि मैं सदा शुद्ध चैतन्यरूप एक परमज्योति स्वरूप हूँ । तथा जो ये माना प्रकारके भाव विभटाई पढ़ते हैं वे मुझसे भिन्न लक्षणके धारी हैं । न मैं उन रूप हूँ और न वे मेरे स्वरूप हैं क्योंकि वे सर्व ही पर द्रव्य हैं टीकाकार कहते हैं कि " जो तत्त्ववैरी प्रगटरूपसं ऐसा कहता है कि मैं शुद्ध जीवास्तिकाय हूँ तथा अन्य सर्व भाव पुट्टल द्रव्यके भाव हैं वही अपूर्व सिद्ध अवस्थाको प्राप्त करता है "।

आगे राजप्रयका स्वरूप कहते हैं -

विविरीयाभिणियेसवि, -यज्जियसहहणमेव सम्मत्तं ।

संसयविमोहविन्ममवि, -यज्जियं हादि सण्णाणं ५१

चलमलिणमगाढत्त, -विवज्जियसहहणमेव सम्मत्तं ।

अधिगमभावे णाणं, हेयोपांदयतच्चाणं ॥ ५२ ॥

सम्मत्तस्स णिमित्तं, जिणसुत्तं तस्य जाणया पुरिसा ।

अंतरहेयां भणिदा, वंसणमोहस्स सपपहुदी ॥ ५३ ॥

सामान्य अर्थ—य सारे जी भाव अद्वयता नयने इहे गए हैं । शुद्ध निश्चयमे इस समासके अन्तर्गत सारे ही जीव सिद्ध भगवानके समान शुद्ध हैं ।

विशेषार्थ—इस गाथामें निश्चय नय और अद्वयता नयही उल्लेखित न गयाने हैं । जो पूरे गाथामें ज्ञान सिद्धता के ये सब भाव शुद्ध नयने संसारी जीवोंके नहीं हैं परन्तु ये सारे विभाव भाव और विभाव पर्याय व्यापार नयने जीवोंके विद्यमान हैं । परन्तु शुद्ध नयके द्वारा ऐसा कहा जायगा कि जो भौद्विक आदि चार भाव समास आस्थाने जीवोंके हैं वे ही भाव उन संसारी जीवोंके नहीं हैं वे संसारी जीव भी भगवान सिद्धोंके शुद्ध गुण और पर्यायों समान शुद्ध गुण और पर्यायधारी हैं । ऐसा ही श्री भ्रमूनर्थ्य आचार्योंने कहा है—चरनेवाले जीवोंके लिये यह व्यापारनय हस्तावृत्त्यन रूप है अर्थात् हाथसे सहता दिये जानेके समान है तथा सम्पूर्ण पर पदार्थोंमें रहित चैतन्यके चन्तकारभाव अपने उत्पृष्ट पदार्थोंके अपने अंतर्गमने देखनेवालोंके लिये यह व्यवहार नय कोई चीज नहीं है । टीकाकार कहते हैं “ निश्चयकरके शुद्ध तत्वके समिक लोग तत्व विचारके भीतर ऐसा कहते हैं कि शुद्ध निश्चय नयकरके मुक्त और संसारी जीवोंमें कोई भी विशेष अर्थात् भेद नहीं है ।

पुव्वुत्तसगदभावा, परद्ववं परसहावमिदि हेयं ।

सगद्व्वमुवादेयं, अंतरतच्चं हवे अप्पा ॥ ५० ॥

सामान्य अर्थ—पहले कहे गए सम्पूर्ण ही भाव परद्वय हैं और पर स्वभाव हैं, इस कारण त्यागने योग्य हैं तथा अंतरंग तत्व जो अपना द्रव्य आत्मा सो उपादेय है ।

विशेषार्थ—इस गाथामें हेय उपादेयका कथन है । जो कोई विभाव गुण और विभाव पर्याय पहले कहीं हैं सो व्यवहारसे उपादेय हैं परन्तु

है। व्यवहार सम्यग्ज्ञान भी सशय, विमोह विभ्रमसे रहित है। देव जिनेंद्र होने चाहिये या शिव होने चाहिये ऐसा जो शंकारूप ज्ञान से सशय है। शाक्य आदिके कहे हुए पदार्थोंमें श्रद्धा होनी से विमोह है। कुछ भी निश्चय करनेकी आकांक्षा न होना से विभ्रम है। इन दोनोंसे रहित सम्यग्ज्ञान आदरणीय है। तहां जिनेन्द्र प्रणीत जो हेय और उपादेयतत्त्व हैं उनका यथार्थ ज्ञान से ही सम्यग्ज्ञान है। इस सम्यक् परिणामका बाह्य सहकारी कारण वीतराग सर्वशक्ते मुखकमलसे उदयरूप सर्व पदार्थोंके बतलानेकी समर्थ द्रव्यश्रुतरूप ही तत्त्वज्ञान है। क्योंकि उपचारसे पदार्थोंके निर्णयका कारण है। सम्यग्दर्शनके होनेमें अंतरंग कारण दर्शन मोहनीकर्मका क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम है। तथा भेदरहित और उपचाररहित निश्चय रत्नत्रयमें जो जीव परिणमन कर रहा है उस जीवके टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक स्वभावमें अपने आत्मीकतत्त्वकी जो श्रद्धा से निश्चय सम्यक है। उसी आत्मीक तत्त्वके ज्ञानरूप अंतरंगमें जो परम बोध है से ही निश्चय सम्यग्ज्ञान है उसही अपने आत्मस्वरूपमें जो निश्चय स्थितिरूप है से निश्चय स्वाभाविक चारित्र है—इन तीन अभेद रत्नत्रयके द्वारा ही जो अबतक प्राप्त नहीं हुई ऐसी अभूतपूर्व सिद्ध पर्याय उत्पन्न होती है। जो परम जिन जितेन्द्री योगीश्वर मुनि प्रथम ही पापक्रियाओंसे हटानेवाले व्यवहारनयसे जानने योग्य ऐसे व्यवहार चारित्रमें टहरते है अर्थात् व्यवहारचारित्रिक आचरण करते है। ऐसे ही योगीके व्यवहारनयसे जानने योग्य व्यवहार रूप तपश्चरण भी होता है पश्चात् निश्चय रत्नत्रयकी प्राप्तिके अवसरमें निश्चयतप होता है। सहज निश्चयनयके आश्रित परमस्वभावमई पर मात्मानमें प्रतपन अर्थात् तपना अर्थात् हृदयसे तन्मय होना से निश्चय तप है। इस तपके द्वारा ही अपने आत्माके स्वरूपमें निश्चल स्थितिरूप स्वाभाविक निश्चय चारित्र भी होता है ऐसा ही एकत्वसन्नतिमें कहा है “कि अपने आत्मस्वरूपमें निश्चय से ही सम्यग्दर्शन है, अपने आत्म-

सम्मतं सण्णाणं, विज्जदि मोक्खस्स होदि सुण चरणं ।  
 ववहारिणिच्छएण दु, तद्दमा चरणं पवक्खामि ॥५४॥  
 ववहारणयचरित्ते, ववहारणयस्स होदि तवचरणं ।  
 णिच्छयणयचारित्ते, तवचरणं होदि णिच्छयदो ॥५५॥

सामान्यअर्थ—उल्टे अभिप्रायसे रहित जो श्रद्धान है वही सम्यक् है । जो संशय, विमोह, विभ्रमसे रहित है वही सम्यग्ज्ञान है । चल, मलिन, अगाढ़ दोषोंसे रहित जो श्रद्धान है वही सम्यक् है । हेय त्यागने योग्य तथा उपादेय ग्रहण करने योग्य तत्त्वोंका जानना सो ज्ञान है । सम्यक्का निमित्त जिन सूत्र है अर्थात् जैन शास्त्रोंके द्वारा जो भाव ज्ञान होता है वही सम्यक् होनेका निमित्त है । जिन सूत्रके शायक पुरुषोंको सम्यक् होनेमें अंतरंग कारण दर्शन मोहनीका क्षय, क्षयोपशम तथा उपशम है । सम्यक् और सम्यग्ज्ञानके साथ सम्यक्चारित्रि भी मोक्षका कारण है इसलिये व्यवहार निश्चयरूप चारित्रिकों आने कहेंगा । व्यवहारनयसे व्यवहार चारित्र और तप होता है । निश्चयनयसे निश्चय चारित्र और तप होता है ।

विशेषार्थ—इन गाथाओंमें रत्नत्रयके स्वरूपका वर्णन है । भेदोपचाररूप व्यवहार रत्नत्रयमें प्रथम व्यवहार सम्यग्दर्शन विपरीत अभिप्राय रहित जीवादि सात तत्वोंका श्रद्धान रूप है । कैसा है यह श्रद्धान, जो श्रद्धान मोक्षके परम्परा कारण भगवत श्री अरहंत, सिद्ध, आचार्य्य, उपाध्याय और साधु इन पांच परमेष्ठीकी निश्चल दृढ़ भक्ति सहित है । कैसी है दृढ़भक्ति, जिसमें चल, मल, अगाढ़ ये तीन दोष नहीं हैं—इस श्रद्धानमें पंचपरमेष्ठीसे विपरीत हरिहरादिक द्वारा प्ररूपण क्रिये पदार्थोंमें श्रद्धाका अभाव है अर्थात् अन्य एकान्त धर्मोंके तत्त्वोंको एकान्त रूप अर्थात् अनेकान्त भूतार्थ पदार्थोंमें उल्टा जो श्रद्धान करना तथा मोक्षमें कारणभूत पदार्थोंको सच्चा यथार्थ श्रद्धान करना सो सम्यक्



हैं । ध्येयज्ञान सम्यग्ज्ञान भी गद्य, विमोह विभ्रमसे रहित है । देव  
जिनेन्द्र होने चाहिये या शिव होने चाहिये एसा जो शैकारूप ज्ञान से  
सम्यग् है । शायद आदिक कहे हुए पदाधोमें श्रद्धा टोनी छी विमोह है ।  
बुद्ध भी निश्चय करनेकी आकांक्षाका न होना से विभ्रम है । इन  
दोषोंसे रहित सम्यग्ज्ञान आदर्शमय है । तही जिनेन्द्र मणीव जी हेव  
और उपाख्यानसे है उनका पदार्थ ज्ञान से ही सम्यग्ज्ञान है । एत  
सम्यक् परिणामका बाह्य सहकार्य कारण अंतरात्मा सर्वज्ञके मुक्तकमलसे  
उदयरूप सब पदाधोके बतलानेको समर्थ द्रव्यभूतरूप ही तत्त्वज्ञान  
है । क्योंकि उपचारसे पदाधोके निर्णयका कारण है । सम्यग्दर्शनके  
होनेमें अंतरात्मा कारण दर्शन मोहनीकर्मका क्षय, उपहास अपवा क्षयो-  
परम है । तथा भेदरहित और उपचाररहित निश्चय रत्नत्रयमें जो जीव  
परिणामन कर रहा है उस जीवके टंकोटकीर्ण ज्ञापक एक स्वभावमें  
अपने आत्मीकरूपकी जो श्रद्धा से निश्चय सम्यक् है । उसी आत्मीक  
तत्त्वक ज्ञानरूप अंतरात्मा जो परम बोध है सो ही निश्चय सम्यग्ज्ञान है  
उसही अपने आत्मस्वरूपमें जो निश्चय स्थितिरूप है सो निश्चय स्वाभा-  
विक चारित्र है—इन तीन अभेद रत्नत्रयके द्वारा ही जो अन्तक प्राप्त  
नहीं हुई ऐसी अभूतपूर्व सिद्ध पर्याय उत्पन्न होती है । जो परम जिन  
जिनन्दी योगीश्वर मुनि प्रथम ही पापकियाओसि हटानेवाले व्यवहारनयसे  
जानने योग्य ऐसे व्यवहार चारित्रमें टहरते हैं अर्थात् व्यवहारचारित्रिका  
आचरण करते हैं । ऐसे ही योगीके व्यवहारनयसे जानने योग्य व्यवहार  
रूप तपश्चरण भी होता है पश्चात् निश्चय रत्नत्रयकी प्राप्तिके अवसरमें  
निश्चयतप होता है । सहज निश्चयनयके आश्रित परमस्वभावमें पर  
मात्मामें प्रतपन अर्थात् तपना अर्थात् दृढ़तासे तन्मय होना से निश्चय  
तप है । इस तपके द्वारा ही अपने आत्माके स्वरूपमें निश्चल स्थितिरूप  
स्वाभाविक निश्चय चारित्र भी होता है ऐसा ही एकत्वसततिमें कहा  
है “कि अपने आत्मस्वरूपमें निश्चय से ही सम्यग्दर्शन है, अपने आत्म-

हास्यका ज्ञान को ही सद्गुणज्ञान के जाने वाक्यमें स्थिति मयों उद्धान्ता श्री सद्गुरु चारित्र्य के । परी तिनो ही योग्य भवता मोक्षरुको कारण है" श्रीकाकार करने हैं । जय को उग महान आत्मज्ञानकी । पर-वृत्ति भी इमी आत्मज्ञानका ही है एगा निर्मल चारित्र्य भी निरुप इमी आत्माके ज्ञानके क्रियाका है । तब येतन्य आत्माकी धेनना कल्प-महाके मजसमूहके रक्षित मुनिवली और साधारण आत्माके तत्त्वमें स्थितिका है ॥ भाषार्थ—शुद्धमाका ही शुद्ध धेनना परदृश्य, परगुण और पर परगुणोंमें रक्षित है तथा निजकर्मों निश्चयता स्वरूप है । उची शुद्ध धेननाका निश्चय, भजान, ज्ञान और चारित्र्य निश्चय तीन स्वरूप स्वरूप मोक्षका परमपीत है । मोक्षार्थों भव्यतीरको उचिन है कि अपने आत्माको परम शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा निरुपन निरिच्छा अमृत अविनाशी सम्पूर्ण पर औपाधिक भावोंमें रक्षित अनुभव करे । पर शुद्धभावका अधिकार आत्माकी शुद्धिका परम अनुन निमित्त कारण है ॥

इसमकार मुक्तिर्योरूप कमलोंकेलिये मुख्य पंचेन्द्रियके व्यापारमें रक्षित शरीरमात्र परिसहके धारी श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ज्ञान कक्षित श्री नियमसारकी तात्पर्यवृत्ति नाम ध्यात्यामें शुद्धभावअधिकार नामका तृतीय श्रुतस्कंध सनात हुआ ॥ ३ ॥

## व्यवहारचारित्र्याधिकार ।



कुलजोणिजीवमग्गण,—ठाणाइसु जाणऊण जीवाणं ।  
तस्सारंभणियत्तण,—परिणामो होइ पहमवदं ॥ ५६ ॥

सामान्य अर्थ—कुलस्थान, योनिस्थान, जीवसमासस्थान, मार्गण-स्थान इत्यादि जीवोंके ठिकानोंको जानकरके उनमें आरंभ करनेके करनेका जो परिणाम है वही प्रथम अहिंसा मत है ।

विशेष अर्थ - इस माध्यामे अहिंसा व्रतके स्वरूपका कथन है ॥  
 कुल योनि आदिस्थानोंको पूर्व कह चुके हैं । इनके भेदोंको भले प्रकार  
 जानकर जीवोंकी रक्षा करनेका जो भाव सों अहिंसा है । जीवोंकी मृत्यु  
 होनी है व नही होनी है ऐसे विचारकी कोशिसमें तमोगुण परिणामके  
 किये बिना पाररूप हिसाई कियाका त्याग नही हो सकता । अतएव  
 इस रक्षाके प्रयत्नमें रहना ही अहिंसा व्रत है । ऐसा ही समन्तभद्र-  
 रचामीजीने कहा है अर्थात् श्रीसमन्तभद्रस्वामी अपने बृहत्संघदंभुस्तो-  
 त्रमें श्रीमुनिमुद्रनाथ स्वामीकी स्मृति करते हुए कहते हैं कि जगतमें  
 यह बात सर्वको द्रष्ट है कि यह अहिंसा ही परमव्यक्त स्वरूप है अर्थात्  
 आत्माकी वीतरागता ही अहिंसा है जहाँ ऐसी वीतरागता है वही अत्मा-  
 का शुद्ध स्वरूप है । जिस आश्रमके चारित्र्यमें अपुमात्र अर्थात् किंचित्  
 भी आरंभ नही है वही यह अहिंसा प्राप्त होनी है । भावार्थ—मुनियोंका  
 २८ मूलगुणरूप व १३ प्रकार चारित्र्यरूप जो आचरण है वही  
 अहिंसा है । इसलिये परमदयावान आपने हे प्रभु इसी अहिंसाकी सि-  
 द्धिकेलिये अंतर्ग और बाह्य २४ प्रकारके परिग्रहको बिल्कुल त्याग  
 दिया । आप विकारी भेष और परिग्रह में रत नही हो । भावार्थ—जग  
 त्रिगम्बररूप ही सच्चा अहिंसा मार्गका वेप है । इसके सिवाय अन्यवेष  
 विकारवान दोषी है । जहाँ परिग्रहमें सर्वथा मूर्छाका अभाव है वही  
 अहिंसा धर्म है ॥ टीकाकार कहते हैं—इस जिनधर्मकी जय हो जिसमें  
 ऐसी अहिंसाका पाठन है, जो अहिंसा व्रत जीव द्वेन्द्रियादिकको घात  
 करनेवाले परिणानोंको जड़ मूटसे हटानेका कारण है तथा जो पंच-  
 कायरूप एकेन्द्री स्थावर जीवोंके नानाप्रकार होनेवाले बंधसे बिल्कुल  
 दूर है—जो अहिंसा सम्पूर्ण लोकके जीव समूहको मुस देनेवाली है तथा  
 जो मुन्दर सुरसे भरपूर समुद्रके समान अगाध है ।

स्वरूपका ज्ञान सो ही सम्यग्ज्ञान है अपने स्वरूपमें स्थिति अर्थात् टहलना ही सम्यक् चारित्र है । यही तीनोंकी योगरूप अवस्था मोक्षपदको कारण है” टीकाकार कहते हैं:—जय हो उस सहज आत्मज्ञानकी । सम्यग्दृष्टि भी इसी आत्मज्ञानरूप ही है तथा निर्मल चारित्र भी नित्य इसी आत्माके ज्ञानमें क्रियारूप है । वह चैतन्य आत्माकी चेतना समस्त-प्रकारके मलसमूहसे रहित मूर्तिवती और स्वाभाविक आत्मिक तत्वमें स्थितिरूप है ॥ भावार्थ—शुद्धस्वरूपकी शुद्ध चेतना परद्रव्य, परगुण और पर पर्यायोंसे रहित है तथा निजरूपमें निश्चलता स्वरूप है । उसी शुद्ध चेतनाका निश्चय, भ्रन्दान, ज्ञान और चारित्र निश्चय तीन तन्त्रय स्वरूप मोक्षका परमबीज है । मोक्षार्थी भव्यजीवको उचित है कि अपने आत्माको परम शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा निरंजन निर्विकार अदृष्ट अविनाशी सम आर्ति . . . . .

शरीरमात्र परिग्रहके धारी श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा कथित श्री नियमसारकी तात्पर्यवृत्ति नाम व्याख्यामें शुद्धभावअधिकार नामका तृतीय श्रुतस्कंध समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

## व्यवहारचारित्राधिकार ।



कुलजोगिजीवमग्गण,—ठाणाइसु जाणऊण जीवाणं ।  
तस्सारंमणियत्तण,—परिणामो होइ पढमवद्दं ॥ ५६ ॥

सामान्य अर्थ—कुलस्थान, योनिस्थान, जीवसमासस्थान, मार्गस्थान इत्यादि जीवोंके ठिकानोंको जानकरके उनमें आरंभ करनेसे कटनेका जो परिणाम है वही प्रथम अहिंसा व्रत है ।

पदी देसकर एक उद्योग ननक परिणामको प्राप्त होता है उभी गज्जनके ही यह तीसरा अर्चोर्ष्य बन जाता है ।

**विशेषार्थ—**यस गाथामे तीसरे अर्चोर्ष्य मतवा वर्णन है । इस आ-  
दिही वाक्यका जो अर्थ हो उसको ग्रहण करते हैं । यह विशेषार्थके चार  
दशकान्तों जो शास्त्रात्मान ही उसका नाम नगर है । जहां मनुष्याका  
सामान्यमान मही हो तथा दूसरे मनुष्योंके परिपूर्ण हो उसका नाम अ-  
र्च्य अर्चोर्ष्य बन है । एते ग्रह वा नगर वा यनमें दूसरोंके द्वारा स्वर्गी दुई  
पदी दुई, वा भूमीदुई परमेश्वरोंके देवकर उसको स्वीकार करनेके भावको  
जो स्थानता है उसका ही यह तीसरा अर्चोर्ष्यवत होता है । जो  
यसु अपने परिश्रमसे किसीका कुछ कामकाके मिठे व दूता सम्मान  
से दयाकरके देवे यह यासु वास्य है—इसके विशेष कहीकी कोई धीनको  
भी लेना धीन है । गुनमान स्थानमें किसी दुई बस्तुओंपर उसका अधि-  
कार है जिसकी यह भूमि है ॥ टीकाकार कहते हैं कि यह अर्चोर्ष्य वत  
अन्यके मतका दाता है । इसके फलनकर्ताको पुण्यके उद्देश्ये अतिशय-  
रूप मनीका टर प्राप्त हो जाता है । स्वर्गके ही सुखका मूलभूत यह  
धन है और धन क्रम करके मुनिस्वी धीका संगम करने जाता है ॥

आगे शेष मतको कहें हैं—

**दृष्टं इच्छिरूपं, पांडाभायं निवचदे तासु ।**

**तेषु सण्णविषज्जिय, परिणामो अहव तुरीयवदं ॥५९॥**

**वामान्यार्थ—**जो स्वीके रूपको देवकर ही उसके भीतर अपनी इच्छा  
निरूप्य भावको हटाता है तथा मैथुन संज्ञासे रहित अपने परिणामोंको  
करता है उसाके ही यह चौथा वत मैथुन संज्ञात्याग अर्थात् ब्रह्मचर्य्य  
मत होता है ॥

**विशेषार्थ—**इस गाथामें ब्रह्मचर्य्य मतका स्वरूप है । सुन्दर स्त्रियोंके  
मनाहर अंगोंको देखनेके कारण जो उनसे क्रीड़ा करनेकी चित्तमें इच्छा-

आगे द्वितीय मन्वन्तको कहते हैं—

रागेण च शोकेण च, मोहिण च मोक्षमाप्तपरिणामं ।

जो पत्रहृदि मातृ मया, विदियवदं होदि तस्सेव ॥ ५३ ॥

सामान्य अर्थ— जो पाप सज्जन पुरुष रागमें, शोकमें व मोहमें हुए बान्धवोंके परिणामको तब छोड़ता है तब ही दूसरा मर्त्य व्रत होता है।

विशेष अर्थ— इस माणमें मर्त्य जन्मके कारणका उल्लेख है— मुदा अर्थात् अमत्य शत्रुनेका जो परिणाम अर्थात् भाव है जो मर्त्य मर्त्य भावमें उल्टा है सिंगी है। यह अमत्य भाव राग भावसे, द्वेष भावसे अथवा माह भावके विभिन्नम जीवके पैदा होता है—अर्थात् यह मनुष्य इष्ट दशाधर्मों व शिष्योंमें गगनकरके उनही प्राप्ति व रक्षाकालिये जन्म करता है व अनिष्ट पदाधर्मों व शिष्योंमें द्वेषकरके उनके दूर होनेकालिये व उनका मध्यन्ध न जानेकालिये असत्य कहना है अथवा मिथ्यागुदिते संसारमें मोहके कारण उम मिथ्या भावकी रक्षाके अर्थ जन्म खोलता है। जो कोई निकट भव्य जीव साधु पुरुष इन्द्रकारके जन्म बोलनेके परिणामको त्यागता है उसीके ही यह सत्यव्रत होता है। टिकाकार कहते हैं—जो कोई अतिशयकरके सत्य भावको अज्ञानमें जपता हुआ प्रगटपने मर्त्य ही खोलता है वह मनुष्य परलोकमें स्वर्गकी छियोंके घने भोगोंका भोगनेवाला होता है और इस लोकमें सदा सर्व सज्जनोंके द्वारा पूजनीय अर्थात् आदरणीय होता है। इसलिये इव सत्यमे बढकर दूसरा कोई व्रत नहीं है यह बात सर्वथा सत्य है ॥

आगे तीसरे व्रतको कहते हैं—

गामे वा जयरे वा, ऽरण्ये वा पेच्छिऊण परमच्छं ।

जो मुचदि गहणभावं, तिदियवदं होदि तस्सेव ॥ ५४ ॥

सामान्यार्थ—जो कोई ग्राममें, नगरमें वा जंगलमें दूसरेकी वस्तुकी

परी देखकर उसके उठा लेनेके पणिमको त्याग देता है उसी सज्जनके ही यह तीसरा अचौर्य्य मत होता है ।

**विशेषार्थ**—इस गाथामें तीसरे अचौर्य्य मतका वर्णन है । वृक्ष आदिकी शादकरके जो बंटा हो उसको गांव कहते हैं । चार दिशाओंके चार दरवाजोंसे जो शोभायमान हो उसका नाम नगर है । जहाँ मनुष्योंका मननागमन नहीं हो तथा वृक्षवेठ गुच्छोंकरके परिपूर्ण हो उसका नाम अरण्य अर्थात् बन है । ऐसे गांव वा नगर वा बनमें दूसरेके द्वारा रक्ती हुई पड़ी हुई, वा भूटी हुई परद्रव्यको देखकर उसको स्वीकार करनेके भावको जो त्यागता है उसके ही यह तीसरा अचौर्य्यमत होता है । जो वस्तु अपने परिध्रमसे किसीका कुछ कामकरके मिले व वसुला सम्मान व दयाकरके देवे यह वस्तु दास्य है—इसके सिवाय कहींकी कोई चीजको भी लेना पांगी है । गुनसान स्थानमें मिली हुई वस्तुओंपर उसका अधिकार है जिसकी वह भूमि है ॥ टीकाकार कहते हैं कि यह अचौर्य्य मत अपूर्व बलका दाता है । इसके पालनकर्ताको पुण्यके उदयसे अतिशय-रूप रत्नोंका देर प्राप्त हो जाता है । स्वरूप स्त्रीके सुसका मूलभूत यह मत है और कम कम करके मुक्तिरूपी स्त्रीका संगम कराने वाला है ॥

आगे चौथे मतको कहते हैं:—

**दहृण इच्छिरूपं, पांछाभायं णिवचदे तासु ।**

**मैहृणसण्णविचज्जिय,—परिणामो अहव तुरियवदं ॥५९॥**

**सामान्यार्थ**—जो स्त्रीके रूपको देखकर ही उसके भीतर अपनी इच्छा होनेरूप भावको हटाता है तथा मैथुन संज्ञासे रहित अपने परिणामोंको करता है उसके ही यह चौथा मत मैथुन संज्ञात्याग अर्थात् ब्रह्मचर्य्य मत होता है ॥

**विशेषार्थ**—इस गाथामें ब्रह्मचर्य्य मतका स्वरूप है । सुन्दर स्त्रियोंके मनोहर अंगोंको देखनेके कारण जो उनसे झीड़ा करनेकी चित्तमें इच्छा-

का होना उसको त्याग करनेसे अथवा वेद नाम नोकपायके तीव्र उदयसे मैथुन सेवनकी इच्छाका होना उसको छोड़नेसे यह ब्रह्मचर्य्य व्रत होता है। टीकाकार कहते हैं कि हे कार्मा पुरुष तू क्यों सहज परम तत्त्वरूप जो अपना स्वरूप है उसको छोड़कर सुन्दर स्त्रियोंकी शरीर आदि विभूतिको मनमें याद करता है और किस कारणसे तू उनमें अत्यन्त मोहको प्राप्त होता है। ऐसा करनेसे मेरा वचन अर्थात् उपदेश तरेलिये किस कामका होगा ? ॥

आगे पंचम व्रतकी कहते हैं:—

सव्वेसिं गंधाणं, तागो निरवेखभावणापुब्बं ।

पंचमवदमिदि भणिदं, चारित्तमरं वहंतस्स ॥ ६० ॥

सामान्यार्थ—जो बांछा रहित भावनाके साथ सर्वही परिग्रहोंको त्यागना है सो चारित्रिके भारको सदा वहनेवाले साधुओंका पंचम व्रत है ।

विशेषार्थ—इस गाथामें परिग्रहत्याग व्रतका स्वरूप है—जो सम्पूर्ण अंतरंग और बाह्य परिग्रहसे रहित है लक्षण जिसका ऐसे कारणरूप परमात्माके शुद्ध स्वभावमें स्थित हैं ऐसे परम संजमी परम जिन योगीश्वर जो हैं तथा जो सदा ही निश्चय व्यवहाररूप उत्तम चारित्रिके भारको वहनेवाले हैं उनके अंतरंग और बाह्य २५ प्रकारके परिग्रहका त्याग करना ही पंचम व्रत है । कैसा है यह परिग्रह त्याग व्रत, यही परंपराकरके पंचम गति जो मोक्ष तिसका कारण है ॥

ऐसा ही श्री समयसारजीमें कहा है। “कि ज्ञानी ऐसा जानते हैं जो मेरे परब्रह्म परिग्रह होय तो मैं भी अजीवपनेको प्राप्त हो जाऊँ क्योंकि

मेरे परिग्रह नहीं है” ॥  
 जो मेरे परिग्रह नहीं है । भव्य जीवको उचित है कि संसारसे भय  
 हो है । जो यह जो आपत्ति उसको त्यागें और उपमाहित



पटी देखकर उसके उठा लेनेके परिणामको त्याग देता है उसी राजनके ही यह तीसरा अर्चोर्ष्य मत होता है ।

विशेषार्थ—इस माथामें तीसरे अर्चोर्ष्य बनना योजन है । दूध भा-  
दिकी वाटकरके जो बड़ा हो उसको गांव करते हैं । चार दिशाओंके चार  
दरवाजोंसे जो शोभायमान हो उसका नाम नगर है । जहाँ मनुष्योंका  
गमनागमन नहीं हो तथा बृहस्पति गुरुओंकरके परिपूर्ण हो उसका नाम अर-  
ण्य अर्थात् बन है । ऐसे गांव वा नगर वा बनमें दूसरेके द्वारा रखी हुई  
पटी हुई, वा भूटीहुई परद्रव्यको देखकर उसको स्वीकार करनेके भावको  
जो त्यागता है उसके ही यह तीसरा अर्चोर्ष्यमत होता है । जो  
वस्तु अपने परिभ्रमसे किसीका कुछ कामकरके मिले व दूसरा मन्मान  
व दयाकरके देवे वह वस्तु प्राप्त है—इसके सिवाय कहीकी कोई धीनको  
भी लेना चोरी है । सुनसान स्थानमें मिटी हुई वस्तुओंपर उसका अधि-  
कार है जिसकी वह भूमि है ॥ टीकाकार कहते हैं कि यह अर्चोर्ष्य मत  
अपूर्व बलका दाता है । इसके पाठनकर्ताको पुण्यके उदयसे अतिशय-  
रूप शनोंका डेर प्राप्त हो जाता है । स्वरूप शीकें सुरका मूलभूत यह  
मत है और कम कम करके मुक्तिरूपी शीका संगम कराने वाला है ॥

आगे चौथे मतको कहते हैं:—

दृष्ट्वा इच्छिरूपं, वांछाभायं णियसदं तासु ।

मेहुणसण्णविषज्जिय,—परिणामो अहव तुरीयवदं ॥५९॥

सामान्यार्थ—जो धीके रूपको देखकर ही उसके भीतर अपनी इच्छा  
शोनेरूप भावको हटाता है तथा मेधुन संज्ञासे रहित अपने परिणामोंको  
करता है उसीके ही यह चौथा मत मेधुन संज्ञात्याग अर्थात् ब्रह्मचर्य्य  
मत होता है ॥

विशेषार्थ—इस माथामें ब्रह्मचर्य्य मतका स्वरूप जानकर उस परम  
मनोहर अंगोंको देखनेके कारण जो उनसे क्रीड़ा व

लाप करते हैं वही कार्यकारी है अन्य स्वपर हितकारी वचन भी निम्न नयकरके उपादेय नहीं हैं ॥

आगे तीसरी समितिको कहते हैं:—

कदकारिदाणुमोदण,—रहिदं तह पासुगं पसच्छं च ।  
दिष्णं परेण भत्तं, समभुत्ती एसणा समिदी ॥ ६३ ॥

सामान्य अर्थ—जो कृत, कारित, अनुमोदना इनको त्यागकर प्राशुक, शुभ और श्रावक द्वारा भक्तिसे दिये हुए आहारको समभावसे भोजन कर ऐसे मुनिके एषणा समिति होती है ।

विशेषार्थ—मन वचन काय द्वारा करना, मन वचन काय द्वारा कराना, मन वचन काय द्वारा सराहना करनी ऐसे नौ विकल्पोकरके रहित जो अन्न है सो नौकांठि शुद्ध कहा जाता है अर्थात् जिसमें मुनि कुछ भी अपना सकल्प न करें । अति प्रशस्त भोजनसे प्रयोजन यह है कि जो मनको हरनेवाला रोगादि व्यथ इ निद्रा आलस्यको पैदा न करे । हरित कायमई साचिनरूप सूक्ष्म प्राणियोंके संचारसे अगोचर सो प्रासुक है अर्थात् जिसमें साचित्तपना इ साचित्तका सम्बन्ध न हो । मुनिको प्रतिग्रह करना “आहार पानी शुद्ध अन्न तिष्ठ तिष्ठ तिष्ठ” ऐसा कहकर पढ़ गाहना, ऊंचेस्थानपर स्थित करना, चरण धोने, पूजन करना, प्रणाम करना, मन वचन और कायको शुद्ध रखना तथा भिक्षा अर्थात् आहारकी शुद्धता ऐसे नऊ प्रकार भक्ति करके सहित जो श्रावक है तथा जिस श्रावकमें श्रद्धा, शक्ति, लोभ इ अभाव, भक्ति, ज्ञान, दया, क्षमा ऐसे सात दातारके गुण विराजमान हों ऐसे योग्य आचरणधारी उपासक श्रावकसे प्रदान किया हुआ जो भोजन उसको जो परम तपोधन अर्थात् मुनि ग्रहण करते हैं उनके एषणा समिति होती है । यह व्यवहार एषणा समितिको कहा । निम्नकारके छन्द नौवके इस समितिका प्रवेश नहीं है क्योंकि संसारी जीवोंके प्र

प्रकारका भोजन व्यवहार नयनके ही होता है ॥ जैसा कि श्री सम्य-  
सारार्थमें कहा है -

इस आहार उ प्रकारक है नाकर्मआहार जैसे केचलीके, कर्म आहार जैसे मणिक्योंके, लेव आहार जैसे एकेन्द्रियोंके कवल आहार जैसे एकाग्र मनुष्याके, आजाहार जैसे अटाके, मानसिक आहार जैसे देवोंके ॥

श्री गुणभद्राचार्यदेवजीने कहा है कि-जो मुनि दम और नियममें लीन है, जिनका आत्मा अतरंग और बाह्य शान्त है, जो समाधिमें पणिमन करतहै है, जो सर्व प्राणीमात्रपर दया करनेवाले है, जिन्होंने अपना हित दिया है जो मर्यादाव्य आहार करनेवाले है जो निद्राको हटानेवाले है तथा जो अध्यात्मिक तत्त्वके निश्चय करनेवाले हैं वैसे ही मुनि जट मूलेसे वृक्षोंके समूहको जला देते हैं । ठीकाकार करते हैं-जो भक्त श्रावकद्वारा शत्रुके अग्रभागमें प्रदान किये हुए आहारको ग्रहण करके पूर्ण ज्ञानमें प्रकाशमान ऐसे आत्माका ध्यान करते हैं तथा जो तत्त्वसे ही सम्यक् तपकी तपनेवाले हैं वेही तपस्वी हैं तथा वेही सुन्दर मुक्तिरूपी धीको प्राप्त करते हैं ॥

आगे श्री श्री समितिको कहते हैं:-

पौधद्वकमंडलादं, गहणविसंगं सु पयत्तपरिणामो ।

आदावणणिकरोषणं, -समिदी होदित्त णिद्विटा ॥६४॥

सामान्यार्थ-पुस्तक कमंडल पीठी आदिके उठाने धरने में जो यत्न करनेरूप पणिमम सो आदाननिक्षेपणा समिति है ऐसा कहा है ।

विंशत्यर्थ-इस गाथामें अपद्वत संयमियोंके द्वारा संयमका उपकरण पीठी कमंडल तथा ज्ञानका उपकरण शास्त्र आदिकोंके उठाने धरने समय जो समिति करी जाती है उस समितिका वर्णन है । उपेक्षा संयमधारी मुनियोंके पुस्तक कमंडल आदि नहीं होते हैं वे उपेक्षा संयमधारी मुनि परम जि-  
तेन्द्री एकांतवासी बिलकुल बेचाह होते हैं निरन्तर आत्मध्यानमें लीन

रहते हैं इसलिये उनको बाहरके शास्त्रादि उपकरणोंकी जरूरत नहीं होती । ऐसे संयमी साधु अम्यंतर उपकरण जा आपका निज परम तत्व उसके ही प्रकाश करनेमें चतुर होते हैं उनके सर्व उपाधिरहित स्वरूप स्वाभाविक आत्मज्ञानके सिवाय और कोई भी वस्तु ग्रहण योग्य नहीं होती । परन्तु अपहृत संयमी मुनियोंकेलिये परमात्म जो शास्त्र उसके अर्थको बार बार ज्ञान करानेका कारण ऐसी जो पुस्तक तथा शौच करनेका कारण तथा शरीरको विशुद्धताका कारण जो कमठल तथा संयम अर्थात् प्राणी रक्षाका कारण जो पीछी सो होती हैं । इनके उद्योग धरनेमें उसी समय जीवरक्षाके निमित्तसे पैदा होनेवाला जो प्रयत्न निरुद्ध लवलीन जो आत्माके परिणामोंकी विशुद्धता सो ही आदाननिर्देशक समिति कही गई है । टीकाकार कहते हैं कि उत्तम परम जिन मुनियोंके सर्व समितियोंके अन्दर यही बड़ी समिति शोभायमान है जिससे उनको सर्व प्राणिमात्र पर क्षमा और मैत्री भाव होता है । हे भव्य जीव तू भी अपने मनरूपी कमलमें इस समितिको धारण कर जिससे तू परम लक्ष्मीरूप मुक्ति धीका स्वामी हो जावे ॥ भावार्थ—सर्व जीवोंपर क्षमा और सर्वका हित चिंतन यही इस समितिके पालनेका अभिप्राय है ।

आगे पांचमी समितिओ कहते हैं:—

पासुकभूमिपदेसे, गूढ रहिए परोपरोहेण ।

उच्चारदिचागो, पइच्छा समिदी हवे तस्स ॥ ६५॥

सामान्य अर्थ—जो मुनि जीवजंतु रहित पासुक जमीनमें जो गूढ़ हो अन्यद्वारा रोकने योग्य न हो ऐसे स्थानमें मलमूत्रादिका त्याग करते हैं उनहीके यह पांचमी प्रतिष्ठापना समिति होती है ।

विशेषार्थ—इस गायामें मुनीश्वरोंकेलिये शरीरका मनादि त्याग करनेकेलिये जो स्थानकी शुद्धता चाहिये उसका वर्णन है । शुद्ध निःशुद्धके जीवके देह ही नष्ट है, देहके अभागो अध्यादिका लेना भी

नहीं है। प्यारहारकके आत्माके देह है उस देहके हांस्रते आहार ग्रहण होता है। आहार लेनेसे सामान्य मुनियोंके मलमूत्रादि हांसने ही हैं इसलिये संयमियोंकलिये मलमूत्र क्षेपनका स्थान नीचतरित तथा दूसरोंके हाग सोके जानके अधोग्य हांसना चाहिये। ऐसे स्थानमें शरीरका धर्म करके दोसे उस स्थानमें कुछ पद उधर जाकर उत्तरमुख कायोत्तम संकृ होकर समान कायकी क्रियाओंको त्यागकर संसारका कारण ऐसा जो परिधम तिसको करनेवाले ऐसे संसारके निमित्त देहादिको तथा अपने आत्माको धर होकर प्याते हैं तथा जो परमसंयमी इस शरीरका अपवित्रपना भी बारदाय विचार करते हैं उन मुनियोंके निधयकरके यह प्रतिष्ठापना समिति होती है, अन्य परतीनामधारी स्वैरवृत्ती शिष्टिनाधारिकके कोई भी समिति नहीं होती है ॥ टीकाकार कहते हैं यह समिति इसलोकमें मुनीश्वरोंकेलिये मोक्षरूपी राज्यका मूल कारण है। कैसे है मुनि, जो जैनमतमें चतुर हैं और अपने आत्माकी चिन्तामें लपटीन है। परन्तु जिनमुनियोंका चिन सहत लपेटी तलकारकी धारमें आसक हां खंचल हो रहा है भावार्थ—जो शिष्य मुख उस सहतके समान है जो तलवार की धारमें लिपटा हो, उस मुखके लोठुपी जो मुनि है उनके यह समिति नहीं होती है ॥ जो अतिन्द्रियमुखके अभिठापी है उनहीके समिति होती है। हे मुनिप्रधान ! भठे प्रकार इस समितिको जाने। कैसे है समिति, जो मुक्ति रूपी धीको प्यारी है, भवभवका भयरूपी अंधकार उसको नाश करनेकेलिये चंद्रमार्की प्रभाके समान है, तथा तैरी सम्यक जो मुनिपदकी दीक्षा उसके लिये मुन्दर ससी है। प्रसन्न चित्त हो अब इसका ऐसा अभ्यास करो जो तुमको जिन धर्मके तपसे सिद्ध हांसनेवाला अविनाशी ही कोई ऐसे फलकी प्राप्ति हो ॥ निधयकरके मुनि इस समितिकी संगतिसे धीम ही किसी उत्तम फलको प्राप्त करते हैं जो फल मनसे चिन्तवने योग्य तथा यचनसे

कहने योग्य नहीं है तथा जो क्वथ मुसमई अमृत रूप है । मावायः  
समितिके पात्रते हुए ही मुनि शिव सुसको पासकते हैं ॥

आगे मन गुप्तिको कहे हैं:—

**कालुससमोहसण्णा, रागद्वोसाइअमुहमावाणं ।**

**परिहारं मणुगुत्ती, धवहारणयेण परिकहियं ॥ ६६ ॥**

सामान्यार्थ—कलुषपणा, मोह, अभिष्टापा, राग, द्वेष आदि अशुभ  
भावोंका जो त्याग करना उसे ही व्यवहारनयसं मनो गुप्ति कहते हैं ॥

विशेषार्थ—इस गाथामें व्यवहार मनोगुप्तिके स्वभावका वर्णन है ॥

क्रोध, मान, माया लोभ इन चार कषायोंसे क्षोभित आकुलित मन्य जे  
चित्त उसको कालुष्य कहते हैं । मोह दो भेदरूप है एक दर्शन मोहनी  
दूसरे चारित्र मोहनी ॥ संज्ञाके चार भेद हैं—आहार, मय, मैयुन  
और परिग्रह हैं । राग दो प्रकारका है एक अशुभ दूसरा  
शुभ ॥ जिन मनुष्योंका सम्बन्ध अपनेको न मुहावे जयवा  
जो वस्तुएं अपने मनको नहीं रुचें उन सबसे वैरमई परिग्रह  
सो द्वेष है । इत्यादि सर्व अशुभ परिणामोंके कारणोंको त्यागना ही व्य-  
हारनयकरके मनगुप्ति है ॥ टीकाकार कहते हैं जो अपने मनको सदा  
परमागमके अर्थकी चिंतामें लवटीन रखते हैं, जो जितेन्द्रिय हैं, जो  
वाह्य और अभ्यंतर परिग्रहकरके रहित हैं तथा जो भीमात् जिनेन्द्रके  
चरणोंके स्मरणमें दत्तचित्त हैं उनहीके यह मनगुप्ति होती है ॥ ६६ ॥

आगे वचन गुप्तिको कहते हैं:—

**धीराजचोरभक्तक,—हादीवयणस्स पावहेउस्स ।**

**परिहारो वचगुत्ती, अलियादिणियत्तिवयणं वा ॥ ६७ ॥**

सामान्यार्थ—पाप बंधकी कारण स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा,  
तथा भोजनकथा इन ४ विकाररूप वचनोंका जो त्याग करना सो  
वचनगुप्ति है इसीको अटीकनिवृत्तिवचन भी कहते हैं ॥

विशेषार्थ - इस शास्त्रमें वचनगुप्तिका स्वरूप है ॥ अति बृहत् पुष्पां-  
के व कामी पुष्पांके मुख द्वारा जो स्त्रियोंके सेवाम तथा वियोगमें पैदा  
हई अनेक प्रकारकी वचन रचना रूप कथा तिनका किया जाना तथा  
तिनका सुना जाना सो ही थीकथा है ॥ राजाओंके मृत्युके कारणोंका  
जो उपन्यास सो राजकथाप्रबंध है । पारोंकी पंगी करनेकी रीतियोंका  
जो वचन सो पारकथाविधान है । अत्यन्त बड़ी हई भोजनको प्रीति-  
करके नानाप्रकार भोजनके समूह स्तंभ वही दूध आदि भोजन पानकी  
प्रशंसा करना सो भनकथा है । इन पारोंही प्रकारकी कथाओंका जो  
त्याग है सो वचन गुप्ति है । इसीको अटीक वचनसे निवृत्ति भी कहते  
हैं और भी अन्य सम्पर्ज अशुभ वचनोंका त्यागना सो वचन गुप्ति है ॥  
ऐसी ही भाति श्री पूज्यपाद स्वामीने भी कहा है; भायार्थ इस प्रकार  
बाहरमें वचनकी प्रवृत्तिको त्याग कर अंतरंगमें विशेषरूपसे अंतर्जल्प  
अर्थात् भीतर २ ही वचन कहना उसको भी दूरकरनेसे योग अर्थात्  
ध्यान होता है यही ध्यान परमात्माको प्रीति अर्थात् प्रकृश करनेवाला  
है ॥ टीकाकार कहते हैं:-जो भग्यजीव संसारके भयको करनेवाली  
सर्व ही वचनकी रचनाको त्यागकर सहज विलासरूप चैतन्यका चम-  
त्काररूप एक शुद्ध आत्माको ध्याता है वह जीव शीघ्र ही कर्म जंघ-  
कारके समूहको अतिशयकरके विध्वंस कर स्वभावकी महिमाका आनंद  
ऐसे मुक्तकी सान भुक्तिको प्राप्त करता है ॥

अब कायगुप्तिको कहते है:-

बंधणछेदणमारण, आकुंचण तह पसारणादीया ।

कायकिरियाणियत्ती, णिदिढा कायगुत्तिचि ॥ ६८ ॥

सामान्यार्थ-बंधन, छेदन, मारन, संकोचन, विस्तारन आदि  
शरीरकी क्रियाओंको न करना सो कायगुप्ति कही गई है ।

विशेषार्थ—किर्माद्या बंधन होना इसमें अंतरंग निमित्त कर्मका उदय तथा बाह्य कारण किसीके कायका व्यापार है । उदयमें ही अंतरंग कारण कर्मका उदय और बाह्य कारण प्रमादी कृपाय सहित जीवके शरीरकी क्रिया है । मारनका भी अंतरंग कारण कर्मका उदय बाह्य कारण क्षयकरनेवाले बाह्य किसीके काय आदिकी चेष्टा है । संकोच विस्तार एक ही पर्यायमें समुद्रघातकी अपेक्षा होता है जिसमें आत्माके प्रवेश आत्माको न त्यागकर कुछ देरकेलिये फँसजाते हैं और फिर सकुट्ट जाते हैं इत्यादि बंधनादिरूप जो कायकी क्रिया उनसे अलग रहना सो कायगुप्ति है ॥ टीकाकार कहते हैं जो मुनि कायके विकारोंको त्यागकर वारवार शुद्धात्माकी भावना करता है उसीका ही जन्म में इस संसारमें सफल समझता हूँ ॥

अब निश्चय नयसे मनोगुप्तिका स्वरूप कहते हैं:—

जा रायादिणियत्ती, मणस्स जाणीहि तम्मणोगुत्ती ।

अलियादिणियत्तिं वा, मोणं वा होइ वदिगुत्ती ॥ ६९ ॥

सामान्यार्थ—जो मनसे रागादि भावोंका दूरकरना सो मनगुप्ति है तथा असत्य आदि वचनका न कहना मौन रक्षना सो वागगुप्ति है ।

विशेषार्थ:—जो मुनि सब मोह रागद्वेषको दूर करके संद्वलित अद्वैत परमचैतन्यरूपमें भले प्रकार स्थित होता है उसके ही निश्चय मनोगुप्ति होती है । हे शिष्य ! तुम जबतक इस स्थिरतासे चलायमान न हो तबतक मनो गुप्ति जानो । सम्पूर्ण असत्य भाषाका त्यागना अथवा मौनव्रतका रक्षना ऐसा कि चेतना जिसमें नहीं ऐसे मूर्त्तिक द्रव्यमें व इंद्रियज्ञान अगोचर ऐसे अमूर्त्तिक द्रव्यमें व दोनोंमें वचनकी प्रवृत्ति न करना सो निश्चय वचन गुप्ति कही जाती है ॥ टीकाकार कहते हैं जो



मान् चिन्तामार्ग रखने मान करता है छा भुन पापक्षी बर्नकेलिये  
 भाँसे समान ही योगियोंमें दिव्यमणि होता हुआ अनन्त चतुष्टयका  
 नाभकर उगमे स्थित रह सदा ही जीवन्मुक्ति अरण्याका भोगी होता है ।

अब निधय कायगुप्तिको कहते हैं—

कायकिरियाणियत्ती, फाउरससगो सरिरेमे गुत्ती ।

हिंसाहणियत्ती पा, सरिरेगुत्तिचि णिहिटा ॥ ७० ॥

सामान्यार्थ—कायकी सम्पूर्ण क्रियाओंको त्याग्ना कायसे ममत्त  
 भावका छोटना सो शरीर गुप्ति है अथवा सबे रियासे दूर रहना सो काय  
 गुप्ति है एसा कहा गया है ।

विशयार्थ—सबे ही मनुष्योंके शरीरोंमें बहुतसी क्रियाएँ हुआ  
 करती है । उन सबे क्रियाओंको छोड़कर कायोत्सर्ग करना सो काय  
 गुप्ति है । तथा पंच प्रकार थावर जीव और सबे बस जीवोंकी हिंसा न  
 करनी सो काय गुप्ति है । तथा परम धेयमके धारी परम जिन योगीश्वर  
 जब अपने आत्माके चेतन्यमई शरीरसे इस शरीरका भेदज्ञान करते  
 हैं तब उनके अंतर्गममें अपने आत्माकी उत्कृष्ट मूर्तिकी निधयका होना  
 सो काय गुप्ति है । एसा ही श्रीतच्चानुशासनमें कहा है कि शरीरकी  
 सम्पूर्ण घेष्टाओंको तथा संसारके कारण राग द्वेषादि भावोंको छोड़कर  
 स्थिर हो अपने आत्मस्वरूपमें लीन हो जाना सो कायोत्सर्ग कहा जाता है  
 टीकाकार कहते हैं—आत्मा अपरिस्पन्दरूप अर्थात् हलन चलन  
 क्रियासे रहित है, परन्तु शरीर परिस्पन्दरूप हलन चलन क्रिया सहित  
 है । प्यरहासे यह हलन चलन मेरे आत्मामें होता है इसलिये मैं  
 शरीरकी विकाररूप क्रियाओंका त्याग करता हूँ ॥

अब श्री अरहत परमेशीका स्वरूप कहते हैं:—

घणघाइफम्मरहिया, केवलणाणाइपरमगुणसहिया ।

चोत्तिसअदिसयजुत्ता, अरिहंता एरिसा हांति ॥ ७१ ॥

सामान्यार्थ—जो सम्पूर्ण घातिया कर्मोंसे रहित हैं केवल ज्ञान-  
दि परम गुणके धारी हैं चौतीश अतिशय विराजमान हैं सो ही अर्हत  
कहलाते हैं ॥

विशेषार्थ—आत्माके गुणोंको घातनेवाले कर्मोंको घातिया कहते हैं।  
घनरूप अर्थात् आत्मासे जो एकमें एक हो रहे हैं ऐसे जो ज्ञानावरणी, दर्शना-  
वरणी अंतराय और मोहनी इनसे जो अर्हत परमेष्ठी रहित हैं। इन  
घातिया कर्मोंके नाशसे समस्त लोकको आनन्दका कारण सर्वथा निर्मलपेदा  
केवल ज्ञान, केवल दर्शन, केवल वीर्य और केवल सुख इन चार चतुष्टय  
करके जो अर्हत भगवान युक्त हैं तथा आगममें प्रसिद्ध ३४ अतिशयके  
जो धारी हैं वे ही भगवान अर्हत होते हैं ॥ टीकाकार कहते हैं:—  
वे सुसीमाजीके पुत्र श्रीपद्मप्रभु जयवन्त हो जिनका शरीर परमेश-  
रिक्त है जिसमें पद्मरंग प्रसिद्ध है, जिनके नेत्र प्रफुल्लित कमलके समान  
हैं, जो पुण्यसमूहके तीर्थकर गोत्रके धारी हैं, जो पंडित जनकी  
कमलोंको प्रसन्न करनेकेलिये सूर्यके समान हैं, जो मुनिजनकी  
वनोंकी शांभाको बढ़ानेकेलिये चंद्रमास अर्थात् वसतकाठ हैं, जो कर्म  
रूपी मेनाके नाश करनेको शत्रु हैं, तथा जिनका चात्रि सर्व प्राणियों-  
का हित करनेवाला है ॥ जो कामदेवरूपी शर्षके नाशकेलिये गिद्धके  
समान हैं, जो पुण्यरूपी कमलके सिलानेको मूर्ख हैं, जो सम्पूर्ण  
गुणोंके समाज हैं, जो सर्वको इच्छित सुखदाता कल्पद्रु हैं। जो बुद्ध  
कर्मोंके बीजको जलानेवाले हैं, जो संसारके पदार्थोंको छोड़ चुके हैं, तथा  
जिनके चरणोंको इंद्र नमस्कार करते हैं ऐसे श्रीजिनेन्द्र देव जयवन्त  
होतु ॥ जिन्होंने कामदेवके धनुषको जीत लिया है, जो सर्व  
विद्याओंके प्रगटकर्ता हैं, जिनकी परिणति मुमुरूप है, जो  
पाप समूहकेलिये यमराजके समान हैं जिन्होंने मेघाके तापको  
छातकर दिया है, जिनके परमात्मनिर्भक्त पदोंको राजाविगत

नमन करने हैं, जिन्होंने क्रोधको जीत लिया है तथा विद्वानोंके समूह जिनको नमस्कार करते हैं ऐसे श्रीजिनेन्द्र जयवन्त होहु ॥ यहाँपर टीकाकारने पद्मप्रभु अरहत भगवानकी एक स्तुति मनोहर श्लोकोंमें लिखी है ॥ वहं तु ए प्रथम श्लोकमें सर्व समास शब्दोंके अन्तमें 'त्र' अक्षर आया है, दूसरे श्लोकमें "ज" अक्षर, तीसरेमें 'घ' अक्षर आया है । अब चौथे श्लोकका अर्थ कहते हैं—जिसके समास पदोंके अन्तमें 'क्ष' अक्षर आया है—अर्थात् जिन्होंने मोक्षका प्रगट किया है, जिनके नेत्र पद्म कमलके समान विस्तार युक्त हैं, जिन्होंने पापकी सेनाको जीत लिया है, कामदेवकी पक्षको संहित किया है, जिनके युगल धारणोंको यक्ष नमन करते हैं, जो तत्त्वविज्ञानमें दक्ष अर्थात् चतुर हैं, जिन्होंने बुद्धिमान भव्य जीवोंको शिक्षा प्रदान की है, तथा जिन्होंने निर्माणका कारण मुनि दीक्षाका स्वरूप कहा है ऐसे श्री जिनेन्द्र प्रभु-जयवन्त होहु ॥ आगेके श्लोकके पदोंके अंतमें 'दा' अक्षर है—जो कामदेव धरणन्द्र और देवोंके ईश हैं, जिनका शरीरका प्रदेश कांतमान शोभायमान है, जिनके धारणोंको यमीश अर्थात् मुनियोंके ईश नमस्कार करते हैं, जिन्होंने यमराजकी पक्षको नष्टकर दिया है, जो पापरूपी वनके जलानेकेलिये अग्निके समान हैं, जिनका मुयश सर्व दिशाओंमें फैला हुआ है, जो जगतके ईश हैं, ऐसे मनोहर श्रीपद्मप्रभु स्वामी जयवन्त होहु ॥

आगे श्री सिद्धभगवानका स्वरूप कहते हैं:—

षट्शकम्भबंधा, अष्टमहागुणसमाण्डिया परमा ।

लौयगगठिदा णिचा, सिद्धा जे एरिसा हांति ॥ ७२ ॥

सामान्यार्थ—जिन्होंने अष्टकमोंके बंधनोंको नाश कर दिया है, जो आठ महागुणकरके सहित परम अर्थात् बड़े हैं, जो लोकके अग्रभागमें स्थित हैं, जो नित्य अर्थात् अविनाशी हैं वे सिद्ध हैंति हैं ॥

विशेषार्थ—इस गायामें मोक्ष प्राप्त करनेके परम्परा कारणभूत ऐसे जो भगवान सिद्ध परमेष्ठी हैं उनके स्वरूपको कहते हैं ॥ सम्पूर्णपने अंतरंगके सन्मुख होकर ध्यान और ध्येयके विकल्पोंसे दूरवर्ती ऐसा जो परम शुद्ध शुद्ध ध्यान उसके बलसे जिन्होंने ज्ञानावरणी आदि आठ प्रकार कर्मबंधोंको नष्ट कर दिया है तथा जो क्षायक सम्यक्त आदि आठ गुणोंसे पुष्ट और तुष्ट अर्थात् संतोषित हैं तथा जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रि ऐसे तीनों तत्वोंके विशेष गुणाधाररूप होनेसे परम हैं, अर्थात् तीनों तत्वोंकी जहां पूर्णता है, तथा जो व्यवहारसे तीन लोकके शिखरके आगे गमनका कारण धर्मद्रव्य न होनेसे लोकके अग्रभागमें ही तनुवालवलयमें विराजमान हैं तथा जो आनी इस जन्तु पूर्वपर्यायसे कभी अन्य पर्यायरूप न होंगे अर्थात् सिद्धपर्याय न त्यागें इस कारण नित्य हैं ऐसे श्री सिद्धपरमेष्ठी होते हैं । टीकाकार कहते हैं कि ज्ञानके पुंज ऐसे जो श्री सिद्धभगवान् हैं सो व्यवहारनयकरके तीन भवनके शिखरके अग्रभागके चूडामणि हैं पन्नु निश्चयकरके श्री सिद्धदेव स्वाभाविक परम चैतन्य चिंतामणि स्वप्न अपने अविनाशी शुद्ध निजरूपमें ही विराजते हैं ॥ जिन्होंने सर्व दोषोंको अस्त कर दिया है, जो देहसे मुक्त होकर तीन भवनके शिखरपर विराजते हैं, जो सिद्ध अवस्थामें उपमा रहित प्रत्यक्ष ज्ञान दर्शन शक्तिसे युक्त हैं, जिन्होंने अष्टकर्म प्रकृतिके समुदायोंको नष्ट कर दिया है और अष्ट महागुणोंको सिद्ध किया है, जो अंत रहित, अन्याय हैं, जो तीन भवनके शिरोमणि और सिद्धिरूपी श्रीके स्वामी हैं ऐसे नित्य शुद्ध सर्व सिद्धोंको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ जो अपने आत्म स्वप्नमें स्थित हैं लवलीन हैं, जिन्होंने आठ गुणकी सपनाको प्राप्त किया है और आठ कर्मके समूहको नष्ट किया है ऐसे सिद्ध महाराजोंको मैं बारबार नमस्कार करता हूँ ॥

आगे श्री आचार्य्यके स्वरूपको कहते हैं.—

पंचाचारसमग्गा, पंचिद्विचदंतिद्व्यपिहलणा ।

धीरा गुणगंधीरा, आचरिया एरिसा हांति ॥७३॥

सामान्याथ—जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य्य ऐसे पांचों आचारोंसे परिपूर्ण हैं, जो पंचेन्द्रियरूपी हाथियोंके मूत्रको दूधन करनेवाले हैं, जो धीर, और गुणोंमें गंभीर हैं वे ही आचार्य्य होते हैं ।

विशेषार्थ—जो ज्ञानादि पांचों आचरणोंमें परिपूर्ण हैं जो स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पांचों इंद्रियोंरूप मद्राध हस्तियोंका मूत्र दूधनेमें दक्ष हैं, तथा जो सम्पूर्ण प्रकारसे पौर उपसर्गोंको विजयकरके धीरता गुणके कारण गंभीर हैं । ऐसे लक्षणोंहोसिं जानने योग्य श्री भगवान आचार्य्यजी हैं । ऐसा ही श्रीयादिराजदेवने कहा है:—कि जो पंच आचारमें लीन हैं, अकिंचन अर्थात् निर्मन्यताके जो स्वामी हैं, कषाय चोरोके स्थानोंको जिन्होंने नष्ट किया है, प्रगट ज्ञानके बलसे परमतेजको जिन्होंने प्राप्त किया है । जो पंचास्तिकायके स्वरूप शनमें लवलीन हैं, जो प्रगट स्थिर योगाभ्यासमें प्रवीण बुद्धिशाली हैं, जो गुणोंकरके उदय रूप हैं ऐसे श्री आचार्य्य महाराजोंकी हम भक्तिरूपी क्रियाके अभिलाषी अपने संसारसम्बन्धी दुस्तसमूहको काटनेकेलिये पूजन करते हैं ॥

जानने हैं, जो सुख हैं जोर तपस्याका कारण जा सुकल्प्याग उत्पन्न प्रास्तिका कारण है, जो समता और इन्द्रियदमनताका मंदिर है, जो मेधी, दया और दम अर्थात् जितेन्द्रियताका घर है, जो उपमारहित है ऐसा श्रीगुरुका मन मेरे द्वारा बदनीक है ॥

आगे श्रीउपाध्याय महाराजका स्वरूप कहते हैं:—

रयणत्तयसंजुत्ता, जिणकौहियपयच्छदेसया सुरा ।

णिक्करभावसहिया, उवझाया एरिसा होन्ति ॥७४॥

**सामान्यार्थ**—जो रत्नत्रयसे युक्त हैं, जिनेन्द्र भगवान प्रणीत पदार्थोंके उपदेशक हैं जो इच्छारहित ऐसे भाव सहित हैं ऐसे उपाध्याय कहे जाते हैं ।

**विशेषार्थ**—इस गायामें अव्यापकस्वरूप परम गुणोंके स्वरूपका वर्णन है—जो निश्चल संड रहित अद्वैत परम चैतन्य रूपके श्रद्धान, ज्ञान और आचरणसे शुद्धनिश्चय स्वभाव रत्नत्रयके धारी हैं, जो जिनेन्द्रके मुखारविन्दसे प्रगट हुए जीवादि समस्त पदार्थोंको अर्थ सहित व्याख्यान करनेवाले हैं, जो सम्पूर्ण परिग्रहका त्याग हे लक्षण जिसका तथा कर्माजन रहित ऐसा जो निज परमात्मतत्त्व उसकी भावनासे पैदा होनेवाले परम वीतराग सुररूपी अमृतके पीनेमें अनुरागी हैं इसलिये इच्छा रहित परम भावनाके स्वामी हैं । ऐसे लक्षणांकरके पहचानने योग्य जैनियोंके उपाध्याय महाराज होते हैं ॥ टीकाकार कहते हैं—में रत्नत्रयमई, शुद्ध, भव्यकमलोंकेलिये सूर्य ऐसे उपदेश दाता उपाध्यायोंको निच्य धारवार वंदना करता हू ॥

आगे निरंतर अरुंडित परमतपश्चरणमें लीन ऐसे सर्वसाधुके स्वरूपको कहते हैं—

**वावारविष्पमुक्ता, चउव्विहाराहणासयारत्ता ।**

**णिग्गथा णिम्मोहा, साहू वे एरिसा हांति ॥ ७५ ॥**

**सामान्यार्थ**—जो सर्व व्यापारसे रहित हैं, चार प्रकार आगमनमें सदा लवलीन हैं, जो निर्मन्थ और मोह रहित हैं वे साधु होते हैं ॥

**विशेषार्थ**—जो महान पुरुष परम संयमके धारी हैं तथा जो पंचम भाव जो पारणाभिक भाव उसकी भावनामें परिणमन करते हैं—इसा है पंचमभाव, जो तीन काठमें आवरणरहित तथा सर्व मलरूप जननसे रहित है शुद्ध है । वे मुनि इसीकारण सर्व बाध व्यापारसे रहित हैं । तथा ज्ञान दर्शन चारित्र परम तपश्चरण ऐसी चार प्रकारकी आराधना

रूपी संपदा उनमें जो अनुरक्त हैं अर्थात् तन्मय है । बाह्य अभ्यंतर सर्व परिग्रहके हठसे रहित हैं इसलिये निर्ग्रथ है । सदा कर्मरूपी अंजनसे रहित निज परमात्मस्वरूप जो कारण समयसारस्वरूप उसका यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान और आचरण उनके विरोधी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, और मिथ्याचारित्र्य इनके अभावसे जो मुनि निर्मोह अर्थात् मोह रहित है । तथा जो मुनि परम निर्वाणरूप स्त्री उसका सुन्दर केशोंका जूड़ा उसकी शोभा तथा उसके सचिह्न केसरका रज पुंज उसमें शोभायमान नानाप्रकार बणोंका अलंकार उसके आलम्बनमें कौतूहल बुद्धि हैं अर्थात् मुक्ति स्त्रीके भेमी हैं ऐसे सर्व साधु होते हैं ॥ टीकाकार कहते हैं कि साधुका मन संसारी जीवोंके ऐसे मुरतोंसे रहित है सर्व परिग्रहके संबन्धसे दूरवर्ती है हम लोगोंसे नमस्कार करने योग्य है । हे साधु ऐसे मनको अपने आत्माहीमें शीघ्र डुवाओ ।

आगे इस अधिकारको संकोचते हैं:—

एरिसयभावणाए, व्यवहारणयस्स होवि चारित्तं ।

णिच्छयणयस्स चरणं, एत्तो उडुं पयक्खामि ॥ ७६ ॥

सामान्यार्थ—इन ऊपर लिखित भावनाओंमें व्यवहार नयकी अपेक्षासे चारित्रिका कथन किया है । निश्चय नय अपेक्षा चारित्रिको आगे कहेंगे ।

विशेषार्थ:—इस प्रकार पहले कहे पांचमहावत, पांचसमिति, निश्चय व्यवहार तीन गुणों तथा पांच परमणीका स्वरूप—इनके द्वारा अत्यन्त दुःख भावनाकी प्राप्ति होती है यह सर्व व्यवहार नयके अभिप्रायसे परम चारित्र होता है । आगे कहने योग्य पांचवें अविकारमें परम पंचम भाव जो परिणामिक भाव उसमें लीन तथा जो पंचमगति अर्थात् मोक्ष उसका कारणरूप ऐसा शुद्ध निश्चय नयके आधीन जो परम चारित्र है उसका स्वरूप दिसताएगे । ऐसा ही श्री मार्ग्यमकारणमें कहा है कि जिस चारित्रिक

विना सम्यग्दर्शन और ज्ञान ऊखलके भीतर पड़े हुए बीजके समान छिल-केसे तथा मैलसे अलग नहीं है उस जैनके चारित्रको मैं नमन करता हूँ। इस चारित्रकी स्तुति देव असुर, तथा मनुष्य सर्व करते हैं ॥ टीकाकार कहते हैं कि मोक्षरूपी स्त्रीके अनंग अर्थात् अतीन्द्रिय सुखका मूल यह परम निश्चय चारित्र है ऐसा आचार्योंने कहा है तथा इस चारित्रका उत्कृष्ट साधन व्यवहार चारित्र भी है ऐसा वर्णन किया है।

इस प्रकार सुकविक्रमलकेलिये सूर्य्य पंचेंद्रियके विस्तारसे रहित शरीर मात्रपरिमह धारी श्रीपद्मप्रभमलधारिवेव रचित नियमसारकी तात्पर्यवृत्ति नामटीकामें व्यवहारचारित्रका अधिकार पूर्ण हुआ।

## निश्चयप्रतिक्रमणाधिकार ।



आगे आचार्य्य टीकाकार श्रीमाधवसेनाचार्य्यकां नमस्कार करते हैं:—जो संयम और ज्ञानकी मूर्ति हैं तथा विनयवान् जो शिष्यरूपी कमल उनके विकास करनेकेलिए सूर्य्य हैं तथा कामदेवरूपी हार्थीके कुंभस्थल विदारनेके सिंहके समान हैं ऐसे जो श्रीमाधवचंद्र आचार्य्य को शोभाको विस्तारते हैं ॥ आगे सर्व व्यवहार चारित्र और उसके फलका लाभ उससे प्रतिपक्षी जो शुद्ध निश्चय नयस्वरूप परम चारित्र उसको प्रतिपादन करनेके अभिप्रायसे निश्चय प्रतिक्रमण अधिकारको आगे कहेंगे।

तिसमें प्रथम ही पंचरत्नका स्वरूप कहते हैं:—

णाहं णारयभावां, विरियच्छो मणुवदेवपज्जाओं ।  
कत्ता ण हि कारद्वा, अणुमंता णेव कत्तीणं ॥ ७७ ॥



णाहं मग्गणठाणो, णाऽहं गुणठाण जीवठाणो ण ।  
 कत्ता ण हि कारइदा, अणुमंता णेव कत्तीणं ॥ ७८ ॥  
 णाहं बालो बुद्धो, ण चेव तरुणो ण कारणं तेसिं ।  
 कत्ता ण हि कारइदा, अणुमंता णेव कत्तीणं ॥ ७९ ॥  
 णाहं रागो दोसो, ण चेव मोहो ण कारणं तेसिं ।  
 कत्ता ण हि कारइदा, अणुमंता णेव कत्तीणं ॥ ८० ॥  
 णाहं कोहो भाणो, ण चेव माया ण होमि लोहो हिं ।  
 कत्ता ण हि कारइदा, अणुमंता णेव कत्तीणं ॥ ८१ ॥

सामान्यअर्थ—न मैं नारकभाव धारी हूँ, न मैं तिर्यच । मनुष्य तथा देवपर्यायवाला नहीं हूँ, न मैं इनका कर्ता हूँ न, करानेवाला हूँ और करनेकी अनुमोदना करनेवाला हूँ ।

न तो मैं मार्गना स्थान हूँ न गुणस्थानरूप हूँ न जीवसमास स्थानरूप हूँ न मैं इन भावोंका कर्ता हूँ न करानेवाला हूँ न मैं कर्ताओंकी अनुमोदना करनेवाला हूँ । न मैं बालक हूँ न मैं बुद्ध हूँ न मैं जुवान हूँ और न इन अवस्थाओंके हानेका हूँ । न मैं इनका कर्ता हूँ न करानेवाला हूँ और न मैं इनके करनेवालोंकी अनुमोदना करनेवाला हूँ ॥ न मैं रागरूप हूँ न द्वेष रूप हूँ न मोहरूप हूँ और न इन भावोंका कारण हूँ, न मैं इनका कर्ता हूँ, न कराने वाला हूँ और न अनुमोदना करनेवाला हूँ ॥ न मैं क्रोधरूप हूँ न मानरूप हूँ न माया रूप हूँ और न कभी लोभ रूप होता हूँ । न मैं इनका कर्ता हूँ न करानेवाला हूँ और न करनेकी अनुमोदना करनेवाला हूँ ।

विशेषार्थ—इन गायार्थोंमें कहा है कि शुद्ध आत्माके सर्व कर्तृत्व भावका अभाव है ॥ बहु आरंभ और बहु परिग्रहके अभावसे मैं कभी नारक पर्यायरूप नहीं होता हूँ क्योंकि संसारी जीवके ही व्यवहारसे

बहु आरंभ और बहु परिग्रह होते हैं और इसीकारण उस संसारिके  
 नारकादि दुर्गतिका कारण ऐसा पूर्ण मोह, राग, तथा द्वेष होता है। मैं  
 शुद्ध निश्चयके बलसे शुद्ध जीवास्तिकाय हूँ। मेरे नरक पर्यायके समान  
 तिर्यच पर्याय भी नहीं है और न मनुष्यपर्याय है और न मेरे द्वेषपर्याय है  
 क्योंकि देव पर्यायके योग्य सुन्दर रस गंध तथा शुभ रूप ऐसे पुत्रल द्रव्य  
 उनका सम्बन्ध मेरे साथ नहीं है। इसीप्रकार १४ प्रकार मार्गनाके स्थान १४  
 जीव समासके स्थान व १४ गुणस्थान ये कोई भी शुद्ध निश्चयकरके मेरे  
 नहीं है। कैसा हूँ मैं, परम भाव जो शुद्ध परिणामिक भाव उसको धारण  
 करन वाला हूँ। मनुष्य तिर्यचकी कायकी जातिमें अवस्थाके निमित्तसे  
 जो विकार पैदा होता है वही विकार शरीरका बालक, बूढ़, युवान  
 शिथिलआदि अवस्थारूप होनेसे अनेक प्रकार है-सो इनमेंका कोई  
 भी विकार शुद्ध निश्चय नयके अभिप्रायसे मेरे नहीं है। सत्ता, गान,  
 परमचेतन्यमई सुसका अनुभव इनमें लीन जो उत्कृष्ट आत्मीक तत्त्व  
 है उस तत्त्वको ग्रहण करनेवाली जो शुद्ध द्रव्यार्थिक नय उसके बदनमें  
 मेरे मोह, राग, व द्वेष बिलकुल नहीं हैं। मैं स्वभाविक निश्चय नयसे  
 सदा निरावरण हूँ कमौके आवरणसे अलग हूँ। शुद्ध ज्ञान स्वरूप  
 सहज चेतन्यमई शक्तिका धारी हूँ। सकल दर्शन गुणसे प्रभासमान  
 और परिपूर्ण मेरी मूर्ति है, अपने स्वरूपमें निश्चलतासे ठहरा हूँ।  
 कारण स्वभावसे ही यथाख्यात चारित्रिका धारी हूँ। इसलिये मेरे संपूर्ण  
 संसारसम्बन्धी दुःसोंके कारण ऐसे क्रोध, मान, माया, लोभ नहीं है  
 तथा न मैं इन नानाप्रकारके आकूलतामई विभाव पर्यायोंका निश्चय  
 कर्ता हूँ, न करानेवाला हूँ और न पुत्रल कमौके करनेवालोंका अनु-  
 मोदक हूँ। न मैं नारक पर्यायको करता हूँ, मैं तो स्वाभाविक संस्कार  
 का रिटामरूप आत्माको ही अनुभव करता हूँ। न मैं पशुपर्यायको  
 करता हूँ। मैं तो सहज चितके रिटामरूप आत्माहीका स्वरूप

हूँ ॥ न मैं मनुष्य पर्यायको करता हूँ, मैं स्वाभाविक चैतन्यका विलास-  
रूप जो आत्मा उसहीका अनुभव करता हूँ । न मैं देव पर्यायको करता  
हूँ, मैं सहज चैतन्यके प्रकाशरूप आत्माका ही मनन करता हूँ । न  
मैं मिथ्यादर्शन आदि गुणस्थानोंके भेदोंको करता हूँ । मैं स्वाभाविक  
चैतन्यका विलासरूप आत्माका ही सचेतन करता हूँ । न मैं एकेन्द्रिय  
आदिक जीव समानके भेदोंको करता हूँ । मैं सहज चैतन्यका प्रकाशरूप  
आत्माहीका अनुभव करता हूँ । न मैं शरीर सम्बन्धी बाल वृद्ध आदि  
भेदको करता हूँ । मैं स्वाभाविक चैतन्यका विलासरूप आत्माका ही  
स्वाद लेता हूँ । न मैं राग द्वेष आदि भावकर्मके भेदोंको करता हूँ । मैं  
सहज चैतन्यके प्रकाशरूप आत्माहीका मनन करता हूँ । न मैं भावकर्म-  
रूप क्रोधादि चार कर्पायोंको करता हूँ । मैं स्वभाविक चैतन्यका विलास  
रूप आत्माका ही अनुभव करता हूँ । इस प्रकार पंचरत्न मई ५ गाथाओंमें  
गर्भित संक्षेपमें यह कथन किया है कि सर्व विभावपर्यायोंको त्याग कर-  
नेकी भावना करना ही कार्यकारी है । टीकाकार कहते हैं—जो भव्य  
जीव इन पांचरत्नमई पांच गाथाओंके द्वारा अपने चित्तको सर्व इन्द्रिय  
विषयोंके हठसे छुड़ाता है तथा अपने आत्मिक द्रव्यके शुद्धगुण पर्या-  
योंमें अपने उपयोगको लीन करता है वह आत्मा अपने आत्मिक भावसे  
भिन्न सर्व विभावोंको त्यागकर शीघ्रही मुक्तिका लाभ करता है ॥

आगे कहते हैं कि भेद विज्ञानसे ही क्रम २ से निश्चय चारित्र्य होता है—

एरिसभेदवभासे, मज्झच्छो होहि तेण चारिचं ।

तं दिट्ठकरणणिमित्तं, पट्टिकमणादी पवक्खामि ॥८२॥

सामान्यार्थ—ऊपर कहे प्रमाण भेद विज्ञानके भीतर जो अभ्यास  
करते हैं वे मध्यस्थ होते हैं—इसी भावके द्वारा चारित्र्यका लाभ होता है ।  
इसी चारित्र्यके दृढ़ करनेकेलिये प्रतिक्रमण आदिको करेंगे ऐसी श्रीकुड-  
कुंदाचार्य्य प्रतिज्ञा करते हैं ॥

विशेषार्थ—पहले कही हुई पंचरत्नमई पांच गायोंके द्वारा अर्थका भाव जाननेसे मोक्षका साधक ऐसा जीव और पुत्रोंका भेद विज्ञान होता है इस भेद विज्ञानका अभ्यास करते करते जो मुमुक्षु मोक्षके इच्छुक इस भेद विज्ञानके भावमें सदा स्थिर रहते हैं वे ही मध्यस्थ अर्थात् वीतराग हो जाते हैं। इस कारणसे ही उन परम संयमी मुनियोंके ही वास्तवमें चारित्र्य होता है—इसी चारित्र्यमें निश्चलरूपसे स्थिति करनेका उपाय प्रतिक्रमण आदि नियमरूप क्रियाएं कही गई हैं। अतीत अर्थात् गतकालमें किये हुए दोषोंको छुड़ानेकेलिये जो प्रायश्चित्त किया जाता है उसको प्रतिक्रमण कहते हैं। आदि शब्दसे प्रत्याख्यान आदिभी ग्रहण करने। आगे इनहीका स्वरूप कहेंगे।

ऐसा ही श्रीअमृतचंद्रसूरीने कहा है कि निश्चय करके जोर सिद्ध हुए हैं वे सर्व ही भेद विज्ञानकी माहिमासे हुए हैं और जो जो संसारमें बंधे हुए हैं वे सर्व ही भेद विज्ञानके अभावसे ही बंधे हुए हैं। टीकाकार कहते हैं कि श्रीमुनिनाथके चित्तमें अतिशयकरके भेद ज्ञानका भाव होनेपर स्वयं ही यह उपयोग मोहको छोड़ देता है तथा शान्तभावरूप ऐसा शमरूप समुद्र उससे समस्त पापरूपी कलकोंको धो डालता है—यह कोई निश्चयकरके समयसारका ही एक भेद है।

आगे प्रतिक्रमणका स्वरूप कहते हैं:—

मोक्षूण वयणरपणं, रागादीभाववारणं किञ्चा ।

अप्पाणं जो ज्ञायदि, तस्स दु होवित्ति पठिकमणं॥८३॥

सामान्यार्थः—वचनकी रचनाको छोड़कर तथा राग द्वेषादि भावोंको निवारणकरके जो कोई आत्माको ध्याता है उसके प्रतिक्रमण होता है।

विशेषार्थ—जो मोक्षार्थी जीव प्रतिदिन सर्व पापोंके समूहोंको क्षय करनेकेलिये वचनमई प्रतिक्रमणकी स्तुति करे है उसका इस गायामें

निराकरण है ॥ जो कोई परम तपभरणका कारण स्वाभाविक वैराग्यरूपी अमृतका जो समुद्र उसके बढ़ानेकेलिये पूर्ण चंद्रमाके समान है उसके अशुभ वचनोंको कहनेका त्याग तो होता ही है तौभी वह प्रतिक्रमण सूत्रमें गठन कीहुई कठिन वचनोंकी रचनाको छोड़ता है और संसार रूपी बेलके मूलकद् जो सर्व मोह राग द्वेष भाव इनको दूर करता है तथा सदरहित आनंदमई निजकारण परमात्माका ध्यान करता है उसी मुमुक्षु जीवके निश्चयकरके निश्चय प्रतिक्रमण होता है । कैसा है यह निश्चय प्रतिक्रमण, जहां परमआत्मीक तत्वका सम्यक् भ्रद्धान, ज्ञान और आचरण विद्यमान है । तथा जहां सम्पूर्णवाग्विटास अर्थात् वचन रचना-रूप व्यापारका त्याग है । ऐसा ही श्रीमान् अमृतचंद्र सूरीने कहा है:-  
 कि बहुतसे सोंटे विकल्परूप वचनकी रचना करनेसे कोई कार्यकी सिद्धि नहीं है । परमार्थवात यही है कि नित्य एक स्वरूप-  
 हीका अनुभवकरना ठीक है । क्योंकि अपने आत्मीक रससे भरपूर ऐसे पूर्णज्ञानका जहां प्रगटपना है ऐसे समयसारके सिवाय और कोई कुछ अनुभवने योग्य नहीं है । टीकाकार कहते हैं-अत्यन्त तीव्र मोहसे पैदा किये पूर्वमें जो कर्म उनका प्रतिक्रमण करके मैं नित्य सम्यग्ज्ञानरूपी आत्मामें अपने आत्मस्वरूपके द्वारा वर्तन करता हूं ।

आगे कहते हैं जो आत्माकी आराधनामें ठहरा हुआ है उसी जीवके ही प्रतिक्रमण कहा जाता है:-

आराहणाइ वट्टइ, मोत्तूण विराहणं विसेसेण ।

सो पडिकमणं उच्चइ, पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥८४॥

सामान्यार्थ—जो कोई मोक्षार्थी विशेषकरके सर्व विराधना अर्थात् अपराध उसको छोड़कर स्वरूपकी आराधनामें वर्तन करता है वह जीव प्रतिक्रमणमई हांता है तथा वही जीव प्रतिक्रमणस्वरूप कहा गया है ॥

विशेषार्थ—जो कोई परमतत्व ज्ञानी जीव निरंतर आत्मसन्मुख हो बिना टूटे हुए अर्थात् लगातार परिणामोंकी परिपार्श्वसे साक्षात् स्वभावमें ठहरकर आत्माकी आराधनामें वर्तन करता है वही जीव निरपराध स्वभाव है। आत्माकी आराधनाका विगत होना अर्थात् विराधना होना सो अपराध है उसकरके जो रहित है वही भव्य निरपराध है। ऐसा भव्य जीव सम्पूर्ण प्रकारसे विराधनाको छोड़ देता है। जिसके परिणामसे आराधना चली गई है उस परिणामको विराधना कहते हैं। ऐसा निरपराधी जीव ही निश्चय प्रतिक्रमण स्वरूप है ऐसा कहा गया है। सो ही धीसमय-सारजीमें कहा है। उसहीका समयसारकी व्याख्यामें श्लोक है—जो अपराधीजीव है वह निरन्तर अनंत कर्मोंसे बंधता है परन्तु जो निरपराधी है वह कभी भी बंधनको स्पर्श नहीं करता है। क्योंकि सापराधी अपने आत्माको नियतरूपसे अशुद्ध ही भजता है परन्तु निरपराधी भलेप्रकार अपने शुद्ध आत्माका सेवक होता है। टीकाकार कहते हैं:—जो परमात्मस्वरूपके ध्यानसे रहित है ऐसा आत्मा निश्चयकरके संसारी और अपराधी ही है क्योंकि अपनेको अपराध सहित ही स्मरण करता है अर्थात् अशुद्ध भावके मननसे अशुद्ध ही रहता है। किन्तु जो निरन्तर संड रहित एक अद्वैत चेतन्यके भावमें तल्लीन रहता है वही निरपराधी होता है तथा वही कर्मोंके नाश करनेमें प्रवीण होता है ॥

आगे कहते हैं कि जो निश्चयचारित्रके धारी परम उपेक्षा संदमके पालनेवाले हैं उन्हींके ही निश्चय प्रतिक्रमणका स्वरूप होता है:—  
मोक्षोण अणायारं, आयारे जो दु कुणादि थिरमार्यं ।  
सो पडिकमणं उच्यइ, पडिकमणमओ हवे जम्हा॥८५॥

सामान्य अर्थ—जो भव्य अनाचारको त्यागकर स्वभाषारमें स्थिर भावको करता है वही प्रतिक्रमणमई होता है तथा वही प्रतिक्रमण स्वरूप है ॥

विशेषार्थ—नियतरूपसे परमोपेक्षा संयमी मुनिके शुद्धात्माकी आराधना अर्थात् भक्ति उस सिवाय सर्व ही अनाचार है इसलिये सर्व ही अनाचारको त्यागकर जो स्वाभाविक चैतन्यका विलासरूप ऐसा निरंजन अपना परमात्म तत्वकी भावनास्वरूप जो आचार उसमें जो कोई सहज वैराग्यकी भावनामें परिणमन करता हुआ अपने स्थिरभावको करता है वही परम तपोधन मुनि प्रतिक्रमणस्वरूप कहा गया है क्योंकि वही भव्य परम समता रसमें भावनामें परिणमन करता हुआ निश्चय प्रतिक्रमणमें होता है । भावार्थ—वैराग्यमें भाव करता हुआ जो मुनि परमात्माकी भावना करता है उसीहीके निश्चय प्रतिक्रमण होता है ॥ टीकाकार कहते हैं कि इस आत्माको उचित है कि यह आत्मा निजपरम आनंदरूपी अमृतसे भरे हुए तथा स्वाभाविक ज्ञानको प्रकट करनेवाले अपने आत्माको आत्मीक शांतिरसमें जलसे पूर्ण आनंदमें भक्तिपूर्वक ध्यान करावे संसारीक अनेक बचनोंके समूहभ्रम जालोंसे कोई कार्प्यसिद्ध न होगा ॥ जो भव्यआत्मा अतिशयकरके जन्ममरणकारी तथा सर्व दोषोंके प्रसंगको करानेवाले अनाचारको त्यागकर तथा अपने आत्माके द्वारा उपमारहित स्वाभाविक दर्शन, स्वाभाविक ज्ञान तथा स्वाभाविक वीर्यके धारी आत्मामें स्थित होकर बाह्य आचारको छोड़ करके शांत समुद्रके समरसमें जलविन्दुओंके समूहोंसे पवित्र होता है वही आत्मा पुण्यवान है तथा वही सर्वाचीन आत्मा मलसमूहको नाश करके साक्षात् रूप होता हुआ प्रकाशमान होता है ॥

आगे कहते हैं कि उन्मार्गको त्यागकर सर्वज्ञातीतरागके मार्गको स्वीकार करना चाहिये:—

उन्मार्गं परिचत्ता, जिणमग्गे जो दु कुणदि धिरमावं ।  
सो पडिकमणं उच्चइ, पडिकमणमओ हवे जह्मा । ८६ ।

सामान्यार्थ—उन्मार्गोंको त्यागकर जो जीव जिनमार्गमें अपना स्थिरभाव करता है वही प्रतिक्रमणरूप कहा गया है क्योंकि वही जीव प्रतिक्रमणमार्ग होता है ।

विशेषार्थ—जो कोई शुद्ध निश्चय सम्यग्दृष्टी शंका, कांक्षा, विचि-  
कित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा, तथा अन्यदृष्टिसंस्तव ऐसे पांच मटरूपी कल-  
ककी कंचसे मुक्त होकर बुद्ध आदि एकान्त वादियोंके कहे हुए मिथ्या  
दर्शन, मिथ्या ज्ञान और मिथ्या चारित्ररूपी मार्ग सारसे दूरीमें परन्तु  
धर्ममार्ग नहीं ऐसे उन्मार्गोंको छोड़ता है और व्यवहार नयकरके महादे-  
वाधिदेव परमेश्वर सर्वज्ञ वीतरागके द्वारा कहा गया जो व्यवहार चारित्र-  
रूपी मार्ग अर्थात् पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति, पांच इन्द्रियों-  
का निरोध, प्रतिक्रमण आदि छः आवश्यक आदि २८ मूठ गुणोंके  
आचरणमें अपने परिणामको स्थिर करता है तथा शुद्ध निश्चय नय-  
करके स्वाभाविक ज्ञान आदि शुद्ध गुणोंसे शोभायमान तथा स्वाभाविक  
परम चैतन्यके सामान्य विशेषरूप प्रतिभासमान ऐसे अपने परमात्म  
द्रव्यमें अपना स्थिर भाव करता है अर्थात् शुद्ध चारित्रमें लीन होता है  
वही मुनि निश्चय प्रतिक्रमण स्वरूप कहा गया है । क्योंकि निश्चय प्रति-  
क्रमण परम आत्मिक तत्त्वमें ही प्राप्त है इस कारणसे ही वह तपोधन  
सदा ही शुद्ध है ॥ ऐसाही श्री प्रवचनसारमें कहा है—विशेष आदरके  
धारी पुराण पुरुषोंके द्वारा यह चारित्र उत्सर्ग और अपवाद ऐसे दो भेद-  
रूप सेवित किया जाता है उस चारित्रकी स्पष्टपने अनेके भूमिकाओंको  
आचरणकरके मुनि सर्वसे अपनी अतुल निवृत्ति करके चैतन्यके सामान्य  
विशेषरूप अपने आत्मद्रव्यमें तिष्ठता है । ऐसा ही टीकाकार कहते हैं  
कि जो मुनि इन्द्रिय विषयोंके सुखसे विरक्त है, शुद्ध आत्मिक तत्त्वमें  
लीन हैं, तपमें अपने चित्तको अनुरागी किये हुए हैं, शास्त्र समूहकी  
संगतिमें उन्मत्त हैं, गुणरूप माणियोंकी मालासे युक्त हैं, तथा सर्व संसा-



रिक्त शून्योत्ते रहित हैं, ऐसे मुनि क्यों नहीं अमृतमई मोक्ष वधुके वल्लभ होकर स्फुरायमान होंगे अर्थात् अवश्य मुक्त प्राप्त करके प्रकाशमान होंगे । आगे कहते हैं कि शून्य रहित भावोंमें परिणमन करनेवाला महातपोधन अर्थात् मुनि ही निश्चयप्रतिक्रमणरूप होता है:-

मोक्षूण सल्लभावं, णिस्सल्ले जो दु साहु परिणमदि ।

सां पडिकमणं उच्चइ, पडिकमणमओ हवे जम्हा ८७

सामान्यार्थः—जो मुनि उस शून्य भावको त्यागकर शून्य रहित भावमें परिणमन करता है वह प्रतिक्रमणरूप कहा जाता है क्योंकि वह मुनि प्रतिक्रमणमई हो जाता है ॥

विशेषार्थः—निश्चयकरके यह आत्मा सर्व शून्यसे रहित स्वरूप परमात्मा है परन्तु व्यवहार नयके बटसे कर्मरूपी कीचड़से सहित है इस कारणसे उपचारकरके यह संसारी जीव माया, मिथ्या, निदान ऐसे तीन शून्योंके साथ है । इसकारण इन तीनों शून्योंको छोड़कर जो कोई विषयोंसे विमुख परमयोगी परम निःशून्य स्वरूप परमात्मस्वभावमें लीन होता है वही मुनि निश्चय प्रतिक्रमण स्वरूप कहा गया है । क्योंकि अपने आत्मस्वरूपमें प्राप्त होना ही वास्तविक प्रतिक्रमण है । टीकाकार कहते हैं कि विद्वान् यती तीन शून्योंको त्यागकर शून्यरहित परमात्मामें टहरकर प्रगटपने सदा शुद्ध आत्माहीकी भावना करता है । हे मुनि ! तू कषाय कालिमासे रंजायमान होता हुआ वार २ कामदेवके वाणसे निकली जो अग्नि उसकरके दग्ध हो चुका है सो अब तू भवभवमें भ्रमणका कारण ऐसा जो मलीन चित्त उसको छोड़ और प्रबल संसारसे भयको प्राप्त करके जिस निर्मल तथा स्वभावमें ही रहे हुए आनन्दको अनादि कर्म बंधके बशसे नहीं प्राप्त किया उसही आनन्दको भज ॥

आगे कहते हैं जो मुनि तपोधन मन वचन कायकी गुणियोंमें गुप्त होता है उसीके ही निश्चय चारित्र होता है:—

चत्ता ह्यगुत्ति भावं, तिगुत्तिगुत्तो हवेइ जो साहू ।

सो पढिकमणं उच्चइ, पढिकमणमओ हवे जम्हा ॥८८॥

सामान्यार्थ:—जो साधु अगुप्ति भावको त्याग निश्चयकरके तीन गुणियोंमें गुप्त होता है वही प्रतिक्रमण स्वरूप कहा गया है क्योंकि वह मुनि प्रतिक्रमणमई हो जाता है ।

विशेषार्थ:—जो कोई परम तपश्चरणरूप सरोवरके कमलोंकेलिये अत्यन्त तेजवान सूर्यके समान है ऐसा अत्यन्त निकट भव्य मुनीश्वर है सो बाह्य प्रपंचरूप जो अगुप्तिभाव उसको त्यागकर त्रिगुणोंमें गुप्त अर्थात् लवलीन ऐसी विकल्प रहित परम समाधि सो ही है लक्षण जिसका ऐसे अति अपूर्व आत्माको ध्याता है वही निश्चय प्रतिक्रमणमई परम संयमी है इसलिये उसीको ही निश्चय प्रतिक्रमण स्वरूप होता है:— टीकाकार कहते हैं जो मुनि भव्यात्मा वचन कायके विकारोंको सश त्यागकर सम्यग्ज्ञानमई स्वाभाविक परम गुणिको शुद्धात्माकी भावनाके साथमें भजन करता है वह मुनि त्रिगुणोंमई होकर अपने प्रत्यक्ष स्वभावको प्राप्त होता है ।

आगे ध्यानके भेदोंको कहते हैं:—

मोत्तूण अट्ट रुद्धं, द्वाणं जो ज्ञादि धम्म सुक्कं वा ।

सो पढिकमणं उच्चइ, जिणवरणिद्विडमुत्तेसु ॥ ८९ ॥

सामान्यार्थ:—जो कोई आर्त तथा रौद्रध्यानको छोड़कर धर्म-ध्यान और शुद्धध्यानको ध्याता है उसीके ही जिनेन्द्र कथित सूत्रोंमें प्रतिक्रमण कहा गया है ।

विशेषार्थ:—अपने देशके त्यागसे, द्रव्यके नाश होनेसे, मित्र बंधु-जनकोंके विवेक जानेसे, तथा सुन्दर स्त्रीके वियोगसे इष्ट वियोग जनित

आर्त्तध्यान होता है । जो चेतन अचेतन पदार्थ अपनेको इष्ट नहीं हैं उनका संयोग होते उनके वियोगकी इच्छासे वैदा हुआ अनिष्ट संयोग आर्त्तध्यान होता है । शरीरमें वेदना होते उसके दूर न होनेतक बार बार उस पीड़ाको विचारकर दुःख मानना सो पीड़ा चिन्तवन आर्त्तध्यान है । आगामी भव व कालमें भोगोंकी इच्छासे बार २ उनका चिन्तवन सो निदान आर्त्तध्यान है । चोर, जार, शत्रु आदिको वध, बंधन आदि चाहते हुए महाद्वेषरूप भावके चिन्तवनसे उत्पन्न हुआ हिसानंद रौद्रध्यान है । चोरी करने कराने आदिमें आनन्दका ध्यान सो चौर्यानंद रौद्रध्यान है । मृपावादमें आनंद मृपानन्द रौद्रध्यान है । परिग्रहकी बुद्धिमें आनन्दमानना सो परिग्रहानंद रौद्रध्यान है । ये दोनों ही आर्त्त रौद्रध्यान स्वर्ग और मोक्ष मुक्तके विरोधी है तथा संसार दुःखके मूल हैं । इन दोनोंको सर्वथा त्यागकर जो कोई भव्य श्रेष्ठोंमें मुख्य परम भाव जो अपने आत्माका शुद्ध भाव

रूपमें निश्चित है । तथा कैसा है निश्चय शुकुध्यान, जहाँ ध्यान और ध्येयका भेद नहीं है । जिसका ध्यान करनेवाला अपने अंतरगमें अपनी परिणति करके सर्व ही इन्द्रिय ग्रामोंसे बाहर रह भेदरहित परम कलाका नाथ होता है ॥ यह कथन परम जिनेन्द्र श्रीतीर्थकर देवके मुख कमलसे प्रगट हुआ जो द्रव्यभूत उसमें प्रगट है । इस प्रकार ४ भेद स्वरूप ध्यानोंमें आदिके दो ध्यान आर्त्त और रौद्र हे अर्थात् त्यागने योग्य हैं । प्रथम अवस्थामें धर्मध्यान ग्रहण करने योग्य है । परन्तु चतुर्थ शुकु ध्यान सर्वदा ही उपादेय है—यही ध्यान मोक्षका निकट कारण है ॥ ऐसा ही अन्य ग्रन्थमें कहा है—जो ध्यान क्रियारहित, इन्द्रियबाध, ध्यान व ध्येयके विकल्पसे रहित, अतरंग लीनरूप है उसीको योगिधोने शुकु ध्यान कहा है ॥ टीकाकार करते हैं:—शुद्ध नय ध्यानके भेदसमूह-

को ही नहीं कथन करता है—शुद्ध नयसे यह आत्मा सदा शिवनई मोक्षके आनन्द स्वरूप अपने परमात्म तत्त्वमें व्यक्त अर्थात् प्रगट है। ध्यान और ध्यानके भेद हैं इस कथनको व्यवहार नय ही सदा कथन करता है। हे जिनेन्द्र आपका तत्त्व परम आश्चर्यकारी है मानो इन्द्र जाल ही है क्या ॥ भावार्थ—शुद्ध नय वस्तुके शुद्ध असल स्वरूपको ही कहनेवाला है। व्यवहार नय अशुद्ध तथा भेद रूप कथनको कहनेवाला है। परम शुद्ध अवस्थामें ध्यान और ध्येयका विकल्प ही नहीं है। यह आत्मा स्वय ही साध्यरूप कार्यको सिद्ध किये हुए शुद्ध हो जाता है, वही सिद्ध अवस्था इस आत्माका असल स्वरूप है। उसको कहनेवाला जो शुद्ध नय से अन्य अवस्थाको नहीं कह सकता। इस कारण सिद्ध अवस्थाके कारणरूप जो ध्यान वह सर्व व्यवहार और भेदरूप धर्म है इसीसे व्यवहार नयहीका विषय है। इन्द्रजालका दृष्टान्त कहनेका प्रयोजन यह है कि जैसे इन्द्रजालके सेलको समझना कठिन है ऐसे ही जिनवाणीके भेदोंका जानना दुर्गम है ॥ फिर भी कहते हैं—जो यह परमात्मतत्त्व सम्यग्ज्ञानका मंडन अर्थात् आमूषण है तथा चहूँ ओरसे समस्त विकल्पोंके समूहोंसे मुक्त है उस तत्त्वमें सर्व नय सम्बन्धी कोई भी विकल्परूप प्रपंच नहीं है तो फिर कहिये उस तत्त्वके स्वरूपमें ध्यानावली कैसे उदय हो सकती है ? अर्थात् ध्यानादि सर्व साधक अवस्थामें हैं अत एव व्यवहार मार्ग हैं। शुद्ध निश्चय नयसे ये सर्व विकल्प नहीं हैं।

आगे कहते हैं कि अत्यन्त निकट भव्य जीवके पूर्व अवस्थामें कौनसे परिणाम होते हैं तथा पश्चात् कौनसे परिणाम होते हैं:-

मिच्छत्तपहुदिभावा, पुटवं जीवेण भाविया सुइरं ।

सम्मत्तपहुदिभावा, अभाविया हांति जीवेण ॥ ९० ॥

**सामान्यार्थः—**पूर्वमें जीवने अनादिकालसे मिथ्यात्व आदि भावोंको गया है । तथा सम्यक्त आदि भावोंको अनादि कालसे कभी नहीं गया है ।

**विशेषार्थः—**मिथ्यात्व, अवत, कषाय, योगपरिणाम ऐसे चार सामान्यरूपसे बंधके कारण भाव तथा इनके तेरह भेद ( १३ ) गुणस्थान रूप है । जैसा कहा है—मिच्छादिद्विगुणद्वाणादि सयोगिस्स चरिमतं ॥ अर्थात् मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें चारोंको, अवतनाम चतुर्थ गुणस्थानमें अवत आदि तीनोंको, सासादन नाम द्वितीय गुणस्थानमें भी अवत आदि तीनोंको, मिश्रगुणस्थानमें सम्यग्मिथ्यात्व, तथा अवतादि तीनोंको, देश-वेरतसे ठे इससे सूक्ष्म सांपराय गुणस्थानतक कषाय और योग दोको तथा ११ वें उपज्ञांतमोहसे १३ वें सयोगिकवलीतक मात्र योग हीको भ्रष्टा कारण कहा गया है ॥ अत्यन्त निकट भव्य जीवने पूर्व अवस्थामें नेरंजन स्वरूप अपने परमात्म तत्वके श्रद्धानको न पाकर मिथ्यात्व आदि बंधके कारण भावोंको अनादि कालसे भाया है अर्थात् निजस्वरूपके ज्ञानसे रहित बहिरात्मा मिथ्यादृष्टी जीवने परम नैष्कर्म्य चारित्र अर्थात् निश्चल स्वरूपमें स्थितिरूप स्वरूपाचरणको न पाकर सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूपी मोक्षके कारण भावोंकी भावना नहीं की है । मिथ्यादर्शनसे विपरित होकर सम्यग्दृष्टी अत्यन्त निकट भव्यजीव गुणसमूहसे पूर्ण (ह सम्यग्ज्ञानकी ही भावना करता है । सो कैसे करता है इसकेलिये श्री गुणभद्रस्वामीने कहा है कि इस संसारके चक्रमें मैं उन भावनाओंकी भावना करता हूँ जिनको मैंने पहले नहीं भाया है । जो इन भावनाओंको भाते हैं उनकेलिये ये भावनाएं संसारको अभाव करने-वाली हैं ॥ टीकाकार करते हैं—इस संसाररूपी समुद्रमें डूबे हुए जीवने जो कोई भी निर्गुंति अर्थात् मोक्षका कारण भाव है उसको कभी भी नहीं भाया है यह बड़े कष्टकी बात है चाहे इसने भवभवमें उस तत्वको

वचन मात्र सुना र कता है यह मोक्षका कारणरूप भाव सर्वदा एक आत्मज्ञान ही है ॥

आगे कहते हैं कि परम मुमुक्षु जीवको सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रिके संगी स्वीकार करने और मिथ्यादर्शन ज्ञान चारित्रिके विठकुल त्याग करनेहीमें निश्चय प्रतिक्रमणका लाभ होता है:—

**मिच्छादंसणणाण, चरित्तं चद्वऊण णिरवसेसेण ।**

**सम्मत्तणाणचरणं, जो भावद्व सां पडिक्रमणं ॥ ११ ॥**

सामान्याद्यं—जो कोई मिथ्यादर्शन ज्ञान चारित्रिको सर्वथा त्याग कर सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रिकी भावना करता है वही प्रतिक्रमणरूप होता है ।

विशेषार्थ—भगवान् अर्हत्परमेश्वर कथित जो धर्मका मार्ग उससे उल्टे मार्गाभासका श्रद्धान करना सो मिथ्यादर्शन है । उसी ही धर्मकी वस्तुओंमें अर्थात् पदार्थोंमें सत पदार्थोंकी बुद्धि करना सो मिथ्याज्ञान है, उसही मार्गाभासमें धर्मका आचरण करना सो मिथ्या चारित्रि है । इन तीनोंको विठकुल त्याग देवे अथवा अपने आत्मतत्त्वका श्रद्धान ज्ञान और आचरणरूप जो निश्चय रत्नत्रय उसके विरोधी जो मिथ्यादर्शन ज्ञान चारित्रि इनको भी त्याग कर देवे । तीनों कालोंमें आवरण रहित नित्य आनन्दमई एकरूप है लक्षण जिसका ऐसा निरंजन निज

की भावना करते हैं वे परमतपोधन मुनि ही निश्चय प्रतिक्रमणस्वरूप होते हैं ऐसा आगममें कथन है ॥ टीकाकार कहते हैं:—जो बुद्धिमान मुनि आत्मीक तत्त्वके शाता है वे सर्व विभावोंको तथा व्यवहार रत्नत्रयके

मार्गको त्यागकर शुद्धात्मतत्त्वमें स्थिर अपने एक ज्ञान स्वरूपहीका भ्रन्दान ज्ञान और आचरण करते हैं ।

आगे निश्चय उत्तमार्थ प्रतिक्रमणका स्वरूप कहते हैं:—

उत्तमअहं आदा, तस्मि विदा ह्यदि मुणिवरा कम्मं ।

तद्भाद्रु ज्ञाणमेव हि, उत्तमअहस्स पडिकमणं ॥ ९२ ॥

सामान्यार्थ—आत्मा ही उत्तमार्थ है । उसमें स्थित रहकर मुनि महाराज कम्मोंको नाश करते हैं इसलिये ध्यान ही उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है ।

विशेषार्थ—जिनेश्वरका यह मार्ग है कि मुनियोंको सहेसना अर्थात् समाधि मरणके समय ४२ वियालीस आचाप्योंसे दिया हुआ जो उत्तमार्थ प्रतिक्रमण तिसरूप होकरके देहका त्याग करना सो व्यवहार करके सहेसना धर्म है । निश्चयकरके सहेसनाको कहते हैं कि, नव पदार्थोंमें उत्तम पदार्थ निश्चयकरके आत्मा ही है इस आत्माके सच्चिदानन्दमई कारण समयसार स्वरूपमें जो तपोधन तिष्ठते हैं वे निश्चय सहेसनाके धारि हैं वे मुनि नित्य मरणसे भयभीत होते हैं इसलिये जीवको जन्म मरण न प्राप्त हो ऐसा विचार कर वे मुनि कम्मोंका नाश करते हैं । इसकारण अत्यात्मिक भाषाकी अपेक्षा जो निश्चय परम शुक्लध्यान ध्यानध्येय विकल्पसे रहित सर्वथा प्रकार आत्माके सन्मुखरूप सम्पूर्ण इन्द्रियोंके अगोचर है वही ध्यान उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है ऐसा जानना चाहिये । प्रयोजन यह है कि निश्चय उत्तमार्थ प्रतिक्रमण अपने आत्माहीके आश्रय है । सो निश्चय धर्मध्यान तथा निश्चय शुक्लध्यानमई है । इसलिये अमृतका कुंभ है अर्थात् अमृत रससे भरा सुन्दर कलश है । तथा व्यवहार उत्तमार्थ प्रतिक्रमण व्यवहार धर्मध्यानमई है इसलिये विषकुंभस्वरूप है अर्थात् जहरसे भरे कलशके समान है । ऐसाही श्री समयसारजीमें कहा है । कि प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारना, निवृत्ति, निर्दा, गर्हा, शुद्धि ये आठ प्रकार विषकुंभ हैं । क्योंकि इन क्रियाओंमें कर्तापिनेकी शुद्धि

संबंध है इस भाग में सर्व कंधे कारण हैं ॥ तथा ऐसा ही श्री समन्यार  
 जीकी व्याख्यामें कहा है—यही उन जीवों जो निश्चय प्रतिक्रमण न  
 कर सके हैं कारण व्यवहार प्रतिक्रमणको विषय जानकर उसे भी छोड़  
 देता है उसको आचार्य कहते हैं कि जिस आत्माके निर्मल भावमें प्रतिक्रमण  
 अर्थात् व्यवहार प्रतिक्रमणको ही विषय है ऐसा कहा है वहाँ  
 प्रतिक्रमणको विच्छेद ही न करना अर्थात् व्यवहार निश्चय दोनोंका न  
 करना अमूर्तरूप कैसे हो सकता है । आचार्य्य आश्चर्य्य करके कहते हैं  
 कि यह जीव नीचे २ गिरता हुआ क्यों प्रमादी हो रहा है क्यों नहीं यह  
 प्रमादको त्यागकर ऊपर ऊपर चढ़ता है । भावार्थ यह है कि जो व्यवहार  
 प्रतिक्रमणमें प्रमादी था उसको उपदेश किया है कि व्यवहार प्रतिक्रमण  
 तो करो परन्तु इसको करते करते निश्चय प्रतिक्रमणकी प्राप्ति करे  
 क्योंकि निश्चय अमूर्तरूप है और व्यवहार विषय है तथापि प्रतिक्रमण  
 न करनेकी अपेक्षा उपादेय है इसलिये ऊपर २ चढ़नेकेलिये ऐसा उप-  
 देश है जो व्यवहार प्रतिक्रमण कर रहा है उसको तुड़ानेकेलिये नहीं ॥  
 टीकाकार कहते हैं:—आत्माके ध्यानके सिवाय अन्य समस्त ध्यान मयानक  
 संसारका कारण हैं । ध्यान ध्येय आदिका विकल्परूप जो तप है सो कहने  
 मात्र ही सुन्दर है ऐसा समझकर बुद्धिमान पुरुष स्वाभाविक परमानंदरूपी  
 अमृतसे भरे समुद्रमें दूबे हुए स्वाभाविक एक परमात्माहीका अनुभव  
 करते हैं ॥

आगे कहे हैं कि सर्व पदार्थोंके भीतर एक ध्यान ही उपादेय है अन्य  
 सर्व त्याज्य हैं:—

ज्ञाणणिलीणो साहू, परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं ।  
 तम्हादु ज्ञाणमेव हि, सव्वदिचारस्त पडिक्कमणं ॥१३॥

सामान्यार्थ:— जो ध्यानमें लवलीन साधु है वह सर्व दोषोंका  
 त्याग कर देता है इसलिये ध्यान ही सर्व अतीचारोंका प्रतिक्रमण  
 करनेवाला है ।



विशेषार्थः—कोई परम जितेन्द्री योगीश्वर साधु अत्यन्त निकट भव्यजाब है सो अध्यात्मिक भाषाकी अपेक्षा अपने आत्माहीके आश्रयमें स्थिराभूत ऐसा जो निश्चय धर्मध्यान उसमें ऐसा लीन है कि भेद रहित-पनेसे ठहरा हुआ है अथवा सर्व क्रियाकांडके आढम्बगसे छूटा हुआ व व्यवहार नयके आर्धान ध्यान ध्येयका भेदरूप विकल्प उनसे रहित, सम्पूर्ण इन्द्रियोंके अगोचर, परमतत्व जो शुद्धआत्म तत्व उसके विषयभेदकी कल्पनाकी अपेक्षा न करके लबर्लान होनेरूप जो निश्चय शुद्धध्यान उसमें जो साधु ठहरता है वह सम्पूर्णपने अंतरंग लीन होता हुआ शुभ तथा अशुभ समस्त मोह राग द्वेषोंको त्याग कर देता है । इसलिये अपने आत्मस्वरूपके आश्रित जो निश्चय धर्मध्यान और निश्चय शुद्धध्यान ये दोही ध्यान सर्व अतीचारांकेलिये प्रतिक्रमणरूप है । टीकाकार कहते हैं—यह शुद्धध्यानरूपी दीपक जिसके चित्तरूपी घरमें प्रकाशता है वही योगी है उसीको ही अपने आप शुद्धात्माका प्रत्यक्ष हो जाता है ॥

आगे व्यवहार प्रतिक्रमणका फल कहते हैंः—

पडिक्रमणामधेये, सुचे जह वणिणदं पडिक्रमणं ।

तह पादा जो भावइ, तरस तदा होदि पडिक्रमणं॥९४॥

सामान्यार्थः—प्रतिक्रमण नाम सूत्रमें जैसा प्रतिक्रमणका स्वरूप कहा है उसको वैसा ही जानकर जो उसकी भावना करता है तब ही उसके प्रतिक्रमण होता है ।

विशेषार्थः—सर्व आगमके ज्ञाता, सार और असारके विचार करनेमें परम चतुराई आदि गुणके धारी निर्यापक आचार्योंने प्रतिक्रमणसूत्र नाम द्रव्यभूतमें विस्तार पूर्वक जैसा प्रतिक्रमणका स्वरूप कहा है उसको वैसा ही जानकर जितेन्द्रकी नीतिरूप आज्ञाको नहीं उहड़चन करता हुआ हुन्दर चारित्रकी मूर्तिस्वरूप जो मुनि सो सकल संयमकी

भावना करता है उसी महामुनिके व्यवहार प्रतिक्रमण होता है। केंद्रा है मुनि, बाह्य प्रपंच जालसे उदास है, पंचेन्द्रियके विषयोंके विस्तारसे रहित शरीरमात्र परिग्रहका धारी है तथा अपने परम गुरुके चरणोंके स्मरणमें आसक्तचित्त अर्थात् लवलीन है। टीकाकार कहते हैं कि निर्यापकाचार्य्यके द्वारा मुक्तिरूप आयनके अनुसार बचनोंको सुनकर जिस मुनिका चित्त सर्व चारित्रिको धारण करता है उस संयमधारी मुनिको मेरा नमस्कार होहु ॥ जिस मुमुक्षु मुनिके सदा व्यवहार और निश्चय प्रतिक्रमण विद्यमान है तथा जिसके अतिशय पूर्वक रंचमात्र भी अप्रतिक्रमण नहीं है ऐसे सर्व संयमरूपी आभूषणके धारी श्री वीरनांदि नाम मुनिको मैं नित्य नमस्कार करता हूँ ॥

इस प्रकार मुक्तिरूपी कमलोंकेलिये सूर्य्यके समान पंचेन्द्रिय विषयके विस्तार सहित शरीरमात्र परिग्रहके धारी श्रीपद्मप्रभुमलधारी वेदसे रचित श्री नियमसार व्याख्याकी तात्पर्य्य वृत्ति नाम टीकामें निश्चय प्रतिक्रमण नामका पंचम श्रुतस्कंध पूर्ण भया ॥

## निश्चयप्रत्याख्यान अधिकार ।

आगे सकल त्यागरूपी जो मुनि दीक्षामई शोभनीक पताका उसके लिये भारी दबके समान तथा सर्व कर्मकी निर्जराका कारण, मोक्ष महलकी सीढ़ीरूप मुक्तिरूपी स्त्रीके मुराको प्रथम विसलानेवाली ऐसी जो सखी उस समान इत्यादि विशेषणों सहित जो निश्चय प्रत्याख्यान उसके अधिकारको कहते हैं ।

प्रथम ही निष्कण्ठ सत्यम प्राप्तावस्थामहा एवमुच्यते इति ।-

**भाष्येण सफलजल्प, - मणागपमुहममुहवारणं किये ।**

**अप्याणं जी प्रापदि, एवमखारणं इति तस्य ॥ १५ ॥**

आशास्त्रार्थं - जो सब वचन जालको त्यागकर आगामी सब दुःख अल्प भावको व कर्मको दूर करके आत्महीका ध्यान करता है उसीके ही निष्कण्ठ प्रत्याख्यान होता है ।

(विशदार्थः) - व्यवहार मयसे भुविगण प्रति दिन भोजन करके अपनी शक्ति के अनुसार आगामीकालिये योग्य काल पर्यंत यह अन्न, पात्र, रसद और लेख ऐसे पार प्रकृत भोजनकी रचिका त्याग करती है । यह टीकाकारने ४ प्रकार आहारके ये नाम दिये है अन्य प्रत्य-  
में साध, स्वाध, लक्ष और वेध हैं जो विशेष नहीं है । इस त्यागको व्यवहार प्रत्याख्यान करते हैं । निष्कण्ठस्यकारक सब वचनकी रचना-  
का जो जोर उसको त्याग करके जो दुःख जानकी व्यवस्था और सेवा है उसकी वृथा नहीन दुःख तथा अल्प प्रत्यकर्म, शानाशानादि और भावकमे राग द्वेषादि इनका जो संवर करना अर्थात् रोकना जो प्रत्याख्यान है । जो कोई मनु अपने आत्माके नीतर परिणामको करके परम कलाक धारक अपने आत्माका ध्यान करता है उसीके निष्कण्ठ प्रत्याख्यान होता है । ऐसा ही भी समयसारजीमें करा है कि अन्न विहाय जो सब ही पदार्थ है वे पर (अन्य) हैं ऐसा जानकर जो प्रत्याख्यान कर अर्थात् त्यागते है, इस कारणसे ऐसा जो प्रत्याख्यान रूप रूप हो ही नियमित प्रत्याख्यान है । तथा भी समयसारजीकी व्याख्या है कि आगामी समस्त कर्मोंको त्यागकर तथा मोहको निरास करके वे निष्कण्ठ ही चैतन्य स्वरूप और निष्कर्म ऐसे आत्म स्वरूपके स्वरूप अनेक स्वरूपके द्वारा वर्तन करता है । टीकाकार करते हैं - कर्मस्वरूपको कर्म स्वरूप ऐसा सम्यगृही जीव समूर्ण द्रव्य कर्म, सब कर्म, नेक कर्म

न्वी परिणामोंको त्याग देता है इसलिये उसीके नित्य प्रत्याख्यान होता है तथा उसीके ही अतिशयकरके कर्मोंको हरनेवाला सम्यक् चारित्र होता है । इसलिये मैं अपने भव भवके क्लेशोंको नाश करने-केलिये नित्य उस भव्यात्माको वन्दना करता हूँ ॥

आगे अनंत चतुष्टयमई अपने ही आत्माके ध्यान करनेका उपदेश संक्षेपमें कहे है:—

केवलणाणसहावो, केवलदंसणसहाव सुहमईओ ।

केवलसत्तिसहावो, सोऽहं इदि चिंतए णाणी ॥ १६ ॥

सामान्यार्थ—जो कोई केवल ज्ञान स्वभाव है, केवल दर्शन स्वभाव है, परम सुरमई है तथा केवलशक्ति स्वभाव है वहाँ मैं हूँ ऐसा ज्ञानीको विचार करना चाहिये ॥

विशेषार्थ:—यहाँ आचार्य उस परम तत्त्वज्ञानी जीवको शिक्षा प्रदान करते हैं जो समस्त बाह्य प्रपंचकी वासनासे रहित सर्वथा प्रकार अपने अंतरंगमें लवलीन है । आदि अत रहित अमूर्तक अतीन्द्रिय स्वभाव-रूप ऐसे शुद्ध सद्भूत व्यवहारनयकरके शुद्ध स्पर्श रस गंध वणोष्ण धारी शुद्धपुद्गल परमाणुके समान केवल ज्ञान केवल दर्शन केवल सुख और केवल शक्ति सहित जो परमात्मा है सो ही मैं हूँ ऐसी भावना अपने सम्यग्ज्ञानके द्वाग करनी योग्य है ॥ अर्थात् निश्चयसे मैं सहज ज्ञान स्वरूप हूँ, सहज दर्शन स्वरूप हूँ, मैं सहज चारित्रि स्वरूप हूँ मैं सहज जेतन्य इति स्वरूप हूँ इस प्रकार भावना करनी चाहिये ॥ ऐसा ही श्री एकस्व-सत्तित्तिये कहा है कि वह परमज्योति केवल ज्ञान दर्शन मुक्तस्वभावमई है । उस ज्योतिके देखते हुए ज्ञानसे क्या नहीं जाना गया, हृदिये क्या नहीं देखा गया, धृतिसे क्या नहीं सुना गया । अर्थात् वह ज्योति आत्माकी स्वयं ज्ञान-दि स्वरूप है उसके जानते हुए सर्व ज्ञान दिख जाता है ॥ टीकाकार कहते हैं वह परमात्मा जयन्त हांशु त्रिधर्मे

मूर्ति केवल ज्ञानरूप है जो संपूर्णरूपसे निर्मल दर्शनको धारनेवाला है जो अविनाशी आनंदरूप है तथा जो स्वाभाविक परम चैतन्य शक्तिस्वरूप है, अविनाशी है और मुनीश्वरोंके चित्तरूपी कमल सरोवरके लिये राजहंस है ।

आगे परमभावनाके सन्मुख जो ज्ञानी उसको फिर शिक्षा कहते हैं—  
**णियभावं णवि मुंचइ, परमावं णेव गेण्हए केइं ।**  
**जाणादि पस्सदि सव्वं, सोऽहं इदि चिंतये णाणी॥९७॥**

सामान्यार्थ—जो अपने भावको कभी नहीं छोड़ता है, तथा किसी भी परभावको कभी ग्रहण नहीं करता है परन्तु सर्वको जानता है और देखता है सोही मैं हूँ ऐसा ज्ञानी चिंतवन करे ॥

विशेषार्थ—जो कोई कारणपरमात्मा सम्पूर्ण पापरूपी वीर वैरियोंकी सेनाकी धुजाको टूटनेवाला है तथा तीन कालमें आवरणरहित, निरंजन, अपने आत्माके परमभावको कहीं भी कभी नहीं छोड़ता है तथा पंच परावर्तनरूप संसारको घटानेवाले विभावर्माई पुद्गल द्रव्यके संयोगसे उत्पन्न जो राग द्वेषादि भाव उनको कभी भी ग्रहण नहीं करता है तथा जो निश्चयकरके कारण परमात्माको जानता है ।  
 कैसा है कारण परमात्मा, जो अपने निरावरण निर्मल परम ज्ञानके द्वारा सहजज्ञान सहजदर्शन सहज चारित्र आदि स्वाभाविक धर्मोका आधार आधेय भावरूपी जो विकल्प उससे रहित होने पर भी सदा मुक्त रूप है तथा जो परमात्मा स्वाभाविक मोक्ष बंधुके संयोगसे उत्पन्न जो प्रेम उसमें लीन है । इसीप्रकार निश्चयकरके उस कारण परमात्माको जो कोई अपनी स्वाभाविक दृष्टिसे देखता है वही कारण सत्यसाररूप मैं हूँ मुझमें और कारण परमात्मामें कोई अन्तर नहीं है इस प्रकार सम्यग्ज्ञानियोंको नित्य भावना करनी चाहिये । ऐसा ही श्रीपूज्यपादस्थानीने कहा है कि जो कोई नहीं ग्रहणे योग्य वस्तुको ग्रहण नहीं करता है, तथा जो

ग्रहण किये हुए हैं उसको कभी नहीं छोड़ता है। परन्तु सर्व पदार्थों से सर्व प्रकारसे जानता है वही स्वसंवेद्यरूप में हूँ अर्थात् अपने ही द्वारा अपना अनुभव करनेको मैं समर्थ हूँ। टीकाकार कहते हैं—ब्रह्मा अपने आत्मामें अपने आत्मीक गुणोंसे भरपूर आत्माको जानता और देखता है वही एक उसका परिणामिक पंचम भाव है। इस आत्माने अपने सहज स्वभावको कभी नहीं छोड़ा और न यह आत्मा अन्य किर्त्त परभावको ग्रहण करता है और न किसी पुत्रलसम्बन्धी विकार भावको धारण करता है ॥ तथा चैतन्य मात्र चिन्तामणि जो मेरा स्वरूप उसमें मेरा अंतःकरण रात्रिदिन लीन है। मेरे मनने परद्रव्यको ग्रहण करनेसे जो विग्रह ( विकार ) पैदा होता है उसको त्याग दिया है। मुझे विशुद्ध पूर्ण स्वाभाविक ज्ञान स्वरूप सुखकी ही प्राप्ति प्रयोजन है। मुझे अन्य पदार्थके भोगनेकी आवश्यकता नहीं है। चार प्रकारके देवोंकी तृप्ति जब उनके कंठमें झरनेवाले अमृतसे ही हो जाती है तब अन्य ग्रसरूप आहार करनेकी उन्हें कोई जरूरत नहीं है। इसका कोई आश्चर्य नहीं मानना चाहिये। तथा जो कोई पुण्यात्मा जीव इस पुण्यमई कर्म तथा भावको भी त्याग कर निर्दिन्द, उपद्रव रहित, उपमारहित, नित्य, अपने आत्मासे ही उत्पन्न तथा जिसकी उत्पत्तिमें अन्य किसी द्रव्य व विभावकी गम्य नहीं है ऐसा जो आनन्द अमृतमई निर्मल जल उसको पीता है वही प्रगटपने उसीसमय अद्वितीय, अतुल चैतन्यमात्र चिन्तामणि रत्नको प्राप्त करता है ॥ कौन ऐसा विद्वान् है जो कहेगा। इ पर द्रव्य मेरा ही है ?। कैसा है विद्वान्, जो अपने आत्माकी महिमाको जानता है कैसी है महिमा, जो श्री गुरुके चरणोंकी भक्ति और सेवासे प्रगट हुई है ॥ अर्थात् ज्ञाता कभी परको अपना नहीं कह सकता।

आगे भव्य जीवको शिक्षा करते हैं कि बंध रहित आत्माकी ही भावना करनी चाहिये:-

पयट्टिद्विअणुभाग,—पदेसबपेहिं पज्जिदो अप्पा ।  
सोहं इदि चिंतिज्जो, तत्थेय य कुणवि धिरभायं ॥९८॥

सामान्यार्थ —यह आत्मा निधयसे प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेस बंध ऐसे चार प्रकार बंधोंसे रहित है जो ऐसा है वही मैं हूं इस तरह चिन्तन करता हुआ जानी उसीमें ही अपने स्थिर भावको करता है ।

विशेषार्थ —शुभ तथा अशुभ मन, वचन और कायकी क्रिया-  
ओंसे प्रकृति और प्रदेस बंध होते हैं । चारों शोधादिक्रियाओंसे स्थिति  
और अनुभाग बंध होते हैं । इन चारों ही प्रकारके बंधोंसे रहित  
सदा उदाधि रहित स्वरूप ही निधयकरके यह आत्मा है सोही मैं हूं  
सम्यग्ज्ञानीको निरंतर ऐसी ही भावना करनी चाहिये ॥ टिकाकार  
कहते हैं कि मोक्षके इच्छुक पुरुष सहज परमानंदरूप धैतन्यमई उपमा-  
रहित मुनिराग्यके मूढभूत ऐसे एक अपने स्वभावको ही ग्रहण करते  
हैं, इसलिये हे मित्र मेरे वचनोंका सार गुनकर तू अतिशयकरके स्वयं इस  
अपने धैतन्यके श्रमत्कारमात्र स्वभावमें ही अपने बुद्धिकर ।

आगे समस्त विभाव भावोंको त्याग करनेकी विधि कहते हैं:—

ममत्तिं परिवज्जामि, णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो ।

आलंबण च मे आदा, अवसेसं च वोसरे ॥ ९९ ॥

सामान्यार्थ —मैं ममताभावको त्यागता हूं तथा आत्माके निर्म-  
मत्व भावमें ही ठहरता हूं । निधयकरके मुझको आत्माका ही आलम्बन  
है । शेष सर्वको मैं त्यागता हूं ॥

विशेषार्थ.—मुन्द्र ही सुवर्ण आदि समस्त परद्रव्योंके गुण और  
पर्यायोंमेंसे मैं अपने ममता भावको हटाता हूं, परमोपेक्षा लक्षणसे चि-  
न्हित जो मेरे आत्माका ममत्व रहित परिणाम उसीमें ही ठहरकर तथा  
अपने आत्माका ही आलम्बन लेकर सांसारिक सभोगोंसे उत्पन्न जो

मुक्तबुद्ध भादि भ्रंश विभाव रक्षणम् उनको त्यागना हूँ। दंत में धीअमृतचंद्र सूर्यनि कता है—कि मेरे पापदुःख काष्ठोंको हटाकर निश्चयमे निष्कर्मरूप आत्मामें आचरण करने हुए मुनिगण अज्ञानरूप नहीं हो जाते हैं अर्थात् सहाय रहित नहीं होते उम समय अपने ज्ञानस्वरूप आत्मामें अपने आत्मज्ञानका आचरना यही उनको शरत्त्व है। वे मुनि स्वयं ही अपने आत्मीक तत्त्वमें लीन रहकर पाप अज्ञान अनुभव करते हैं। ऐसा ही टीकाकार कहते हैं—में नियन्त्रे सम्पूर्ण मन वचन काय और इन्द्रियोंकी इच्छाको, तथा संसार समुद्रसे उत्पन्न मोक्षरूप जलजंतुओंके समूहोंको तथा सुवर्ण और हीरेकी बाँछाको इत्यादि सर्वको अपनी अत्यन्त तीव्र विशुद्ध ध्यानमई सर्वे शक्तिसे त्याग देना हूँ ॥ भावार्थ—आत्मध्यानमें लीन होते ही सर्व विभावभावोंका प्रत्य हो जाता है ॥

आगे कहते हैं कि सब स्थानोंमें एक आत्मा ही उपादेय है:—

आदा खु मज्झ णाणे, आदा मे दंसणे चरिते य ।

आदा पच्चक्खाणे, आदा मे संवरे जोगे ॥ १०० ॥

सामान्यार्थ—निश्चयकरके मेरे ज्ञानमें आत्मा है। मेरे दर्शनमें आत्मा है, मेरे चारित्र्यमें आत्मा है, प्रत्याख्यान अर्थात् त्यागमें आत्मा है तथा मेरे संवर और उपयोगमें आत्मा है।

विशेषार्थ—यह आत्मा निश्चयकरके आदि अंत रहित अमूर्तीक अतीन्द्रिय स्वभावरूप शुद्ध स्वाभाविक सुखमई है। यही आत्मा स्वभावसे शुद्ध ऐसी जो शुद्ध ज्ञान चेतना उसमें परिणमन करनेवाला जो मैं सो मेरे सम्यग्ज्ञानमें शोभायमान है। यही आत्मा परम पूजनीक पंचम गति जो मोक्ष उसके लाभ करनेका जो साधनरूप पांचमां पारिणामिक भाव उसकी भावनामें रमण करनेवाला जो मैं सो मेरे स्वाभाविक



सम्यग्दर्शनमें भी प्रकाशमान है। साक्षात् निर्वाण प्राप्ति करनेका उपाय जो निज आत्मस्वरूपमें अविचल होकर स्थिति होना है उसरूप जो स्वाभाविक परम चारित्र है उसमें परिणमन करनेवाला जो मैं सो मेरे सहज चारित्रमें भी वही आत्मा है। वह परमात्मा जो सदा निकट ही है जो सदा अपने पास ही विराजमान है वही आत्मा निश्चय प्रत्याख्यानमें भी है। कैसा है निश्चय प्रत्याख्यान, जहाँ शुभ अशुभ, पुण्य पाप, सुख दुःख इन उर्होंका सम्पूर्णपने त्याग है ॥ मैं भेद विज्ञानमें लीन हूँ, परद्रव्योंसे पराहमुख हूँ, पंचेन्द्रियोंका जो फेलाव उससे रहित शरीरमात्र परिग्रहका धारी हूँ, मैं स्वाभाविक वैराग्यरूपी महलके शिखरका शिखामणि हूँ, स्वरूपमें गुप्त हूँ, पापरूपी वनीके जलानेकेलिये अग्नि समान हूँ, मेरे शुभ तथा अशुभके संवरकी अवस्थामें वही आत्मा है, मैं अशुभापयोगसे पराहमुख हूँ, मैं शुभापयोगसे भी उदासीनतारूप हूँ साक्षात् शुद्धोपयोगके सन्मुख हूँ। परमागमकी मकरंद (सुगंध) उसमें लीन ऐसा मैं जो पद्मप्रभ सो मेरे शुद्धोपयोगमें भी वही परमात्मा अपने सनातन सदाके प्रार्थन स्वभावरूपसे विराजमान है ॥ ऐसा ही एकच स्वप्नतिमें कहा है—वह आत्मा ही एक परम ज्ञान है वही एक पवित्र सम्यक् दर्शन है वही एक सम्यक् चारित्ररूप होता है वही एक निर्मल तप है ॥ वही एक नमस्कार करने योग्य है। वही एक मंगल (सुखदाता) है, वही एक सर्वमें उत्तम पदार्थ है, सन्त साधु जनोंकेलिये वह आत्मा ही एक शरणरूप है वह आत्मा ही एक आचाररूप है, वही आवश्यक क्रियारूप है, स्वाध्यायरूप भी वही एक आत्मा है ऐसे ही आत्मस्वरूपमें योगीजन स्थिति करते हैं ॥ ऐसा ही टीकाकार कहते हैं। मेरे स्वाभाविक सम्यग्दर्शनमें, मेरे शुद्ध सम्यग्ज्ञान और चारित्रमें तथा मेरे शुभ अशुभ कर्मोंके त्यागके अवसरमें वही परमात्मा है। वही शुद्ध आत्मा मेरी सवर अवस्था तथा मेरे शुद्ध उपयोगमें है। इस जगतमें मोक्ष प्राप्तिकेलिये अन्य कोई पदार्थ ऐसा नहीं है ॥ वही आत्मा कहीं तो

निर्मलरूपमें शांति है। कहीं शुद्धाशुद्ध मिश्र भावस्वर द्वांसता है, कहीं  
 विलक्षण अशुद्ध ही लक्षता है, अजानीकेडिङ्ग यही आत्मा परम स्थिति  
 कठिनतामें शान्तियोग्य है। यही आत्मा निज आत्मीक जानकारी शक्ति  
 कसे पासीको नाश करनेवाला है, यही शायकस्वर है। यही आत्मा इदं-  
 स्पी कमलके महलमें निश्चलरूपमें विराजमान है।

आगे कहे हैं कि संसार अस्थानमें अथवा मुक्त अस्थानमें यह शक्ति  
 सहाय रहित है —

एगो य मरदि जीवो, एगो य जीवदि सयं ।

एगस्स जादि मरणं, एगो सिज्झादि गीरयां ॥१०१॥

सामान्यार्थः—यह जीव अकेला ही मागजाता है—स्वयं अकेला ही  
 जन्मता है, एकलाही मरता है तथा एकलाही कर्मोंसे छूटकर सिद्ध होता है।

विशेषार्थः—नित्य मरणावस्थामें अर्थात् नित्य आयुनिषेकोके क्षण  
 मरणमें तथा उस पर्यायके छूटनेरूप मरणमें किसी अन्यकी सहाय विना  
 व्यवहारकरके एकला ही जीव मारा जाता है अर्थात् व्यवहार श्वाशोच्छ्वासादि  
 प्राणांसे रहित होता है—आदि और अंतसहित, मूर्तीक तथा आत्माकी जातिसे  
 विलक्षण ऐसी जो विभाव व्यंजनपर्यायरूप मनुष्यदेहकी व नरकादि  
 देहकी प्राप्तिमें अति निकट अनुपचरित असद्रभूत व्यवहार नयकरके  
 स्वयं यह जीव अकेला ही जन्मता है। सर्व बंधुओंसे रक्षा किये जाने  
 पर भी तथा महापराक्रम धारी होने परभी विना इच्छा व याचनाके स्वयं  
 ही अकेले एक जीवका मरण हो जाता है। तथा परमगुरुके प्रसादसे  
 जिसको अपने ही आत्माके आश्रयमें रहनेवाला निश्चय शुद्धध्यान प्राप्त  
 हो जाता है वह जीव उसके बलसे अपने आत्मस्वरूपकी व्यापकर  
 कर्मरूपी रजसे छूटकर शीघ्र ही स्वयं अकेला निर्वाणको प्राप्त हो जाता  
 है। ऐसा ही अन्य ग्रंथमें कहा है कि यह आत्मा स्वयं ही कर्मोंको  
 करता है, स्वयं ही उन कर्मोंके फलको भोगता है। स्वयं ही संसारमें

धूमता है तथा स्वयं ही संसारसे मुक्त होता है । ऐसा ही धी सोमदेव पंडितदेवने कहा है—यह जीव अकेला ही जन्म और मरणमें प्रवेश करता है तथा अकेला ही अपने किये कर्मोंके फलको भोगता है दूसरा कोई भी सुख दुःखकी विधिमें सहाय नहीं करता । अपनी आजीवकाके-लिये ही नटको अपनी पेटा मिटी है । भावार्थ—नट स्वयं खेल करता है और स्वयं उसके फलको भोगता है । ऐसा ही टीकाकार कहते हैं—यह जीव अकेला ही प्रबल कर्मके उदयसे जन्म और मरणको प्राण होता है तथा अकेला ही तीव्र मोहके उदयसे, सदा आत्मीक मुग्धसे विमुक्त होता हुआ शुभ अशुभ कर्मके फलरूप सुन्दर सुख तथा दुःखको बार-बार भोगता है । तथापि किसी भी उपायसे किसी मुक्तके निमित्तसे अपने एक आत्मीक तत्वको पायकर यह जीव स्वयं उमीमें ही ठहरता है ॥

आगे एकत्वभावनामें लीन सम्यग्ज्ञानीका लक्षण कहते हैं:—

एको मे सासदो अप्पा, जाणदंसणलक्खणो ।

सेसा मे बाहिरा भावा, सच्चवे संजोगलक्खणा ॥ १०२ ॥

सामान्यअर्थ:—निश्चयकरके मेरा आत्मा एक अविनाशी है, ज्ञान दर्शन लक्षणका धारी है । मेरे आत्मीक भावके सिवाय अन्य सर्व्व भाव मझसे बाहर हैं तथा सर्व्व ही भाव संयोगलक्षण हैं अर्थात् पर द्रव्यके संयोगसे उत्पन्न हुए हैं ॥

विशेषार्थ —यह आत्मा द्रव्य कर्म और भाव कर्मोंके अभावसे एक अकेला है । जैसे हैं ये कर्म, जो समस्त संसाररूपी नंदनवनके वृक्षोंकी प्यारीमें जल भरनेकेलिये प्रणालिका (मोरी) उसके समान है तथा इस संसारिक कटेवर जो नोकर्म उसके कारणभूत हैं । अर्थात् इन्हीं कर्मोंके निमित्तसे नये कर्मोंका आध्व और बंध होता है । यही आत्मा सर्व्व क्रियाकांडका आदेवर और उसकेलिये नानाप्रकारके कोडाहल उनसे

दूरवर्ती ऐसी जो ज्ञान चेतना उसमें अतीन्द्रिय मुक्त उसके भांगनेवाला है तथा अविनाशी है। यही मेरे लिये उपादेय है। यही तीनों काटोंमें उपाधि रहित स्वभावको धारनेवाला है और आवरण रहित निर्मलज्ञान और दर्शन लक्षणसे पहचानने योग्य कारण परमात्मा है। तथा शुभ तथा अशुभ कर्मोंके संयोगसे उत्पन्न भए मेरे आत्माके निज स्वरूपसे भिन्न समस्त बाह्य और अभ्यंतर परिग्रह हैं ऐसा मेरा निश्चय है। भावार्थ ॥ मैं शुद्ध आत्मा ही हूँ। मुझसे भिन्न सर्व पद हैं।

टीकाकार—कहते हैं कि मेरा परम आत्म स्वभाव अविनाशी है यही एक स्वाभाविक परम चैतन्य चिन्तामणिरूप है निश्चय शुद्ध है मर्यादा-विना अपने दिव्य ज्ञान दर्शनकरके पूर्ण है अन्य बहुत विकल्पोंसे तथा बाह्य पदार्थोंसे मुझको किस फलकी प्राप्ति होगी? अर्थात् अन्य भावोंसे मुझे कोई उपादेय फल नहीं प्राप्त होगा।

आगे आत्मामेंसे दोषोंको छुटानेका उपाय कहते हैं—

जं किञ्चि मे दुश्चरिचं, सत्त्वं तिविहेण वोसरे ।

सामाद्रयं तु तिविहं, करोमि सत्त्वं णिरायारं ॥१०३॥

सामान्यार्थः—जो कुछ मेरा दुष्टरूप चारित्र्य है उस सर्वको मैं मनवचन कायसे त्यागता हूँ। तथा तीन प्रकारसे सर्व तरहसे निराकार जो सामयिक सो करता हूँ ॥

विशेषार्थः—यद्यपि मैं भेद विज्ञानी हूँ परम तपोधन ( तपस्वी ) हूँ तथापि पूर्व संचित कर्मोंके उदयके बलसे चारित्र्य मोहके उदय होते जो कुछ भी दोषरूप आचरण मुझसे बन गया होय उस सर्वको मन वचन कायकी शुद्धिकरके त्यागता हूँ। सामयिक शब्दसे चारित्र्य ग्रहण करना। सो मैं सामयिक, छेदोपस्थापना और परिहार विशुद्धि ऐसे तीन प्रकार चारित्र्यको करता हूँ अथवा जयन्त्यरूपसे वर्तता जो रत्नत्रय

उसको उत्कृष्टरूप करता हूँ । नवपदार्थ उः द्रव्यके श्रद्धान ज्ञान और आचरण स्वरूप जो रत्नत्रय सो साकार हैं विकल्प सहित हैं । उस सविकल्प रत्नत्रयको मैं आत्मस्वरूपके श्रद्धान ज्ञान और आचरण स्वरूप जो स्वभाव रत्नत्रय उसमें जो निराकार अर्थात् निर्विकल्प और शुद्ध अवस्था उसरूप करता हूँ । अर्थात् व्यवहार रत्नत्रयके द्वारा निश्चय रत्नत्रयको प्राप्त करता हूँ अथवा भेदोपचाररूप चारित्रिको अभेदोपचाररूप करता हूँ । और अभेद उपचाररूप चारित्रिको अभेद अनुपचाररूप करता हूँ । भावार्थ—भेदोपचाररूप चारित्रिक व्यवहार महाव्रतादि पाठन है, अभेदोपचाररूप चारित्रिक शुद्धात्माकी भावना स्वरूप है, और अभेद अनुपचाररूप चारित्रिक स्वभावमें निश्चल अवस्थारूप स्थितिमें है ॥ इस प्रकार क्रमसे तीन प्रकार सामायिकको स्वीकार करनेसे त्रिगकार चारित्रिक प्राप्त होता है । कैसा है निराकार चारित्रिक, जहाँ स्वाभाविक परमतत्त्वमें अविचल स्थिति है तथा वही स्वाभाविक निश्चय चारित्रिक है क्योंकि वही निराकार तत्त्व जो आत्मीक तत्त्व उसीमें लड़ीनपना है ॥ ऐसा ही श्री प्रवचनसारजीकी व्याख्यामें कहा है कि द्रव्यको अनुसरन करनेवाला चारित्रिक होता है । अर्थात् आत्मद्रव्यको सिद्ध करनेवाला चारित्रिक होता है तथा चारित्रिके अनुसार प्राप्त होनेवाला आत्मद्रव्य होता है । अपेक्षासे दोनोंका ही यहाँ उदय है । जहाँ आत्मद्रव्य है वहीं चारित्रिक है इसलिये चाहे द्रव्यकी प्रतीतिकरके चाहे आचरणकी प्रतीतिकरके मोक्षका चाहनेवाला मोक्षमार्गमें आरोहण करता है अर्थात् मोक्षके उपायमें उन्नति करता है ॥ टीकाकार कहते हैं—जो मुनि यती आत्माके खेतन्यपनेकी भावनामें आसक्त बुद्धि है वे यती संसारमें गिरानेके स्वभावको धारनेवाला जो यम ( काल ) उसको नाश करनेके कारण होते हैं अर्थात् भयमें भ्रमणका कारण जो कर्म उसको दुःख कर देते हैं ।

आगे कहते हैं जो अंतरंगमें लीन होकर मुनिग्य आचरण करते हैं  
उन्हींके भावोंकी शुद्धता होती है:—

सम्मं मे सच्चभूदेत्तु, वेरं मज्झं ण केणवि ।

आसाए वोत्तरित्ता णं, समाहि पडिवच्चए ॥१०४॥

सामान्यार्थः—सर्व प्राणियोंसे मेरे समता भाव है तथा किञ्चि  
भी साथ मेरा वैरभाव नहीं है । निश्चयकरके आशाको त्याग करके  
समाधि भावको प्राप्त होता हूँ ॥

विशेषार्थः—समस्त इन्द्रियोंके व्यापारसे छूटाहुआ ऐसा जो मैं  
सो मेरे भेद विज्ञान ज्ञानी अज्ञानी सर्व ही प्राणियोंमें समता भाव है ।  
निद्रपनेकी अथवा द्वेषपनेकी परिणतिके अभाव होनेसे मेरा किसी भी  
मनुष्यके साथ वैर भाव नहीं है, तथा स्वाभाविक वैराग्यमें परिपन्न  
करनेवाला ऐसा जो मैं सो मेरे एक भी आशा नहीं विद्यमान है, इच्छित्ते  
परम समता रसमें डूबा हुआ जो भाव उस भावकी स्वानिनी जो परम  
समाधि ( उत्कृष्ट समता ) उसके भावको ही मैं प्राप्त होता हूँ ॥ ऐसा ही  
श्रीयोगीन्द्र देवने कहा है:—“मुक्त्वात्सत्त्वनाधिस्वप्नवसोत्पन्नः स्मृत्वा  
परां च समतां कुठदेवतां त्वं । संज्ञानचक्रनिर्दम्य गृह्यात्तुर्गलज्ञाननेत्रिपुन-  
मोहरिपुन्यमर्द्ध ” ॥ भावार्थ—हे संसारी जीव तू इनमें वसता हुआ  
आत्मस्यको त्यागकर और अपनी कुठदेवी जो उत्कृष्ट समता उत्कृष्ट  
स्मरण करके शीघ्र ही सम्यग्ज्ञानरूपी यकको गृहण कर और अज्ञाननेत्री  
करके सहित मोहरूपी स्रजुका मर्दनकर । टोकाकर करते हैं कि मैं  
इस समताकी अतिशयकरके भावना करता हूँ । किसी हे समता, ये  
मुक्तिरूपी रसमें हमारे समान दित है । अतुर्नर्नर जो मोक्ष उनके  
सुखकी जड़ है । सोटी भावनाके अंशकारमई समूहको नाश करनेके-

१. उत्कृष्ट टोकावे इसके करते “ मुक्त्वात्सत्त्वति ” एतदे विद्या है ।

लिये चंद्रमाकी कीर्ति अर्थात् निर्मल चांदनीके समान है तथा संयमी मुनियोंको तत्काल ही सम्मत अर्थात् माननीय है । इस समताकी जय हो । जो समता नित्य योगियोंको भी दुर्लभ है तथा आत्मीक मुरको बढ़ानेके लिये प्रफुल्लित पूर्ण चंद्रमाकी प्रभाक समान है । परम यमी जो महावती मुनि उनकी दीक्षारूप स्त्री उसके मनको प्यारी यह समता मर्सीके समान है । तथा मुनिवरोंके गणकेलिये यह समता एक अतिशयमई अलंकार है. यही समता जगतके प्राणियोंकेलिये भी परम आभूषण है ।

आगे निश्चय प्रत्याख्यानके योग्य जो जीव तिसका स्वरूप कहते हैं:-

णिक्लसायस्स दांतस्स, सुरस्स वयसायिणो ।

संसारभयभीदस्स, पच्चकराणं सुहं हये ॥ १०५ ॥

सामान्यार्थः—जो कपाय रहित है, इन्द्रिय दमन करनेवाला है, योद्धा है, उद्यमी है, तथा संसारसे भयभीत है उसीके ही मुरमई यह प्रत्याख्यान होता है ।

विशेषार्थः—जो मुनि सर्व कपायरूपी कलंककी कचसे विमुक्त ( रहित ) है, जिसने सर्व इन्द्रियोंके ध्यापारोंको विजय करलेनेसे परम दमपना प्राप्त किया है, तथा जिसने सम्पूर्ण पगीसहरूपी महान् योद्धाओंको विजयकरके अपने योद्धापनेके गुणोंको उपजाया है । और जो मुनि निश्चयरूप जो परम तपधरण उसमें लीन हो शुद्धभावका धारी है तथा जो संसारसे भयवान है उसीके ही व्यवहारनयसे चार प्रकार आत्मरका त्यागरूप प्रत्याख्यान होता है । यह व्यवहार प्रत्याख्यान मिथ्या-दृष्टि पुरुषके भी कहीं किसिके चात्रि मोहके उदयरूप जो द्रव्यकर्म और भावकर्म उनके क्षयोपशमसे ले जाता है । अतएव जो निश्चयनयकरके प्रत्याख्यान है वही वास्तविक प्रत्याख्यान है । यह प्रत्याख्यान अत्यन्त निष्कट भव्य जीवोंके ही होता है । जैसे मुक्ताकी रसनेवाले पत्थरका

उपादेयपना है अर्थात् मानपना है ऐसा अंधपापाणका नहीं है क्योंकि उससे सुवर्ण प्राप्त नहीं हो सकता । इसलिये संसार शरीर और भोगोंसे जो वैराग्य है वही निश्चय प्रत्याख्यानका कारण है—आगामी कालमें जिनका होना संभव है ऐसे सर्व मोह राग द्वेषादि नानाप्रकारके विभावोंका त्यागना ही परमार्थ प्रत्याख्यान है । अथवा आगामी कालमें होनेवाले विविध जो अंतरंगमें वचनरूपी विकल्प उनका त्याग करना सो शुद्ध निश्चय प्रत्याख्यान है ॥ टीकाकार कहते हैं कि हे मुनिप्रधान ! यह प्रत्याख्यान जिनेन्द्रमतसे प्रगट भया है, यही परम मुनियोंको उत्कृष्ट निर्वाण सुखका करनेवाला है, यही स्वाभाविक समतादेवोंके सत्य कर्णोंका आभूषण कर्णफूल है तथा अतिशयकरके यही दीक्षारूपी छी उसको अत्यन्त यौवनवान करनेका कारण है । ऐसे प्रत्याख्यानकी निरंतर जय होतु ॥

आगे निश्चय प्रत्याख्यान नामा अध्याय उसको संक्षेपते हुए संक्षेपमें कहे हैं:—

एवं भेदव्भासं, जो कुव्वइ जीवकम्मणो णिच्चं ।

पच्चकरवाणं सक्कादि, धरिदे, सो संजदो णियमा ॥ १०६ ॥

सामान्यार्थः—ऊपर कहे प्रमाण जो कोई जीव और कमोठे भेदके अभ्यासको नित्य करता है वही संयमी नियमकरके प्रत्याख्यानको धारण कर सकता है ॥

विशेषार्थः—जो कोई श्रीमान अर्हत भगवानके मुसकमलसे प्रगट जो परमाणुम उसके अर्थको विचार करनेमें समर्थ है तथा अपने भेदाभ्यासके चलसे अशुद्ध आत्माके साथ जो कर्म पुत्रुलोंका अनादि बंधनका सम्बन्ध है उनके अर्थात् आत्मा और कर्मके भेदको कर देता है अर्थात् दोनोंको भिन्न २ अनुभव करता है वही परम संयमी निश्चय और



व्यवहार प्रत्याख्यानको स्वीकार करता है । टीकाकार कहते हैं—आगामी कालमें होनेवाला जो संसार उसके भावोंको दूर करनेवाला मुनियोंका स्वामी रात्रि दिन सम्पूर्ण सुखका निधान, निर्मल, आत्मीक स्वरूपमें जो सोहं तत्त्व उसकी भावना अपने कर्म मल छुड़ानेकेलिये करा करता है । भावार्थ—जैसे सिद्ध भगवान हैं वैसे ही मैं हू यह भावना परम सुखदाई और स्वरूप समाधिको कारण है ॥ जिनेन्द्र भगवानने इस तत्त्वको भयानक संसाररूपी समुद्रसे पार करनेकेलिये एक शोभनीक जहाजके समान कहा है । निश्चयसे यही परम तत्त्व है इसलिये मोहको जीतकरके मैं तत्काल इसीकी ही भावना करता हूँ ॥ यह प्रत्याख्यान निरंतर उसीके ही होता है जो शुद्ध चारित्रिकी मूर्ति है तथा जिसने पर द्रव्यके भ्रमको नाश करदेनेसे स्वाभाविक परमानन्दमें चैतन्य शक्तिके द्वारा विकल्परूप बुद्धिको नष्ट कर दिया है । अन्य आगममें लीन अन्य योगियोंका मुख दान ( उपयोग ) इस ओर नहीं हो सकता । इसके बिना पुनः पुनः जीवोंको इस भयानक संसारमें भ्रमण होता है । वह सिद्धात्मा महान आनन्दोंमें परमानन्दरूप है, जगत्में प्रसिद्ध है, अविनाशी स्वरूप है, अतिशयकरके अपने निज गुणमें ही जिसकी निहित बस्ती है । ऐसे आनन्दरूपको छोड़कर यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि ये विद्वान लोग भी तीव्र कामके शस्त्रोंसे पीडित हो किस प्रकार पापसे हते हुए जड़ बुद्धि होकर पाप कार्यकी इच्छा करते हैं ॥ प्रत्याख्यान करनेसे ही मुनियोंको प्रगटरूपसे अत्यन्त शुद्ध सम्यग्चारित्र होता है । वैसे ही सम्यग्चारित्र रूप आत्म तत्त्व, जो पापरूपी वृक्षोंसे भरी जो संसाररूपी बनी उसके जलानेकेलिये अग्निके समान है । हे मत्स्योमें सिंह ! तू अपनी बुद्धिमें इसी तत्त्वको धारण कर, यही तत्त्व स्वाभाविक मुखदा देनेवाला और मुनिओंके स्वभावका मूल है । उस सहज आत्मीक तत्त्वकी जय हो । जो स्वाभाविक तत्त्व आत्मीक तत्त्वमें धारी है बुद्धि जिन्होंने उनके इक्षरूपी



## निश्चयान्तरनाधिकार ।

—

आम निश्चय आत्मनाशुद्धि के लिये है -

नाशुद्धि, अमर्षादयं, सिद्धाद्युत्पन्नपरिहृतिं च विदित्वा ।  
अप्यामी जा प्रायदि, समणस्यान्तरणं ह्येति ॥१७७॥

साक्षात्कारार्थं जो मुनि जायाही माकामे, दुःखकामे तथा  
विद्युत्पन्न अथ पर्यायादयश्च एतेन श्रुत्या हे एतेन समणक आत्मो-  
चना होती हे ॥

विद्यायां - औदात्त, वैदिक, जाहाक एतरे ही भाग्ये हे ।  
नामावर्णा दशानावर्णा, अताय, मोहनी, वेदनी, आयु, नाम, ओरंगेव  
थ अठकमे दुःखकामे हे । कामोकी उदात्तकी जही अंशान्तरणी हे ऐसी  
निश्चय एते माकामे एतेन साक्षात्कारे जी एते निश्चय दृष्ट्यादिक अथ  
एतेकी अंशान्तरण एते आमी दुःखकामे और मोकामोले एतित हे । अति-  
ज्ञान अज्ञान अर्थात्ज्ञान, अनपर्यवज्ञान विभाष गुण हे तथा नर,  
माक, विधिथ इव य अज्ञान पर्याय हे तथा ये ही विभाष पर्याय हे ।  
गुण अनादी हात हे और पर्याय अम समण वर्तनेवादी होती हे ।  
इन समण विभाष गुण और पर्यायसे आ आत्मा एतित हे  
तथा अथन अनाथ गुणोदक सहित हे ऐस तीनी काठोमे  
अनरम एतत कर्मानुषे दूर ऐस परम मुख्य आत्माको जो कोई  
परमअमण ( परम दिग्गतर परी ) अनरचन कायकी गुणिसई  
समर्थादिक अठसे निश्चय अनाथ अमयमे समत अथन अथनाके अथन  
अठसे अनुभव हो अथान्तर एतित ही आता हे उसी भावमनिके निरन्तर  
निश्चय आत्मोचना होती हे ॥ ऐसीही भी अमृतचंद्र सूरीने कहा हे.—

कि मोहके निग्राममें उद्यस्वर जो एक सम्पूर्ण उद्यमे प्राप्त करने के उत्तरी आलोचना करके अर्थात् उमका त्याग करके सम्पूर्ण को-व स्वल्प आत्माके अंतर् में नित्य अपने आत्मस्वरूपके द्वारा वर्तन करना है ॥ श्री उपासकाध्ययनमें ऐसा कहा है कि हृत्, काण्ठ और अङ्गु- मोहनामे कष्ट रहित हो सर्वपापको त्यागकर माण पर्यन्त सम्पूर्ण ब्रह्म- र्त्वे महाप्रतीको धारण करना योग्य है । ऐसा ही शौचाकार कर्त्त- र्त्त-में आलोचना करने योग्य जो पाप संसारके पृथ वसन्त रूपके अर्थ पाप इनको नित्य त्यागकर अपने आत्मा द्वारा प्राधिकार गुणाने १२२ सु-साक्षात् ही अरंभचन अर्थात् आश्रय देता है । तथापि अनेकाने- काह वसन्त उद्यमकी यकृतीशो नष्ट करके स्वाभाविक विद्यमान- के माण ही स्वामीको प्राप्त होकेगा ॥

अथ अन्तः कलाका दक्षिण और वेद करने के

आलोचनामानुष्या, विपत्तीहरणं च मायानुत्थी प ।  
 अद्विद्विभङ्ग परिहृष्टिपै, तादायगतकर्मणं यथाप्रा १७८।

आलोचनायै आत्मसंसाधिकाका दक्षिण और वेद करने के-  
 मया है । तन्मय आश्रय, जो सु-जन, - १७८, १७९, १८० । यथा मायानुत्थी हृत्  
 हृत् नानुत्थी अन्तः कलाके १७८ ।

विद्विद्विभङ्ग परिहृष्टिपै, तादायगतकर्मणं यथाप्रा १७८।  
 अन्तः कलाका दक्षिण और वेद करने के । तन्मय आश्रय, जो सु-जन,  
 - १७८, १७९, १८० । यथा मायानुत्थी हृत् नानुत्थी अन्तः कलाके १७८ ।  
 अन्तः कलाका दक्षिण और वेद करने के । तन्मय आश्रय, जो सु-जन,  
 - १७८, १७९, १८० । यथा मायानुत्थी हृत् नानुत्थी अन्तः कलाके १७८ ।

बर्जन कोमे ॥ टीकाकार करते हैं कि मुक्तिरूपी धीके भोग्यका कारण जो यह आलोचना उसके भेदको जानकारके जो भव्य जीव अपने आत्मरभावमें स्थिति करता है उस भव्य जीवको अपने आत्मरभावमें स्थित होनेकेलिये मैं समझा करता हूँ ॥

आगे आलोचनाका स्वरूप करते हुए परमसमताभावको करते हैं —

जो परस्मिन् अप्पणं, समभावे संतवित्तु परिणामं ।

आलोचनामिदि जाणह, परमजिणंदस्स उचएसं ॥१०९॥

सामान्यार्थः—जो समताभावमें अपने परिणामको धारणके अपने आत्माको देसता है उसीके ही आलोचना जानो । ऐसा परम जिनन्दस्स उचएसं है ।

विशेषार्थः—जो कोई स्वाभाविक वैराग्यरूप अमृतमई महासागर उसकी पानके समान संपाद ऐसी सुदूर मंडलीकी बढानेकेलिये पूर्ण धर्मके समान है अर्थात् वैराग्यकी उन्नतताको बढानेवाला है ऐसा जो तन्त्रवेत्ता तो सदा अंतरंगमें हीन ऐसे अज्ञ निरंजन निजज्ञानका स्थान जो कारण परमात्मा उसको सर्व प्रकार अंतरंगमें सन्मुख होकर अपने आत्मीक स्वभावमें तर्जान जो स्वाभाविक अवलोकन उससे निरंतर वेसता है । जैसे वेसता है, पूर्व ही अपने भावको समताभावमें स्थित करके परम संयमी होकर तिष्ठता है । यही आलोचनाका स्वरूप है ऐसा है शिष्य तुम जानो । ऐसा परम जिननाथका उपदेश है ॥ आलोचनाके भेदोंमें यह प्रथम भेदका स्वरूप बना ॥ यही टीकाकार करते हैं—जो कोई आत्मा अपने आत्माकी अपने आत्मीक स्वभावसे अपने आत्ममें इसप्रकार अर्थात् शुद्ध चैतन्य रूपमें देसता है वह धोडेसे ही कालमें मोक्षके निश्चल स्थानको प्राप्त होता है । जहाँ मुक्तिरूपी लक्ष्मीका विहास है और जो अत्यंत अतीन्द्रिय सुसुख है । ऐसाही महात्मा इन्द्रो मुनियोंकी पत्नियों विवाधर्तों तथा

भूमिगोचरियोंके द्वारा वन्दनीक है ॥ उनही गुणोंकी अपेक्षासे मैं उस चैतन्यरूपको नमन करता हूँ जो सर्वसे वन्दनीक और सर्व गुणोंकी स्तान है ॥ यह आत्मा परम यमी मुनियोंके चित्तरूपी कमलके मध्यमे प्रगट रहता है । कैसा है आत्मा, जो ज्ञान ज्योतिर्मय है, जिसने पापरूपी अंधकारके पुंजका नाश कर दिया है, जो सर्वाचीन है तथा जो आत्म जीवोंके वचन और मनसे अगोचर रहता है । आचार्य्य कहते हैं जो अच्यन्त प्राचीन परम पुरुष परमात्मा है उसमें विधि और निबंध क्या होगा ? ॥ ऐसा कहनेसे परमयोगीश्वरने व्यवहार आलोचनाके प्रबंधकी हंसी की है ॥ टीकाकार कहते हैं उस पाप रहित चैतन्य स्वरूपकी त्रय हो । कैसा है वह सहजतत्त्व, जो अतिशयकरके समस्त इन्द्रियोंके समूहमें उत्पन्न जो कोलाहल ( विकल्परूप उद्वेग ) उनमें भूक है । उस सहज तत्त्वमें नयोंका तथा अनयोंके समूहोंका प्रवेश नहीं है अर्थात् निश्चय व्यवहार नष्ट आदिके विकल्पोंसे जो दूर है, ऐसा दंतैरर भी वह तत्त्व योगियोंकी गेचर है । वह आत्मीक तत्त्व सदा मानन्दमय और उच्छृप्त है परन्तु आत्मज्ञानसे रहित अज्ञानी जीवोंकेद्विषे वह तत्त्व प्रकटित है । भव्य नीच परम मुक्त परमात्मे हम शुकुता माको आत्मीक सुमरूपी समुद्रके समुद्रमें बस समस्तकर भाषिनाशी गुणाकी वाक कल्प है । इन्द्रिय में भी अनिष्टयोंके सदा उद्वेगों की भावना करण है । कैसा है वह तत्त्व, जो अद्वैत है सम्पूर्ण भेदोंके अभावसे वह केवल सान्नाधिक वस्तु है तथा निर्द्वैतज्ञानके सुमकरके शुकुत है । मैं यह परमात्म तत्त्वकी भावना करण कृ जो समस्त समस्त समुद्रमें मुक्त है, जो ब्रह्म विद्या, पर्याय दूर और पर तार्किक प्रकाश हुआ है तथा जो मैं ही निरात्मक ही ब्रह्मक निर्दिष्ट मुक्तकद्वय ज्ञान ही तत्त्वकी उत्पत्ति है परन्तु मैं ही तत्त्व निश्चय सम्पूर्ण विभागकी भावनाके से कल्प है परन्तु मैं ही तत्त्व निश्चय एक चैतन्य भावनेतद भावकी भावने

करता हूँ तथा अत्यन्त ही भेदोंसे रहित जो मोक्षका मार्ग है उसको भी नमन करता हूँ ॥

आगे आलुंछनका स्वरूप कहते हुए परमभावस्वरूपका व्याख्यान करते हैं.—

कम्ममहीरुहमूल, — छेदसमर्थो सकीयपरिणामो ।

साहीणो समभावो, आलुंछणमिदि समुद्दिहं ॥ ११० ॥

सामान्यार्थ — अष्ट कर्मरूपी वृक्षके मूलको छेद करनेमें समर्थ जो अपनं हों आत्माका स्वार्थीन और समता भावरूप परिणाम उसीको आलुंछन इस नामसे कहा है ॥

विशेषार्थः—यहां पंचम जो पारिणामिक भाव उसका स्वरूप कहते हैं । भव्यन्व नाम जो पारिणामिक भाव उस स्वभावका धारी जो भव्य-जीव उसके निजआत्म सम्बन्धी जो पारिणामिक भाव सो ही परम भाव है । यह पंचम भाव औद्युक्त, औपशामिक, क्षयोपशामिक और क्षायिक इन चार विभाव स्वभावोंके गोचर नहीं हैं । अतएव उदय अर्थात् समय पाकर कर्मोंका उदय, उदीरण अर्थात् आगामी उदय योग्य कर्मोंका पहले एक साथ बहुतसोंका उदय हो जाना । क्षय अर्थात् कर्मोंका सर्वथा नाश । क्षयोपशम अर्थात् कर्मोंके सर्व्व घाती स्पर्द्धकोंका उदया-भावी क्षय तथा उपशम, वेदाघाती स्पर्द्धकोंका उदय ऐसे चार अवस्था द्वारा उत्पन्न हुए नाना प्रकारके विकार भाव उनकरके रहित हैं इस कारण इस एक आत्माके शुद्ध परिणामको ही परमस्व अर्थात् उत्कृष्टपना है इसकी अपेक्षा अन्य चार विभाव भावोंको अपरस्व ( हीनपना ) है यह परम भाव सम्पूर्ण कर्मरूपी विषयक्षकी जड़को उखाड़नेको समर्थ है ॥ तीनों कार्योंमें भी जिसके आवरण नहीं होता ऐसा निरावरण निज कारण परमात्मा उसके स्वरूपका जो श्रद्धान वह सम्यक् है । उसका विरोधी जो तीव्र मिथ्यात्वकर्म उसके उदयके वशसे जो शुद्ध परम





जिसने विशाके मंडलको धोटाटा है अर्थात् सर्वत्र घ्याप्त है तथा जिसने आत्माकी स्वाभाविक अवस्थाको प्रगट कर दिया है ॥

आगे अविभूतिकरणका स्वरूप कहते हैं:—

कम्मादो अप्पाणं, भिण्णं भावेइ विमलगुणणिलयं ।

मज्झत्थ भावणाए, वियटीकरणांति विण्णेयं ॥ १११ ॥

सामान्यार्थः—निष्कालके कम्मोंसे भिन्ननिर्मल गुणकास्थान जो आत्मा उसको जो कोई मध्यस्थ अर्थात् वीतराम भावना उसमें लीन होकर भावता है उसके ही अविभूतिकरण जानना चाहिये ॥

विशेषार्थः—यहाँ शुद्धोपयोगी जीवकी परिणतिविशेषको कहते हैं । जो कोई भव्य पापरूपी वनको दग्ध करनेकेलिये अग्निके समान होकर द्रव्य, भाव और नोकम्मोंसे भिन्न तथा स्वाभाविक गुणके निधान आत्माको ध्याता है उसीके ही सहज गुणरूप जो परम आलोचना उसका स्वरूप प्राप्त होता है ॥ टीकाकार कहते हैं यह आत्मा सम्पूर्ण द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि और नोकर्म औदारिक शरीरादि उनकी राशियोंसे सदा ही भिन्न रहता है, अंतरंगमें शुद्ध है, शम कहिये शांतभाव और शम कहिये इन्द्रियवशता ऐसे शमदमरूपी कमलोंकेलिये राजहंसके समान है—जैसे राजहंस कमलमें केळि करता है ऐसे ही आत्मा शम दममें रमता है । मोहके अभाव होनेसे यह आत्मा अपनेसे भिन्न सर्व अन्यवस्तुओंको कभी नहीं ग्रहण करता है । ऐसा यह आत्मा नित्य आनंद आदि अनुपम गुणमई तथा चैतन्य चमत्कारकी मूर्ति है । यह शुद्धात्मा अविनाशी अंतरंग गुणरूपी रत्नोंका समूह है, शुद्ध भावरूप अमृतके अत्यन्त निर्मल समुद्रमें जिसने अपने पापरूपी कलकोंको धोटाटा है, जिसने इन्द्रियरूपी ग्रामोंके कोटाहलको हटा दिया है तथा अपनी ज्ञानज्योतिकरके मोह अंधकारके फैलावको नाश कर दिया है ऐसा शुद्धात्मा प्रकाशमान होता है ॥ यह लोक संसारके जन्ममरण



आगे चौथा भेद भावशुद्धिनामकी जो परम आलोचना उसका स्वरूप कहते हुए शुद्धनिश्चय आलोचनाके अधिकारको सकोचते हैं:—

मदभाणमायलोहयि,—पज्जियभावो दु भाव सुद्धित्ति ।  
परिकाहियं भव्वाणं, लोयालोयप्पदरिसीहिं ॥ ११२ ॥

सामान्यार्थः—मद, मान, माया और लोभ इन चारों कपायोंसे रहित जो भाव है उसको भावशुद्धि कहते हैं । लोक और अलोकको देखनेवाले श्री जिनेन्द्र भगवानने भव्य जीवोंकेलिये ऐसा कहा है ॥

विशेषार्थः—तीव्रचात्रि मोहनी नामा कर्मके उदयके बलसे पुरुष वेद नाम नोकपायका जो विटास है उसको मद कहते हैं । यहाँ मद शब्दसे मदन अर्थात् काम सेवनेका परिणाम ऐसा अर्थ लेना चाहिए । चतुर षट्चर्योंकी रचना सहित प्रवीण और श्रेष्ठ कवितापनेके द्वारा आदंय नाम नामकर्मके उदयसे सर्व जनोंमें पूज्यपना पानेके कारणसे अथवा माता सम्बन्धी और पितासम्बन्धी कुलजातिकी उज्वलतासे अथवा ब्रह्मचर्य्य व्रतके पाठनेसे उत्पन्न जो पुण्य तिससे प्राप्त जो १ टासकोटिभटके समान उपमा रहित बल होनेसे, अथवा दान पूजा आदि शुभकर्मोंके द्वारा उत्पन्न जो पुण्य उस पुण्यके उदयसे प्राप्त जो संपदा धनादिकी शुद्धि उसके विटाससे अथवा बुद्धि, तप, विक्रिया, औपध, रस, बल, तथा अज्ञीण ऐसी सात कद्वियोंके होनेसे अथवा सुन्दर स्त्रियोंके लोचनोंकी आनन्दकारी ऐसी शरीरकी सुन्दरताके रसके विस्तारसे आत्माके अहंकारका पैदा होना सो मान है ॥ गुप्त रीतिसे पाप कर लेना सो माया है । योग्य स्थलमें धनका व्यय नहीं करना सो लोभ है । निश्चयकरके सम्पूर्ण परिग्रहका त्याग है लक्षण जिसका ऐसा कर्मरूपी अंजनते रहित अपने परमात्म तत्त्वको ग्रहण करनेके विरुद्ध अपनेसे अन्य परमाणु मात्र द्रव्यका स्वीकार करना सो लोभ है ॥ इन चारों भावोंसे रहित जो शुद्ध भाव है वही भावशुद्धि है । इस प्रकार भव्य प्राणियोंकेलिये लोकालोक दर्शी,



विक तत्त्व सात तत्त्वोंमेंसे सर्वोत्कृष्ट तत्त्व है, परम निर्मल है, सर्व प्रकारसे निर्मल शानका पर है, आवरणोंसे रहित है, मोक्ष रूप है, अत्यन्त विशद ( स्पष्ट ) है, नित्य है, बाह्य प्रपंच जालोंसे विरुद्ध है, मुनिको भी मन और वचनोंसे दूर है ऐसे तत्त्वको हम नमस्कार करते हैं ॥ उस जिनेन्द्रकी जय होइ जो क्षांतरसर्ग अमृतके समुद्रको बढ़ानेकेलिये प्रति दिन उदयरूप सुन्दर चन्द्रमाके समान है तथा तुटना रहित शान-रूपी सूर्यकी किरणोंसे जिसने मोहरूपी अंधकारके समूहको नाश कर दिया है ॥ जिसने जन्म जरा मरणके समूहको जीत लिया है, अत्यन्त भयानक गगनके समूहका घात कर दिया है, पापरूपी महा अंधकारके समूहके नाशकेलिये जो सूर्यके समान है तथा जो परमात्माके पदमें स्थित है उस महात्मा जीवकी सदा जय होइ ॥

इस प्रकार मुक्कविरूपी कमल्लोकेलिये सूर्यके समान पंचेन्द्रियोंके विस्तारसे रहित शरीर मानपरिग्रहके धारी भीषणप्रभुमलधारी देव विरचित भी नियमसार ग्रन्थकी तात्पर्यवृत्ति नामकी व्याख्यामें परमालोचना नामका सातवां श्रुतस्कंध पूर्ण हुआ ॥

## निश्चयप्रायश्चित्ताधिकार ।



आगे सर्व द्रव्यभाव और नोकर्मके त्यागका कारणभूत जो शुद्ध निश्चय प्रायश्चित्त नामका अधिकार उसको कहते हैं:—

वदसमिदिसीलसंजम,—परिणामो करणणिग्गहो भावो ।  
सो हवदि पायच्चिचं, अणवरयं चैव कापव्वो ॥ ११३ ॥

सामान्यार्थ—वत, समिति, शील और संयमका जो परिणाम तथा

इन्द्रियोंके रोकनेका जो भाव उसका नाम प्रायश्चित्त है। सोही निरंतर करना योग्य है ॥

विशेषार्थः—अहिंसादि पांच महाव्रत, पांच सामिति, शीत और गर्म इन्द्रियोंको तथा मनवचनकायको संयम करनेका परिणाम और पांच इन्द्रियोंका निरोधरूप जो भावकी परिणतिविशेष सो ही प्रायश्चित्त है। प्रायःका अर्थ प्रचुरपने विकार रहित चिन्त अर्थात् मन सो प्रायश्चित्त है। सो प्रायश्चित्त शुभ पद्मप्रभकरके करना योग्य है। केसा होकरके करना योग्य है, निरंतर अंतरंगमें लीन हो परम समाधि युक्त होकर, जितेन्द्री योगीश्वरकी वृशामें रहकर तथा पापजनके वृग्ध करनेको अग्नि समान भाव रखकर। तथा केसा हूं मैं, पंचेन्द्रियके कैलासों रहित शरीर-मात्र परिग्रहका धारी हूं, स्वाभाविक वैराग्यरूपी महलके शिखरका शिखामणि हूं तथा परमात्मकी मृगय लेनेमें सन्मुख हूं ॥ यही बीजाकार कहते—हैं मुनियोंके निरंतर अपने आत्माकी चिन्ता होना सो प्रायश्चित्त होता है। इसीकरके पापोंको धोकर तथा अपने आत्मा स्वभासमें रत होकर मुनि मोक्षको प्राप्त करते हैं। जो मुनि इसमें विषय अन्य चिन्ता करते हैं वे मूढ़ बुद्धी पापी कामरुचक द्वारा पीड़ित होकर हिर भी पापको करते हैं यज्ञ एक आश्चर्यकी बात है ॥

जागे नरुं कर्मोंको उगाड़नेमें समवेत्ता निश्चय प्रायश्चित्त उनका कहते हैं —

कोहादिसगर्भार्थं, सयपहुदीभायणाए जिगमहर्षं ।  
प्रायश्चित्तं मणिर्दं, गियगुणर्जिता प जिश्छयज्ञा ॥११॥

सामान्यार्थः — कोहादि अपने विचार भागोंक प्रय करने मात्रकी उन्नतार्थ वर्तना तथा अपने अन्तर्मीक गुणोंकी चिन्ता करना सो नियमपत्र प्रायश्चित्त कहा गया है ॥

विशेषार्थः—क्रोधादि सर्व मोह राग द्वेष विभाव भावोंको क्षय करनेमें कारणभूत जो अपने कारण परमात्माके स्वभावकी भावना उसके होते हुए निज स्वभाव ग्रहणकी अपेक्षासे प्रायश्चित्त कहा गया है । अथवा परमात्माके गुणस्वरूप शुद्ध अंतरंग तत्परूप जो अपना स्वभाव उसमें सहज ज्ञानादिक जो सहज गुण है उनकी चिन्ता करनी सो प्रायश्चित्त होता है । टीकाकार कहते हैं—अतिशय करके मुनियोंका प्रायश्चित्त काम क्रोधादिक जो आत्मासे अन्य भाव हैं उनके नाशके अर्थ अपने आत्मस्वभावका जानना अथवा उसकी भावना करनी सो ही है । आत्मग्रहाद् ग्रंथमें संतपुरुषोंने ऐसाही जाना है ॥

आगे चारों कषायोंके जीतनेका उपाय बतलाते हैंः—

कोहं स्वमया माणं, समह्वयेणऽज्वयेण मायं च ।

संतोसेण य लोहं, जयदि सुए चउपिहकसाए ॥११५॥

सामान्यार्थः—क्रोधको क्षमासे, मानको आत्मीक मार्जव भावसे, मायाको आर्जव धर्मसे तथा लोभको संतोषसे इस तरह ४ प्रकार कषायोंको योगी जीतता है ।

विशेषार्थः—जपन्य मध्यम और उठम भेदसे क्षमा तीन प्रकार है । विना कारणके ही अभियवाही भिष्याहृष्टी मेरी निद्रा करता है व त्रास देनेका उद्योग करता है परन्तु मेरे पुण्यके उद्यसे यह कुछ न कर सका ऐसा जानकर क्षमा करना सो प्रथम जपन्य क्षमा है । विना कारणके ही यह जीव मुझे त्रास करना और ताड़ना व बाधा देना चाहता है परन्तु मेरे पुण्यके उद्यसे वह मेरा कुछ विगाड न करसका ऐसा जानकर क्रोध न करके क्षमा करनी सो दूसरी मध्यम क्षमा है । और यदि अपनेको बाधा व त्रास प्राप्त हो तो ऐसा विचारना कि मैं अमूर्त्तिक परम ब्रह्म स्वरूप हूँ मेरे शुद्ध स्वरूपकी कुछ हानि नहीं होती है ऐसा





दिललाई पड़ते हैं अर्थात् मायाचारीके क्रोधादि कषाय भीतर बैठे होते हैं ॥ चमरी गय भीलोंके भयसे भागती २ जाती है अकस्मात् उसकी पूछ वृक्षकी बेलमें फंस जाती है—इसको अपनेवालोकका बड़ा मोह होता है सो वालोंके समूहमें टोलुपी रहकर इस भयसे कि कहीं कोई बाल टूट न जाय अपनी जड़ बुद्धिसे निश्चल खड़ी रह जाती है अपनी पूछको पुटाकर भागती नहीं है । आचार्य्य सेव करते हैं कि इंसलोभके कारण वह विचारी भीलके द्वारा हतागयी । जो लोभकी परिणति रखते हैं उनको प्रायः इसी प्रकारकी विपत्तियां नानाप्रकारकी आ जाती हैं ॥ टीकाकार कहते हैं । क्रोधकषायको क्षमासे, मानकषायको मार्दवसे, आर्जवसे मायाको तथा लोभकषायको संतोषसे जतिना चाहिये ॥

आगे शुद्ध ज्ञानका स्वीकार करना ही प्रायश्चित्त है ऐसा कहते हैंः—

उक्लिढो जो वोहो, णाणं तस्सेव अप्पणो चित्तं ।  
जो धरइ मुणी णिच्चं, पायच्छित्तं हवे तस्स ॥ ११६ ॥

सामान्यार्थः—अपने ही आत्माका जो उत्कृष्ट बोध, ज्ञान तथा चित्त है उसको जो कोई मुनि नित्य धारण करता है उसके ही प्रायश्चित्त होता है ॥

विदोपार्थः—उत्कृष्ट जो विशिष्ट धर्म है वही परम बोध है—बोध ज्ञान और चित्त तीनोंका एक ही अर्थ है ॥ अतएव उसी परम धर्मके धारी आत्माका प्रायः अर्थात् प्रकर्षणने जो चित्त अर्थात् ज्ञान सो प्रायश्चित्त है । जो कोई परमसंपर्मी नित्य इस प्रकारके चित्तको धारण करता है उसीके ही निश्चय प्रायश्चित्त होता है ॥ टीकाकार कहते हैं जो कोई शुद्धात्मज्ञानकी भावनाको रखनेवाला आत्मा है सो ही प्रायश्चित्त-मात्रका धारी है । जिसने पापके समूहको धूर कर दिया है ऐसे मुनीन्द्र-को में नित्य उनके गुणोंकी प्राप्तिकेलिये मन्वना करता है ॥

आगे कहते हैं कि इस लोकमें परम तपश्चरणमें लीन जो परम योगीश्वर हैं उनहीके निश्चय प्रायश्चित्त होता है यही समस्त आचरणमें श्रेष्ठ आचरण है:—

किं बहुणा मणिषण दु, वरतवचरणं महेसिणं सर्वं ।  
प्रायश्चित्तं ज्ञाणह, अण्येकम्माण खयहेऊ ॥ ११७ ॥

सामान्यार्थः—बहुत क्या कहें । महर्षियोंका सर्व उत्कृष्ट तपश्चरण एक प्रायश्चित्तको ही जानो जो अनेक कर्मोंके नाशका कारण है ॥

विशेषार्थः—आचार्य्य कहते हैं बहुत असत् प्रलाप कहनेसे बस होहु । निश्चय व्यवहाररूप सर्व उत्कृष्ट तपश्चरण एक निश्चय प्रायश्चित्तको ही है शिष्य तुम जानो । यहाँ परम जितेन्दी योगियोंकेलिये अनादि संसारमें बांधे हुए द्रव्यकर्म और भावकर्म उनको सर्व प्रकारसे विनाश करनेका कारण है । टीकाकार कहतें हैं कि अनशनादि बारह तपरूप आचरण यही आत्माका सहज स्वाभाविक तत्त्व है । यही शुद्ध चैतन्य स्वरूपको जाननेवाला है । यही स्वाभाविक ज्ञानकी कटाके गोचर है तथा यही पापोंको क्षय करनेका कारण है ॥ यह प्रायश्चित्त निश्चयसे उत्तम साधु पुरुषोंको ही होता है । कैसा है यह प्रायश्चित्त, जो अपने आत्मीक द्रव्यमें चिन्तवन स्वरूप है तथा धर्मध्यान और शुद्धध्यानरूप है । कर्मोंके अंधकारको विनाश करनेकेलिये सम्यग्ज्ञानरूपी तेज है तथा जो अपनी विकाररहित महिमामें लीन है ॥ यमी साधुओंको आत्मज्ञानसे ही क्रमक्रमसे आत्माकी प्राप्ति होती है और ज्ञान ज्योति प्रगट होती है । कैसी है ज्ञान ज्योति, जिसने इन्द्रियोंके विषयरूप ग्रामके घोर अंधकारको हतन कर दिया है तथा कर्मरूपी जंगलसे उत्पन्न जो वावानलकी शिता उसको बुझानेकेलिये शांत जलमई अमृतकी धाराको क्षीर २ वरपा रही है । अध्यात्म शास्त्ररूपी समुद्रसे मने इस संयम रूपी रत्ननालाको निकाला है यही निश्चय संयमरूपी रत्ननाला मुक्ति बंधुके घर ऐसे जो तप ज्ञान ।

उनके सुकंठको मुशोभित करनेवाली हो गई है, मैं नित्य इस परमात्म-तत्त्वको नमस्कार करता हूँ । जो मुनीन्द्रोंके चित्तरूपी कमलका गर्भवास है, मोक्षके अतीन्द्रिय सुखका मूल है तथा जिसने संसाररूपी वृक्षके मूलको नष्ट कर दिया है ॥

आगे कहते हैं कि प्रसिद्ध ऐसा शुद्ध जो कारण समयसार परमात्म-तत्त्व उसमें सदा अंतरगसे लीन होकर जो तप तपना है वही तप प्रायश्चित्त है:—

पांताणंतभवेण स,—मज्झिमसुहअसुहकम्मसंदोहो ।  
तवचरणेण विणस्सदि, पायच्छिचं तवं तह्या ॥ ११८ ॥

सामान्यार्थः—अनंतानंत भवोंके द्वारा जो इस जीवने शुभ तथा अशुभ कर्मोंके समूहको उत्पन्न किया है सो सर्व कर्मजाल तपभरण-करके नाशको प्राप्त होता है । इसलिये ऐसा तप ही प्रायश्चित्त है ।

विशेषार्थः—अनादिकालसे संसारमें भ्रमते हुए जो शुभ तथा अशुभ कर्मोंका समूह इस जीवने पैदा किया है सो द्रव्यरूप पुद्गलकर्म तथा रागद्वेषादि भावकर्म जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पांच प्रकार संसारका बढ़ानेवाला है सो सर्व भावशुद्धि लक्षणके धारी परम तपभरणके द्वारा विलयको प्राप्त हो जाता है । इसलिये अपने आत्मीक तत्त्वमें समनरूप जो परम तपभरण सो ही शुद्ध निश्चय प्रायश्चित्त है ऐसा प्रयोजन है

टीकाकार कहते हैं—अष्ट कर्मोंके जालको नष्ट करनेकेलिये संत पुरुषोंने ऐसे तपके सिवाय और किसीको प्रायश्चित्त नहीं कहा है । कि जो तप चैतन्यके आनंदरूपी अष्टतसे पूर्ण है तथा जो अनादि संसारमें संग्रह किया ऐसा महान कर्मरूपी घन उसके दग्ध करनेकेलिये अग्निही ज्वालाका समूह है और जो समसुखमई तथा मोक्षरूपी लक्ष्मीका दहेज है ।

आगे कहते हैं कि सम्पूर्ण विभावभावोंको अभाव करनेकेलिये अपने आत्माहीके आभ्रपसे उत्पन्न जो निश्चय धर्मध्यान वही समर्थ है—

अप्पसरूवालंबण, — भावेण दु सन्धभावपरिहारं ।

सक्कदि कहुं जीवो, तम्हा ज्ञाणं हवे सत्त्वं ॥ ११९ ॥

सामान्यार्थः—यह जीव अपने आत्मीक स्वरूपके आलंबनमें तन्मय जो भाव उसीसे सर्व अन्यभावोंको त्यागनेको समर्थ हो जाता है । इसलिये सर्व प्रायश्चित्तादि ध्यान ही होता है ॥

विशेषार्थः—निश्चलरूपसे परद्रव्यका त्याग हे लक्षण जिसका ऐसे लक्षणसे लक्षित जो अतंड नित्य आवरण रहित ऐसा जो स्वभाविक परम पारिणामिक भाव उसकी ही भावना मानेसे यह अत्यन्त निकटमव्य जीव औदार्यिक औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक, ऐसे अपने शुद्ध स्वरूपसे अन्य चारोंभावोंको तजनेकेलिये समर्थ हो सकता है । इसी कारणसे उसी जीवके ऐसे भावको पापरूपी बनीके जटानेकेलिये आग्रिसनान कहा गया है । अतएव पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति, ऐसे १२ प्रकार चारित्र तथा प्रत्याख्यान, प्रायश्चित्त, और आलोचना आदि सर्व ध्यानमें ही गर्भित हैं ॥ टीकाकार कहते हैं—जो कोई भव्यजीव शुद्धात्मामें अपना मन निश्चल करके एक शुद्ध आत्माको ही ध्याता है किस प्रकार ध्याता है, कि यह आत्मा एक है नित्य अपनी ज्योति-करके मोह अंधकारके समूहको नाश करनेवाला है, आदि और अतसे शून्य है, परमकलासे विराजमान है तथा आनंदकी मूर्ति है वह जीव शीघ्र ही जीवन्मुक्त अर्थात् अरहंत हो जाता है । और वही जीव समस्त आचारका प्रतिपालक है ॥

आगे शुद्ध निश्चयस्वरूपका व्याख्यान करते हैं—

सुहअसुहवयणरयणं, रायादीभाववारणं किच्चा ।

अप्पाणं जो ज्ञायदि, तस्स दु णियमं हवे णियमा ॥ १२० ॥

सामान्यार्थः—जो कोई शुभ और अशुभ वचनोंकी रचनाको दूरकर तथा रागद्वेषादि भावोंको हटाकर आत्माको ध्याता है उसके ही नियमसे नियम होता है ॥

विशेषार्थ —जो कोई परम तत्त्वज्ञानी महा तपोधन प्रतिदिन सच्य किये गए जो सूक्ष्मकर्म उनके नष्ट करनेमें समर्थ जो निश्चय प्रायश्चित्त उसमें लीन रहता है तथा जो मुनि मन वचन कायको रोककरके संसाररूपविलके मूलकंद जो शुभ तथा अशुभरूप प्रशस्त और अप्रशस्त समस्त वचनकी रचनाको दूर करता है, केवल इन वचनोंकीका तिरस्कार नहीं करता किन्तु समस्त मोह रागद्वेष आदि पर भावोंको भी दूर करता है फिर निरन्तर असंबद्ध, अद्वैत, सुंदर, आनंदसे भरपूर अनुपम तथा कर्माजिन रहित अपने कारण परमात्मतत्त्वको निश्चय अपने शुद्धोपयोगके बलसे वारंवार भावता है उसी ही यमी मनुष्यके शुद्ध निश्चयनयकरके नियम होता है । यह अभिप्राय भगवान् सूत्रकारका है ॥ टीकाकार कहते हैं—जो कोई भय्यर्जाव शुभ तथा अशुभरूप वचनकी रचनाको त्यागकरके निश्चय प्रगटपने स्वभावमई परमात्माको भले प्रकार भावता है उसी ही परम जितेन्द्री और ज्ञानी मुनिके नियमसे यह शुद्ध नियम होता है तथा वही नियम मुनिरूपी स्त्रीके सुखका कारण है ॥ निरन्तर असंबद्ध अद्वैत चैतन्यके विकार रहित स्वरूपमें सम्पूर्ण नयोंका विलास कुछ भी प्रगट नहीं होता है । जिसमें सर्व भेदवादोंका विलय हो गया है ऐसे तत्वको मैं यहाँ नमस्कार करता हूँ, उसीकी स्तुति करता हूँ तथा उसीकी वारम्बार भावना करता हूँ यह ध्यान है, यह ध्येय है, यह ध्याता है, यह ध्यानका फल है इन विकल्प जालोंसे रहित जो तत्त्व है उसीको मैं नमन करता हूँ ॥ जिस किसी योगमें लीन योग्यके कभी २ भेदवाद् उठाकरते हैं अर्थात् जो विकल्प भावोंको प्राप्त करता है उसको अरहंतके मतमें मुक्ति होगी व नही कौन जानता है ।

भाषार्थ—मुक्तिका कारण तो एक निर्विकल्प ध्यान ही है जहां विकल्प हैं वहां बंध है ॥

आगे निश्चय कायोत्सर्गका स्वरूप कहते हैं:—

कायाइपरद्ववे, थिरभावं परिहरत्तु अप्पाणं ।

तस्स ह्वे तणुसगं, जो ज्ञायइ णिव्विअप्पेण ॥१२१॥

सामान्यार्थः—काय आदि पर द्रव्योंमें स्थिर भावको दूर करके जो कोई विकल्परहित होकर अपने आत्माको ध्याता है उसकी ही कायोत्सर्ग होता है ॥

विशेषार्थः—आदि और अंत सहित मूर्तीक अपनी आत्मजातिसे भिन्न विभाव व्यंजन पर्य्यायरूप अपने शरीरका जो आकार है सो काय है । आदि शब्दसे क्षेत्र, महल, सुवर्ण, स्त्री आदि लेना । इन सर्व विनाशीक पदार्थोंमें स्थिर भावको अर्थात् ये सदा रहेंगे ऐसे भावको त्यागकरके निश्चय ही मनोहर कर्मरूपी मैलसे रहित अपने स्वभावमें कारण परमात्माको जो निश्चय व्यवहार क्रियाकांडके आडंबर सम्बन्धी नानाप्रकार विकल्प उनसे पूर्ण कोलाहल ( शोर-गुल ) उससे रहित ऐसा जो स्वाभाविक परम योग उसके बलसे ध्याता है उसी ही तपस्वीके निश्चय कायोत्सर्ग होता है । केसा है तपस्वी, जो स्वाभाविक तपधरणरूपी क्षीरसमुद्रको बढ़ानेकेलिये चंद्रमाके समान हृदयका ईश्वर है तथा निश्चयकरके स्वाभाविक वैराग्यरूपी महलके शिखरका शिखामणि है ॥ टीकाकार कहते हैं—यह निश्चय कायोत्सर्ग निश्चयसे अपने आत्मामें लीन संयमी मुनियोंके ही निरंतर अपने आत्मध्यानके द्वारा ही होता है ॥ केसा है आत्मध्यान, जहां शरीरसे उत्पन्न जो प्रचलरूपसे प्रगट होते हुए कर्म उनसे मुक्त रूप है अर्थात् कीयकी क्रियारहित है, वच-

नोंके जालोंके समूहसे बिरक्त है तथा मन सम्बन्धी भावोंसे भी अलग है ॥ उस स्वाभाविक परमतत्त्वकी जय होहु । जो अपने सहज तेजके पुजमें मग्न होकर प्रकाशमान है, जिसने मोह अंधकारको हटा दिया है, जो स्वाभाविक परमदर्शनसे परिपूर्ण है तथा वृथा ही उत्पन्न जो संसार तथा जो भव भवके दुःख और कल्याण तिनसे मुक्त है ॥ संसारके जो सुख हैं वे एक तो अल्प अर्थात् थोड़े हैं । दूसरे कल्याण मात्र ही अर्थात् अपनी मानी हुई बुद्धिसे ही रमणीक ( अच्छे ) मालूम होते हैं ऐसे सर्व सुखको मैं अपनी आत्मीक शक्तिसे त्यागता हूँ तथा स्वाभाविक परम सुखरूप चैतन्यके चमत्कार मात्र प्रगट अपने विलासमें आत्मतत्त्वको सदा अनुभव करता हूँ ॥ आचार्य्य कहते हैं कि मेरे हृदयमें स्फुरायमान जो समाधिमें निज आत्मीक गुणोंकी संपदा उसको मैंने इस कालसे पूर्व क्षणमात्र भी मैंने नहीं जाना । बड़े सेदकी बात है मैं तीन जगतकी अद्भुत विभूतियों प्रलय करनेवाले दुष्ट कर्मोंकी प्रभुताईके बलसे इस महा संसारमें अत्यन्त हता गया हूँ अर्थात् रेद उठा चुका हूँ ॥ भवभवके विषयमें वृक्षांके सम्पूर्ण दुःखके कारण फलोंको त्यागने योग्य जानके मैं चैतन्यस्वरूप आत्मामें उत्पन्न जो विमुक्त सुख उसीको अनुभव करता हूँ ॥

इसप्रकार मुक्तविरूपी कमलोंकेलिये सूर्यके समान पंचेन्द्रियके प्रसारसे रहित गात्रमात्र परिग्रहधारी श्री पद्मप्रभमलधारी देवसे विरचित नियमसार ग्रन्थकी तात्पर्य्यवृत्ति नाम टीका तिसमें शुद्ध निश्चय श्रायश्चित्त-अधिकार आठवां श्रुतस्कंध पूर्ण हुआ ॥

## परमसमाधि-अधिकार ।



आगे सम्पूर्ण मोह रागद्वेष आदि परभावोंको नाश करनेका कारण भूत जो परमसमाधि नाम अधिकार उसको कहते हैं । तहां प्रथम ही शुद्धनिश्चय परमसमाधिका व्याख्यान करते हैं:—

वधणोच्चारणकिरियं, परिचत्ता वीयरायभावेण ।

जो ज्ञायइ अप्पाणं, परमसमाही हवे तस्स ॥ १२२ ॥

सामान्यार्थः—जो कोई अपने वीतराग भावसे वचनोंसे बोलने की क्रियाको त्याग करके अपने आत्माको ध्याता है उसीके ही परम समाधि होती है ।

विशेषार्थः—परम जिन योगीश्वर भी कभी अपनी अशुभ प्रवृत्तिको हटानेकेलिये वचनरचनासे मनोज्ञ ऐसी परम वीतराग सर्वज्ञ देवकी स्तुति करते हैं । तो भी निश्चयसे योगीश्वरको शुभअशुभ वधनोंका व्यापार नहीं करना योग्य है ॥ अतएव समस्त वचनकी रचनाको त्याग करके सर्व कर्मरूपी कलककी कीचड़से रहित हो अपने रागद्वेष भावोंको हटानेवाले ऐसे परम वीतराग भावके द्वारा तीनों कालोंमें आवरणरहित नित्य ही शुद्ध कारण परमात्माको अपने ही आत्माका है आश्रय जिसको ऐसे निश्चय धर्मध्यानके बलसे अथवा टंकोट्टीर्ण ज्ञायइ एक स्वभावमें लचलीन ऐसा जो परम शुद्ध ध्यान उसके बलमें जो कोई परम वीतराग-स्वरूप तपश्चरणमें लीन, रागरहित संयमी ध्याता है उगी साधुके निश्चयसे परम समाधि होती है । कैसा है साधु, जो द्रव्यकर्म और भावकर्मकी सेनाको नूटनेगला है ॥ टीकाकार कहते हैं—किसी अपूर्ण समाधिके द्वारा उत्तम आत्माओंके हृदयमें प्रगट होनेगली सम-



ताके साथ २ रहनेवाली जो स्वाभाविक आत्मीक सम्पदा उसको जबतक हम लोग नहीं जानते तबतक यह समाधि हमारा विषय नहीं है ऐसा हम मानते हैं । अर्थात् समाधिका लाभ कठिन है ।

आगे समाधिका लक्षण कहते हैं—

संजमणियमतवेण दु, धम्मज्झाणेण सुक्खहाणेण ।

जो ज्ञायइ अप्पाणं, परमसमाही हवे तस्स ॥ १२३ ॥

सामान्यार्थः—संयम, नियम और तपकं द्वारा धर्मध्यान अथवा सुकृद्धानसे जो आत्माको ध्याता है उसीके ही परम समाधि होती है ।

विशेषार्थः—सर्व इन्द्रियोंके व्यापारका त्यागना सो संयम है । अपने आत्माकी आराधनामें नियमसे तद्गति रहना सो नियम है । आत्माको आत्माके द्वारा धरा जाय सो ही अभ्यात्मीकता है । सर्व क्रियाकाटके आठवक्का है त्याग जहाँ ऐसे अंतरंग क्रियाके आधाररूप आत्माको जो मर्यादारहित तथा तीनों कालोंमें कर्मोंकी उपाधि अर्थात् आपत्तिसे रहित स्वरूप जानता है उस ज्ञानकी जो परिणति विशेष है वही अपने आत्माके आभयमें तिष्ठनेवाटा निश्चय धर्मध्यान है । अर्थात् आत्मस्वरूपका यथार्थ ज्ञान होकर स्वरूपके ज्ञानमें निश्चलता सो ही निश्चय धर्मध्यान है ॥ जहाँ ध्यान, ध्येय, ध्याता और ध्यानके फलको आदि ठे नाना प्रकारके विकल्प नहीं है तथा जो सम्पूर्ण विकल्प सकल्पोंको आदि ठे इन्द्रियधार्मिक विषयोंसे अगोचर आत्मीक परम तत्त्वकी निश्चलस्थितिरूप है वही निश्चय सुकृद् ध्यान है । इत्यादि विशेष सामग्रियोंके साथ जो कोई परम संयमी अरुण्ड अर्द्ध परम धैतन्यमई आत्माको नित्य ध्याता है उसीके निश्चयसे यह परम समाधि होती है ॥ टीकाकार कहते हैं—जो कोई धैतन्यमई निर्विकल्प समाधिमें

नित्य ठहरता है उसी आत्माको मैं नमस्कार करता हूँ । कैसा है आत्मा, जो द्वैत और अद्वैतके विकल्पोसे रहित है ॥

आगे कहते हैं कि जो कोई समताभावके बिना केवल द्रव्यरूप बाह्यलिंग अर्थात् चिन्हको धारणवाला द्रव्यलिंगी श्रमणाभास है अर्थात् यथार्थमें मुनि नहीं परन्तु मुनि सदृश भादूम होता है उसके मोक्षका कुछ भी उपाय नहीं है:—

किं काहदि वणवासी, कायकलेसो विचित्तउववासी ।  
अज्झयणमौणपहुदी, समदाराहियस्स समणस्स ॥१२४॥

सामान्यार्थः—जो श्रमण ( दिगम्बर मुनि ) समतासे रहित है उसको बनवास, अथवा कायक्लेश व नानाप्रकारके उपवामोंका करना व शास्त्रपठन तथा मौनव्रत यह सर्व ही क्या कर सकते हैं ? । अर्थात् मोक्षके साधनको करनेमें असमर्थ है ।

विशेषार्थः—सर्व कर्मफलरूपी कीचमे रहित महानदका कारण यह परम समता भाव है । यदि यह भाव न हो और केवल द्रव्यलिंगधारण श्रमणाभास बनमें वास करे, व वर्षाकालमें वृक्षके नीचे ठहरे, गर्ममें अत्यन्त तीव्र किरणोंसे संतप्त पर्यंतके शिसरपर बैठकर आसन लगावे, अथवा शीतऋतुमें रात्रिके मध्यमें दिशाओंके ही बरफका लिहाफ ओंठे अर्थात् चौड़े मैदानमें बैठ नग्रावस्थानमें रह ध्यान लगावे, स्वचा और हड्डीको दिसलानेवाला व सर्व अंगको छेद देनेवाला उपवास महोपवास करे व सदा शास्त्र पढ़नेमें ही चतुर हो अथवा बचनोंके व्यापारको त्यागकर सदा मौनव्रत ही धारण करे तभी उसे कुछ भी मोक्षके कारणभूत फलकी प्राप्ति नहीं है । भावार्थ—समताभावके साधनमें तो ये सर्व उपादेय हैं परन्तु समताभावरहित जीवके इनसे कोई भी प्रद्वग योग्य

फलका लाभ नहीं है ॥ ऐसाही धी अमृतशीति ग्रंथमें कहा है—कि पर्वतकी भयानक गुफामें, वनमें, व दूसरे किसी शून्य प्रदेशमें बैठनेसे, इन्द्रियोंको रोकनेसे, ध्यानसे, व तीर्थोंकी यात्रासे, पढ़नेसे, अथवा जप-होम करनेसे ब्रह्मकी सिद्धि नहीं है । इसलिये हे प्राणी तू उत्कृष्ट रूप, इन सर्वसे अन्य, अपने आत्माके सारकी ही दृढ़ ॥ टीकाकार कहते हैं—जो यती समता भावसे रहित हो अनशनादि द्वादश तर्पोंको पालता है उसके कार्प्यकी सिद्धि नहीं है । इसलिये हे मुनि ! तू आकुलतासे रहित समतादेवीका जो कुलमंदिर ऐसा जो अपना आत्मीक तत्त्व उसीका ही भजन कर ॥

आगे कहते हैं जो मुनि सर्व पापरूप व्यापारसे रहित हो मनवचन कायकी गुप्तिमें गुप्त हो सर्व इन्द्रियोंके व्यापारोंको छोड़कर अपने आत्माके सन्मुख होता है उसीके ही सामायिकवत स्थायी ( तिष्ठनेवाला ) होता है—

विरदी सव्वसावज्जे, तिगुत्तीपिहिदिदिओ ।

तस्स सामाद्दगं ठाड्, इदिकेवलिसासणे ॥ १२५ ॥

सामान्यार्थः—जो सर्व शासन अर्थात् सावय क्रियाओंसे विरक्त हो तीन गुप्तियोंको धारके अपनी इन्द्रियोंको संकाचता है उसीके ही सामायिक स्थायी होता है ऐसा केवली भगवानके आगममें कहा है ।

विशेषार्थः—जो कोई महा मुमुक्षु मुनि एकेन्द्रिय आदि प्राणियोंके समूहोंको दुःखदेनेका कारण जो सम्पूर्ण पाप सहित व्यापार उससे अलग होकर, शुभ अशुभ सर्व काय, वचन और मनके व्यापारोंको त्यागकर तीन गुप्तरूप होता है तथा स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पाँच इन्द्रियोंके सन्मुख हो उनके योग्य जो विषय करनेवाले पदार्थ उनको ग्रहण न करके जितेन्द्री रहता है उसी ही परम धीतराग संयमीके यह सामायिक वत शाश्वता सदा ठहरनेवाला होता है । टीकाकार कहते हैं—

नित्य ठहरता है उसी आत्माको मैं नमस्कार करता हूँ । कैसा है आत्मा, जो द्वैत और अद्वैतके विकल्पोंसे रहित है ॥

आगे कहते हैं कि जो कोई समताभावके बिना केवल द्रव्यरूप बाह्यलिंग अर्थात् चिन्हको धारणवाला द्रव्यलिंगी भ्रमणाभास है अर्थात् यथार्थमें मुनि नहीं परन्तु मुनि सदृश मालूम होता है उसके मोक्षका कुछ भी उपाय नहीं है:—

किं काहदि यणवासो, कायकलेसो विचित्तउववासो ।  
अज्झयणमीणपहुदी, समदारहियस्स समणस्स ॥१२४॥

सामान्यार्थ:—जो भ्रमण ( विगम्वर मुनि ) समतासे रहित है उसको बनवास, अथवा कायक्रेज व नानापट्टारइ उपगमोइया करना व शास्त्रपठन तथा मौनवत यह सर्व ही क्या कर सकते हैं ? । अर्थात् मोक्षके साधनका करनेमें असमर्थ है ।

विशेषार्थ—सब इमेंदृष्टरूपी हीनम रहित महानदृष्ट कारण यह परम समता भाव है । यदि यह भाव न हो तो जो द्रव्यलिंगधारी भ्रमणाभास बनमें बान कर, व क्याकालमें बुझइ नीचे ठहरे, गर्भमें अत्यन्त नीचे द्विर्णाम मतत परंतु शिवायक वेडकर आसन उगारे, अथवा शीतमनुर्म गरिइ मध्यम दिशाअई ही यत्रइ विगत ओडे अर्थात् चौंटे मेडानमें वेड नपानम्याम ए यान एगए, स्वया और हर्षिका दिभदानशरा व मर मर इ कुश इनसता उपराय महोरवा- स कर व मरु शान्ध पदनम ता नए ही अयस वचनई ध्याणाइयाग- कर सदा मौनवत ही धारण कर लभी उम कुछ भी माइइ कारणभूत कलई प्राप्ति नहीं है । भावार्थ समताभावके साधने ही पर ही उपार्थ है परन्तु समताभावरहित नीचेइ इनम काइ भी वदण प्राप्ति

फलका लाभ नहीं है ॥ ऐसाही भी अमृतशीति ग्रंथमें कहा है—कि पर्वतकी भयानक गुफामें, वनमें, व दूसरे किसी सून्य प्रदेशमें बैठनेसे, इन्द्रियोंको रोकनेसे, ध्यानसे, व तीर्थोंकी यात्रासे, पढ़नेसे, अथवा जप-होम करनेसे ब्रह्मकी सिद्धि नहीं है । इसलिये हे प्राणी तू उत्कृष्ट रूप, इन सर्वसे अन्य, अपने आत्माके सारको ही दृढ़ ॥ टीकाकार कहते हैं—जो पती समता भावसे रहित हो अनशनादि द्वादश तर्पोंको पाठता है उसके कार्प्यकी सिद्धि नहीं है । इसलिये हे मुनि ! तू आकुलतासे रहित समतादेवीका जो कुलमंदिर ऐसा जो अपना आत्मीक तत्त्व उसीका ही भजन कर ॥

आगे कहते हैं जो मुनि सर्व पापव्य व्यापारसे रहित हो मनवचन कायकी गुमिमें गुप्त हो सर्व इन्द्रियोंके व्यापारोंको छोड़कर अपने आत्माके सन्मुख होता है उसीके ही सामायिकवत स्थायी ( तिष्ठनेवाला ) होता है—

विरदी सद्यसावज्जं, तिगुतीपिहिविदिओ ।

तस्स सामाद्दगं ठाड्, इदिकेयलिसासणे ॥ १२५ ॥

सामान्यार्थः—जो सर्व शासन अर्थात् साय्य क्रियाओंसे विरक्त हो तीन गुणियोंको धारके अपनी इन्द्रियोंको संकोचता है उसीके ही सामायिक स्थायी होता है ऐसा केवडी भगवानके आगममें कहा है ।

विशेषार्थः—जो कोई महा मुमुक्षु मुनि एकेन्द्रिय आदि प्राणियोंके समूहोंको दुःखदेनेका कारण जो सम्पूर्ण पाप सहित व्यापार उत्तसे अटग होकर, शुभ अशुभ सर्व काय, वचन और मनके व्यापारोंको त्यागकर तीन गुणव्य होता है तथा स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पांच इन्द्रियोंके सन्मुख हो उनके योग्य जो विषय करनेवाले पदार्थ उनको ग्रहण न करके जितेन्द्री रहता है उसी ही परम कतिराम सेपरीके यह सामायिक मत शाश्वत सदा ठहरनेवाला होता है । टीकाकार कहते हैं—



तथा कोई दैतको चाहते है परन्तु मैं दैत, अद्वैतसे रहित आत्माको ही नमन करता हूँ ॥ मैं आत्मा हूँ स्वमुखका चाहनेवाला हूँ इससे मैं अपने आत्माहीमें ठहरकर आत्माहीके द्वारा जन्म और नाशसे मुक्त ऐसे अपने आत्माको ही वारंवार भावता हूँ ॥ संसारके बढ़ानेवाले इन विकल्पोंके बचनोंसे पूरी पढ़ो अर्थात् इनसे कुछ काव्यकी भिन्न न होगी—यह आत्मा संसारहित आनन्दमई, सर्व नयोंके समूहोंका विषय नहीं है, न यह दैत तथा अद्वैतरूप है इसलिये मैं उसी एकको बिना विलम्बके सदा ही अपने संसारके भयको नाश करनेकेलिये बन्दना करता हूँ ॥ इस जन्ममें पापपुण्यके समूहसे उत्पन्न सुख और दुःख होता है । जिस आत्मामें न तो शुभभाव न अशुभ परिणति है, जो भवके परिचयमें अन्यन्तरहित तथा भवके करनेवाले अंगुणोंके समूहोंसे विमुक्त है उसी आत्माको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ इस जगत्में नित्य ही यह चेतन्यका चमत्कार मात्र स्वरूप जयवन्त होहु । कैसा है स्वरूप, जो पापकी सेनाकी ध्वजाको हरनेवाला है, जिसने अपने स्पष्ट स्वाभाविक तेजसे पापोंके समूहोंको दूर कर दिया है तथा अत्यन्त प्रबल मोह अंधकार अस्त किया है और जो अत्यन्त शुद्ध है ॥ यह पापरहित आत्मीक तत्व जयको प्राप्त होहु । जिसने समस्त संसारको अस्त कर दिया है जो महामुनिगणोंके नाथ जो परम योगी-श्वर उनके हृदयमें कमलके समान स्थित है, भवके कारणोंको जिसने विध्वंस करवाला है, जो प्रगटपने शुद्ध है । एकरूपसे सदा अपनी महिमामें लीन है तो भी सम्यग्दृष्टियोंके अनुभव गोचर है ॥

आगे कहते हैं कि आत्मा ही उपादेय है—

जस्त सण्णिहिदो अप्पा, संजमं णियमे तवे ।  
तस्त सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥ १२७ ॥





तथा कोई द्वैतको चाहते हैं परन्तु मैं द्वैत, अद्वैतसे रहित आत्माको ही नमन करता हूँ ॥ मैं आत्मा हूँ स्वसुखका चाहनेवाला हूँ इससे मैं अपने आत्माहीमें ठहरकर आत्माहीके द्वारा जन्म और नाशसे मुक्त ऐसे अपने आत्माको ही वारंवार भावता हूँ ॥ संसारके बढ़ानेवाले इन विकल्पोंके वचनोंसे पूरी पदों अर्थात् इनसे कुछ कार्यकी सिद्धि न होगी—यह आत्मा संद्वैतहित आनन्दमई, सर्व नयोंके समूहोंका विषय नहीं है, न यह द्वैत तथा अद्वैतरूप है इसलिये मैं उसी एकको बिना विलम्बके सदा ही अपने संसारके भयको नाश करनेकेलिये वन्दना करता हूँ ॥ इस जन्ममें पापपुण्यके समूहसे उत्पन्न सुख और दुःख होता है । जिस आत्मामें न तो दुःखभाव न अदुःख परिणति है, जो भवके परिचयसे अत्यन्तरहित तथा भवके करनेवाले औगुणोंके समूहोंसे विमुक्त है उसी आत्माको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ इस जगत्में नित्य ही यह चैतन्यका चमत्कार मात्र स्वरूप जयवन्न होहु । कैसा है स्वरूप, जो पापकी सेनाकी ध्वजाको हरनेवाला है, जिसने अपने स्पष्ट स्वाभाविक तेजसे पापोंके समूहोंको तूरकर दिया है तथा अत्यन्त प्रबल मोह अंधकार अस्त किया है और जो अत्यन्त शुद्ध है ॥ यह पापरहित आत्मीक तत्व जयको प्राप्त होहु । जिसने समस्त संसारको अस्त कर दिया है जो महामुनिगणोंके नाथ जो परम योगीश्वर उनके हृदयमें कमलके समान स्थित है, भवके कारणोंको जिसने विध्वंस करवाला है, जो प्रगटपने शुद्ध है । एकरूपसे सदा अपनी महिमामें लीन है तो भी सम्यग्दृष्टियोंके अनुभव गोचर है ॥

आगे कहतं है कि आत्मा ही उपांश है—

जस्स सण्णिह्वितो अप्पा, संजमे णियमे तवे ।  
तस्स सामाहगं ठाई, इदि केवटिसासणे ॥ १२७ ॥

सामान्य अर्थ-जिसके संयम पालते नियम करते व तप धरते ए आत्मा ही निकटवर्ती है उसीके सामायिक स्थायी होती है ऐसा केवली आगममें कहा है ।

विशेषार्थ—जो निश्चय करके बाह्य प्रपंचजालोंसे अलग है, जिस सर्व इन्द्रियोंके व्यापारोंको जीत लिया है, जो भावी जिन है ऐसा मुनि ज पापक्रियाओंके त्यागरूप बाह्य संयममें तथा मनवचन कायकी गुप्ति सहि सर्व इन्द्रियोंके व्यापारसे वर्जित हो अभ्यंतर आत्मरूप संयममें तिष्ठता है तथा कित्ता मर्यादा रूप बांधे हुए कालतक किसी आचरणको करना है स्वरूप जिसका ऐसे नियममें रहता है तथा परब्रह्म चैतन्यमें ही नियत निश्चय अतरंग लीन और स्वस्वरूपमें अविचल स्थितिरूप चारित्र्यमें व व्यवहारनयके आधीन दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य, तप और वीर्य्य ऐ. पांच आचाररूप पंचमगति जो मोक्ष उसके कारणभूत चारित्र्यमें प्रवर्तता है और समस्त भावोंके प्रपंचोंसे रहित तथा सकल दुराचारकी निवृत्तिका जो कारण ऐसे तपश्चरणमें तन्मय होता है; उसी ही मुनिके परमगुरुके प्रसादसे प्राप्त जो निरंजन निज कारण परमात्मा सो सदा निकट ही रहता है । अर्थात् वह मुनि हरएक संयम, नियम और तपमें परमात्माकी शुद्धताको भावता है । ऐसे ही परद्रव्योंसे पराङ्मुख अर्थात् विरुद्ध, परमवीतराग सम्यग्दर्शी तथा वीतराग चारित्रवान मुनिके सामायिक वत सदा तिष्ठनेवाला होता है ऐसा कथन केवली महाराजके आगममें कहा है ॥

टीकाकार कहते हैं—यदि मनमें शुद्ध सम्यग्दर्शन होता है तो यह आत्मा निश्चय ही परम यमके धारी मुनियोंके तपमें, नियममें, संयममें तथा सम्यक्चारित्र्यमें अतिशयसे विराजता है । ऐसे ही ममत्त रागकी मनोज्ञताको अस्त करनेवाले तथा संसारके भयको हरनेवाले आगामी तीर्थङ्गपद प्राप्त करनेवाले आत्मामें यह स्वाभाविक ममता साक्षात् शाश्वती है ।

आगे करते हैं कि रागद्वेषके अभावसे अपरिस्पद्रूपपना अर्थात् हलन चठन रहितपना प्राप्त होता है—

जस्स रागो दु दोसो दु, विगडिं ण जणोति दु ।  
तस्स सामाद्दगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥ १२८ ॥

सामान्यार्थ—जिसके राग द्वेष विकार नहीं पैदा होते हैं उसीके सामायिक स्थायी होता है ऐसा केवलीके आगममें कहा है ।

विशेषार्थ—जो परमवृत्तराग संयमी पापरूपी बन्धके जलानेको अग्निके समान हैं उनके न तो राग और न द्वेषका विकार पैदा होता है ऐसे ही महा आनन्दके चाहनेवाले जीवके तथा पंचेन्द्रियोंके फलदाय रहित शरीरमात्र परिग्रहके धारी मुनिके सामायिक बत शाश्वता अविनाशी होता है ऐसा केवली भगवानके शासनमें प्रसिद्ध है ॥ टीकाकार कहते हैं कि रागद्वेष विकारोंको करनेकेलिये महामुनि समर्थ नहीं हैं (?) । जिसने अपनी ज्ञानन्योतिसे पापरूपी सेनाका घोर अंधकार दूर कर दिया है, जो स्वाभाविक परमान्द्रूपी अमृतसे पूर्ण है तथा निश्चयी समताके रससे भरपूर है ऐसे मुनिकेलिये विधि और निषेधकी कौनसी गति है ? अर्थात् रागद्वेष हैं व नहीं यह विकल्प ही नहीं उठ सकता ।

आगे कहे हैं कि आर्त्त रौद्रध्यानके त्यागसे ही सनातन सामायिक बत होता है—

जो दु अहं च रुहं च, द्वाणं वज्जेदि णिच्चसो ।  
तस्स सामायिर्गं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥ १२९ ॥

सामान्यार्थ.—जो निश्चय आर्त्त और रौद्र ध्यानको हटाता है उसीके सामायिक बत स्थायी होता है ऐसा केवली महाराजके आगममें कहा है ॥

विशेषार्थः—जो कोई जीव नित्य निरंजन निज कारण सम्यक् स्वरूपमें स्थिर रह निश्चय परम वीतराग सुस्वरूपी अमृतके पान कर लवलीन है वह जीव तिर्यच योनि तथा नरक आदि गतिको प्राप्त करने निमित्त जो आर्त्त और राद्रि दोनों ध्यान उनको नित्य ही त्यागता उसीके निश्चयकरके केवल दर्शनधारी द्वारा सिद्ध किया हुआ शास्त्र

श्रावकके यह सामायिक अणुवतरूप होता है, ऐसा जिन शास्त्रमें सिद्ध है

आगे शुभ तथा अशुभ परिणामोंसे उत्पन्न जो पुण्य और पाप कर्म उनके त्याग करनेका विधान बतलाते हैंः—

जो दु पुण्यं च पावं च, भावं वज्जेदि णिच्चसा ।  
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥ १३० ॥

सामान्यार्थः—जो कोई नित्य पुण्य और पाप भावोंको त्यागता है उसीके सामायिकव्रत स्थायी होता है ऐसा केवली महाराजके आश्रममें कहा है ।

विशेषार्थः—जो बाह्य और अभ्यंतर परिग्रहको त्याग करना है लक्षण जिसका ऐसे लक्षणसे जो लक्षित (चिन्हित) हैं ऐसे परम वीतराग त्रिभुवन योगीश्वरोंके चरण कमलोंका धोना, संवारना आदि वैष्याश्रय अर्थात् सेवा करना उससे पैदा हुई जो आत्माकी शुभ परिणति विशेष उससे उत्पन्न हुआ जो पुण्यकर्म तथा हिंसा, असत्य, चोरी, अद्रव्य तथा परिग्रह इन पाँचों पापोंके परिणामोंसे पैदा हुआ जो अशुभ कर्म इन दानों पुण्य और पापोंका जो कोई स्वामादिक वैराग्यरूपी महत्के शिष्यरुपे शिष्यामणि है सो त्याग देता है । केहे हैं ये दोनों कर्म, जो वैसाररूपी छोके दिट्टाके दिग्रहकी ग्रन्थानुनि हैं अर्थात् इन्हीं कर्मोंके

निमिषमे संसारमें जीव भ्रमण करता है ॥ इन्हीं कर्मोंके रागका त्यागी जीव नित्य केवली भगवान्द्वारा सिद्ध किया हुआ सामायिक वतको प्राप्त होता है ॥ टीकाकार कहते हैं कि सम्पदही जीव संसारके मूलभूत सर्व पुण्य और पापोंको त्यागकरके अपने नित्य आनन्दरूप सहज शुद्ध चैतन्य स्वरूपको प्राप्त होता है तथा उसी अपने शुद्ध जीवास्तिकायमें ही विहार करता है पश्चात् वही जीव अतिशयकरके तीन लोकके मनोसे पूजनीक जिनेन्द्र केवली हो जाता है ॥ मैं नित्य ही उस आत्मज्ञानकी पूजा करता हूँ । जो स्वयं सिद्ध है पापपुण्यरूपी बनके जलानेकेलिये अग्नि समान है, महा मांहरूपी अधकारके दूर करनेको अत्यन्त तेजस्वरूप है, मुक्तिका मूल है, उपाधिरहित महा आनन्दका देनेवाला है तथा भव भवके भ्रमणको नाश करनेमें निपुण है ॥ यह जीव कामदेवसे उत्पन्न जो मुस उसकेटिये अपनी बुद्धिको क्षोभित किये हुए संसाररूपी वधुके बरपनेको प्राप्त होकर पापरूपी कुलके सम्बन्धसे संसारमें अपने प्राण धारण करता है । कदाचित् अपनी गतिको बदलकर जब यह शीघ्र मोक्षके भुगको प्राप्त करता है तब उस एक सुखको तज कर फिर वह सिद्ध जीव अपनी अवस्थाको नहीं चलायमान करता है ॥ अर्थात् सदा एकाकार स्वभावमें तहीन रहता है ॥

आगे नव नोकषार्योंके जीतनेसे सामायिक चात्रि प्राप्त होता है उसका स्वरूप कहते हैं—

जो दु हस्तं रइं सोगं, अरतिं वज्जेदि णिच्चसा ।  
तस्स सामाद्दगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥१३१॥

सामान्यार्थ—जो हास्य, रति, शोक, अरति, जुगप्सा, भय, तीनप्रकार वेद ऐसे सर्व नोकषार्योंको नित्य दूर रखता है उसीके ही यह सामायिक स्थायी होती है, ऐसा श्रीकेवलीके शासनमें कहा है ।

विशेषार्थ—मोहनीय कर्म द्वारा उत्पन्न जो छी, पुण्य, नपुंसकत्व, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा अर्थात् घृणा, ऐसे नव प्रकार नोकपाय अर्थात् ईषत् ( किंचित् ) कपाय हैं इनसे संयुक्त जो कलंककारी कीचड़ उसमें सर्व ही विकारोंके समूहको परमसमाधिके बटसे जो कोई निश्चयरत्नत्रयका धारी परम तपोधन मुनि त्यागदेता है उसीके ही निश्चयसे यह परम सामायिक नामका व्रत शाश्वत रूपसे रहता है। यही बात केवली भट्टारकके आगममें सिद्ध है ॥ टीकाकार—कहते हैं कि मैं संसार-रूपी सीसे पैदा जो मुसदुःखोंके समूह उनको करनेवाले सर्व ही नोकपायोंको हर्षपूर्वक त्यागता हूँ। केसा है यह नोकपाय, जो महा मोहमें अन्धे पक्ष में उनका इदयम मद्रा ही मुगमतासे उपजा करता है, पान्नु जो आत्माकी समाधिमें लललान निरन्तर आनन्द मनरूप हैं उनके विनये इनका उपजना अत्यन्त दुर्लभ है ॥

आगे परमसमाधि अधिकारको संकोच करते हुए कहते हैं—

जो दु धम्मं च सुजं च, ज्ञाणं दाएदि णियसा ।  
तस्स सामाज्जं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥ १३३ ॥

सामान्यार्थ जो काइ नियम ही धर्मध्यान और शुद्धध्यानकी ध्याता है उसीके ही यह सामायिक स्थायी होता है ऐसा केवलीके आगममें कहा है ।

विशेषार्थ जो काइ मद्रा प्रकार निर्मित करके ज्ञान और केवल इजानका अर्थ है। अतिशय ध्यान से तथा समस्त विकल्पनाओंसे मुक्त पान्नु अत्यन्त दुर्लभ है जो अत्यन्त आत्मादीर्घ है जाअय निषका पणे निश्चय अन्ध ध्यानके द्वारा तथा निश्चय शुद्धध्यानसे निरन्तर, सदाचित्, अद्वैत, अविनाशिक कल्याणके विद्यामय अक्षयमकरव जाइनाश्री जलरुके ध्यानमें ही ही हुए मन्मूला बाध किया आनंद वरा दुर्लभ अर्थात् अक्षय, सदाचित्,

अंतरंगका आधारभूत ऐसे आत्माका मनन करता है अथवा आत्मामें तन्मयरूप विकल्परहित परमसमाधिके ऐश्वर्यको कारण ऐसे धर्म और शुद्ध ध्यानोसे सदा मोक्षस्वरूप आत्माका ध्यान करता है उसीके ही निश्चयसे जिनेश्वरके आगममें प्रतिपादित नित्य शुद्ध मनवचन कायकी गुप्तिरूप परमगुप्त समाधि है लक्षण जिसका ऐसा अविनाशी सामायिक मत होता है ॥ टीकाकार कहते हैं—जो कोई शुद्ध रत्न-त्रयका धारी आत्मा शुद्धध्यानमें अपनी बुद्धिको परिणमाता है अथवा अपरहित परमानंद तत्त्वका है आश्रय जिसको ऐसे धर्मध्यानमें लीन होता है वही तत्त्वज्ञानी अतिशयसे सम्पूर्ण भेदोंके अभावमें ऐसे किसी विशाल तत्त्वको प्राप्त करता है जिसमें बड़े २ दुःसजाओंका अन्त हो गया है तदा जो भव्यजीवोंके वचन और मनके मार्गसे दूर है । अर्थात् जो अतीन्द्रियभाव गम्य है ॥ भावार्थ—आत्माकी परमसमाधिसे उत्पन्न परमाभूतका पान करनेकेलिये आत्मस्वभावमें लवलीन ऐसे धर्मध्यान और शुद्धध्यानकी ही आवश्यकता है ॥ १३३ ॥

इसप्रकार मुन्दर कविरूपी कमलोंकेलिये सूर्य्यसमान पचेन्द्रियके फँटावसे रहित शरीरमात्र परिग्रहके धारी भीषणप्रभमलधारि देव द्वारा कथित श्रीनियमसारकी तात्पर्य्यवृत्ति नाम ध्यास्यामें परमसमाधि नामका ९ वां श्रुतस्कंध पूर्ण हुआ ॥

## परमभक्त्यधिकार ।



आगे परम भक्ति अधिकारको कहते हैं । प्रथम ही रत्नत्रयका स्वरूप वर्णन करते हैं—

सम्मत्तणाणचरणे, जो भक्तिं कुण्ड सावगो समणो ।

तस्स दु णिव्वुद्धि मत्ती, होवित्ति जिणेहिं पण्णत्तं ॥ १३४ ॥

**सामान्यार्थ—**जो कोई श्रावक व श्रमण अर्थात् परमशिगम्बर मुनि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चास्त्रिमें भक्ति करता है उसीको ही निर्वृत्तिरूप अर्थात् संसारसे मुडानेवाली भक्ति होती है। ऐसा जिनेन्द्रभगवान केवलियोनि कहा है ॥

**विशेषार्थ—**चारों गतिरूप संसार उसको ग्रहण और उसमें श्रमणका कारण तीव्र मिथ्यात्त्व कर्मरूपी प्रकृति है इसका विरोधी जो अपना परमात्मतत्त्व है उसका भले प्रकार श्रद्धान करना, उसीको यथार्थ जानना तथा उसमें ही सम्यक् रूपसे आचरण करना सो सम्यग्दर्शन ज्ञान चास्त्रि है। इन शुद्ध स्तत्रयके परिणामोंको भजन करना, इनकी भक्ति करना, तथा इन्हींकी आराधना करनी योग्य है, यह प्रयोजन है। श्रावकक ग्यारह पत्र में इन ११ पत्रोंमें दर्शनगत, सामायिक पोषण-वाम, माथिभ त्याग और गरि भोजनत्याग ऐसे ३ पत्रोंकी धारी श्रावक ग्रथन्यश्रावक है। ब्रह्मचर्य, आरंभ त्याग और परिग्रह त्याग इन तीन पत्रोंके माथिभ त्याग आदि है तथा अनुमति त्याग और उद्दिष्टाकार त्यागसके माथिभ त्याग है। इन ३ पत्रोंकी धारी श्रावक है। यमसक ही सम्यग्दर्शन जानना जान है इत्यदिय शुद्ध स्तत्रयकी भक्ति करने है। नेम ही संसारक भयम भयपीत, परम निष्कर्म मुनिको परनेसके भयम न्यास्त भनि भी इसी स्तत्रयकी भक्ति करके हैं। इन्ही परम श्रावकोंका और परमभौत्योंका श्रीजिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे हैं निर्वृत्ति भक्ति ज्ञान है। इसीसे वे सब निजान माने। जो मातृरूप आकी दासीरूप है। यमसक जानना है। यमसक त्यागसके इति (वृत्ति) ही निर्वृत्ति भक्ति है। हीकाकार करके ही है। यमसक दासी ही सो इत्ये संसारक भयको भयनास सम्यग्दर्शन शुद्ध ज्ञान तथा शुद्ध श्रावकमें हीदर्शन यमसक यमसक करके ही है। यमसक माथिभ त्याग मानने स्थिति है। यमसक माथिभ त्यागसके इति (वृत्ति) ही निर्वृत्ति भक्ति है। यमसक माथिभ त्यागसके इति (वृत्ति) ही निर्वृत्ति भक्ति है।



आगे व्यवहारनयको प्रधान करके सिद्ध भक्तिके स्वरूपको कहते हैं.—

मोक्खंगयपुरिसाणं, गुणभेदं जाणिऊण तेसिंपि ।

जो कुणदि परमभक्तिं, व्यवहारणयेण परिकहियं ॥१३५॥

सामान्यार्थः—उन मोक्ष प्राप्त पुरुषोंके गुणोंके भेदोंको जानकर जो आत्मा उन गुणोंमें परम भक्ति करता है उसीके व्यवहार नयमें यह सिद्ध भक्ति कही गई है ॥

विशेषार्थ —जो समीचीन महात्मा सर्व कर्मोंके क्षय होनेमें उपाय-भूत ऐसा जो कारण परमात्मा उसको अपनी भेदरहित और उपचार रहित रत्नत्रयमें परिणतिके द्वारा भले प्रकार आराधन करके सिद्ध अवस्थाको प्राप्त हो चुके हैं उन सिद्धोंके शुद्धगुणोंके भेदोंको जानकरके जो कोई निरुक्त भव्यजीव निर्वाणकी परंपरासे कारणभूत ऐसी परम उत्कृष्ट भक्तिको करते हैं उन ही मुमुक्षु जीवोंके व्यवहारनयसे निर्वृत्ति भक्ति अर्थात् सिद्ध भक्ति होती है ॥ टीकाकार कहते हैं—जिन्होंने कर्मोंके समूहोंको धो डालाहै, जो सिद्धरूपी बंधुके घर हैं तथा जिन्होंने सम्यक आदि आठ मुख्यगुणरूपी ऐश्वर्यको प्राप्त कर लिया है ऐसे मोक्ष स्थानमें निवासी सिद्ध भगवानोंको मैं निश्चय वंदना करता हूँ ॥ जिनेन्द्र भगवानने इस प्रकारकी बंध वंदकभावरूप भक्तिको व्यवहारनयसे कहा है । तथा शुद्ध रत्नत्रयस्वरूपमें जो भक्ति है सो निश्चय निर्वृत्ति भक्ति है ऐसा वर्णन किया है ॥ आचार्योंने सिद्ध अवस्थाके विषयमें वर्णन किया है कि वह सिद्धभाव सर्व दोषोंसे दूर है, केषल ज्ञानादि शुद्ध गुणोंका स्थान है तथा शुद्धोपयोगका फलरूप है अर्थात् शुद्धोपयोग धारनेहीसे सिद्ध अवस्थाकी प्राप्ति होती है ॥ जो श्री सिद्ध महाराज तीन लोकके अद्वितीय निवास करनेवाले हैं, भव भवके दुःखरूपी समुद्रके अंत घात भए हैं तथा निर्वाणरूपी निश्चयबंधुके स्पर्शसे पैदा होनेवाले सुखकी रत्न हैं

मिथ्या जो कोई जीव बाय संसारके प्रलय भावोंमें सुखी होकर है उसके किस प्रकारसे यह योगभक्ति होमकती है ? अर्थात् नहीं होमकती है । ऐसा ही कहा है कि आत्माकी शुद्धिके उपयोगकी अपेक्षा करने जो श्रेय मन की गति उस गतिका प्रथम संयोग होना ही ही योग कह गया है । टीकाकार कहते हैं—जा आत्मा अपने आत्माको जान आत्माके द्वारा अपने आत्माके ही निरन्तर योग करता है वही मुक्ति, निश्चय योगभक्तिमें संयुक्त होता है ॥

ईह भो इषी निश्चय योगभाकेके स्वरूपको कहते हैं—

सद्विद्विअप्याभां, अप्याणं जो हु जुंनहं साहु ।

सो योगभक्तिनुसो, इहस्म कर्तं हरे योगा ॥१६॥

साभाज्याय जो काह भाग्य सा इह पाके जगतीमें जान आत्माके यह कर्मा है जगत्की ही योगभाके तानी है, साथ गुणके यह साह करे वही योग नही साभा ।

इहयोगीय जो साह भाग्य सा इह पाके जगतीमें जान आत्माके यह कर्मा है जगत्की ही योगभाके तानी है, साथ गुणके यह साह करे वही योग नही साभा ।

इहयोगीय जो साह भाग्य सा इह पाके जगतीमें जान आत्माके यह कर्मा है जगत्की ही योगभाके तानी है, साथ गुणके यह साह करे वही योग नही साभा ।

विवरीयाभिणिवेसं, परिचत्ता जोण्हकहियतचेसु ।  
जो जुंजदि अप्पाणं, णियभावो सो हवे जोगो ॥१३९॥

सामान्यार्थः—जो विपरीत अभिप्रायको छोड़ करके जैन शासनमें कहे हुए तत्त्वोंमें अपने आत्माको योग करता है वही आत्माका निज भाव, योग कहलाता है ।

विशेषार्थः—जैन सिवाय अन्य धर्मोंके कर्त्ताओंद्वारा कहे हुए विपरीत पदार्थोंमें राग भावका होना वही दुराग्रह है अर्थात् एक भारी हठ है तथा इसीका नाम विपरीत अभिप्राय है । क्योंकि पदार्थ अनेकान्तरूप है सो स्यादादिके द्वारा ही यथार्थ प्रतिपादित हो सकती है । इसलिये उस दुराग्रहको त्यागकर जैन आगममें कहे हुए तत्त्वोंको निश्चय और व्यवहार नयोंके द्वारा जानना योग्य है ॥ सकल जिन जो अरहंत भगवान् तीर्थनाथ उनके चरण कमलोंकी सेवा करनेवाले जैन हैं, सो निश्चयसे श्री गणधर देवादि मुनीश्वर हैं । इन आचार्योंके द्वारा वर्णन किये गए जो सम्पूर्ण जीवादितत्त्व उनके अनुभवमें जो कोई परम जितेन्द्री योगीश्वर अपने आत्माको जोड़ देता है उस योगीका जो अपना आत्मीक भाव है वही परम योग है ॥ टीकाकार कहते हैं कि जैन मुनियोंके नाथ श्री तीर्थकर अथवा गणधरदिकोंके द्वारा प्रगट किये हुए तथा भव्यजनोंके संसारको घात करनेवाले तत्त्वोंके अंदर जो कोई जिन वीतरागी योगीनाथ अपने अनादि परसमयमें होनेवाले विपरीत बुद्धिरूप दुराग्रहको त्यागकर साक्षात् अपने आत्मीक अंदर भावको तन्मय करता है उसीके ही भावयोग कहलाता है ॥

आगे भाकि अधिकारको संकोचते हैं:-

उसहादिजिणवरिंदा, एवं काऊण जोगवरभच्चिं ।  
णिब्बुदिसुहमायण्णा, तद्दा धरु जोगवरभच्चिं ॥१४०॥



जीवोंकी निम्न यह भक्ति कभी चाहिये ॥ अपने पितरों राग और द्वेषकी परपरासे होनेवाली जो परिणति उसको छोड़कर अब मैं शुद्ध ध्यानसे अपने मनको संयुक्त करके आनन्दमई आत्मतत्त्वमें स्थित होता हुआ तथा श्रीगुरुके निकट दक्षिणमुखको करनेवाले धर्मका लाभकर अपने सम्पूर्णज्ञानसे समस्त मोहकी मर्मिकाको हटाता हुआ परम ब्रह्मस्वरूप परमात्मामें लीन होता हूँ ॥ जो अतीन्द्रिय मुखके लोटुपी हैं तथा निम्होंने अपना जिन आत्मतत्त्वके लोभमें बसा दिया है उनको गुरु आनन्दमें भरपूर यह उन्नत तत्त्व प्राप्त होता है ॥ जो यती अत्यन्त अपूर्व अपने आत्माकी भावनासे उत्पन्न जो परम गुरु उसकेलिये यत्न करते हैं वे ही यती निश्चयकरके जीवन्मुक्त होने हैं दूसरे नहीं ॥ मैं मात्र एक ही परमात्म तत्त्वकी पुनः पुनः भावना करता हूँ । जो इन्द्ररहित है, अद्वैत है, परम हितकारी इष्ट है तथा सर्व पापोंसे दूर है ॥ केसा हूँ मैं मुक्ति निशाका अभिग्राही हूँ संसारके सुखोंका निगमितापी हूँ मुखको परमात्म तत्त्वके सिवाय अन्य पदार्थोंके संबंध करनेसे कौनसे पदकी प्राप्ति होगी ? अर्थात् कुछ न होगी । भावार्थ—जो जिसको चाहें उसीको भजे । जो परमात्मा होना चाहता है उसकेलिये उसी तत्त्वकी भावना काव्यकारी है ॥

इति श्रीकविजनरूपी कमठोंकेलिये सूर्य्य पंचन्द्रियके विस्तारसे रहित शरीरमात्र परिग्रहके धारी श्रीपद्मनाभ-मलधारी वैद्य द्वारा रचित श्रीनियमसार ग्रंथकी तात्पर्य्यवृत्ति नामकी संश्रुतप्यारुष्या तिसरमें परमभक्ति नामा दशवां श्रुतस्कंध पूर्ण हुआ ॥ १५० ॥

## निश्चयावश्यकधिकार ।



आगे सामायिक प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, स्तुति, वंदना, कायोत्सर्ग ऐसे छः आवश्यक व्यवहार उनसे प्रतिपक्षी जो शुद्धनिश्चय उसका अधिकार कहते हैं ।

प्रथम ही कहते हैं कि जो निरन्तर अपने वश है उसीके निश्चय आवश्यक कर्म होता है:—

जो ण ह्यदि अणवसो, तस्स तु कम्मं मणंति आयासं ।  
कम्मविणासणजांगो, णिद्वहिमग्गोत्ति पिज्जुत्तो ॥१४१॥

सामान्यार्थः—जो दूसरोंके वश नहीं रहता है उसीके आवश्यक कर्म होता है ॥ यही कर्मोंके नाश करनेमें समर्थ मोक्षका मार्ग है, ऐसा कहा गया है ॥

विशेषार्थः—जो कोई निश्चयसे श्रीविनेन्द्रके मार्गमें यथार्थ सिद्धिके अनुसार आचरण करनेमें कुशल अर्थात् चतुर है, जो सदा ही अतीतमें तीन दोहर किसी भी अन्यके आर्धान नहीं होता किन्तु साक्षात् अपने आत्माहीके आर्धान रहता है वही व्यवहार क्रियाके आह्वयोंके यथार्थ उद्गमन का जाता है तथा उसीके अपने आत्माहीके उद्गमने रहनेवाला एसा निश्चय सम्मज्यानवशात् ज्ञान परम नाशक कर्म होता है । एसा निरन्तर परमापचारागमें उद्गीत परम वीतरागा वागीन्धर कहते हैं । यथानन परं ते हि मन वचन कषणं कीर्तयन्ते गुण एता नो परम धर्माणि वीरे हे नक्षत्रा विषया एता नो परमदाम वीरे धर्मे कर्मोंके विनाश करनेका कारण है तथा वही काश्चित् भागका कारण होनेमें निर्निवृत्तमार्ग है, एसा अनुमान है । एता ही

भी अधुतबन्ध-शुद्धि कहता है—यह आत्मा धुन्दापयोगको प्राप्तकर स्वये अपने धर्मरूप होता हुआ तथा नियम आनेइसे व्याप्त सत् ज्ञानतत्त्व-रूपी गणेशधर्म हुआहुआ, अतिशयकरके अपने निश्चलपनेसे कम्परहित होता हुआ जो प्रकाश उल्लस अपने ज्योतिको स्फुरावमान करता हुआ स्वभावसे धोभायमान जो रमनधर्म रज्जुप उसमें निवास करनेवाली मुक्ति लक्ष्मीकी प्राप्त करता है ॥ टीकाकार करते हैं कि साक्षात् अपने आत्माके आधीन रहनेवाला जो आवश्यक कर्मरूपी धर्म सो अतिशयकरके सन्निधाने मूर्तिधारी आत्माहीकेविषे नियत-रूपसे प्राप्त होता है । यही धर्म कर्मोंके क्षय करनेमें कुशल है और मोक्षका एक मात्र यही मार्ग है । इसहीके द्वारा मैं जिस तरह होसके शीघ्र ही विकल्परहित सुखको प्राप्त होता हूँ ॥

आगे कहे हैं जो स्वार्थीन परम वीतरागी योगीश्वर हैं उन्हींके यह परम आवश्यक कर्म अवश्य होता है—

ण वसो अयसो अयस,—स कम्ममायासपंति बोधव्वा ।  
जुत्तिचि उपाअंति य, णिरययवो हांदि णिज्जेत्ती ॥१४२॥

सामान्यार्थ—जो किसीके आधीन नहीं है वह अवश है । स्वार्थीन के ही आवश्यक कर्म होता है ऐसा जानना चाहिये । यही युक्ति है, यही उपाय है तथा यही अवयव परद्रव्य अर्थात् उससे रहित निश्चिकि होती है ।

विशेषार्थ—निश्चयसे योगी अपने आत्मस्वरूपके ग्रहण करनेके कारण अन्य पदार्थोंके वश नहीं होता है अतएव अवश अर्थात् स्वार्थीन रहता है । जो अवश परम वीतरागी योगीश्वर होता है उसके निश्चय धर्मध्यान स्वरूप जो परम आवश्यक कर्म सो अवश्य ही होता है ऐसा जानना चाहिये । निरवयव (कायसे रहित) होनेका उपाय उक्ति है । अवयवी अर्थात् काय उसका अभाव सो निरवयव है । जो परद्रव्योंके

## निश्चयावश्यकधिकार ।



आगे सामायिक प्रतिक्रमण, प्रत्यास्यान, स्तुति, वंदना, कायोत्सर्ग ऐसे छः आवश्यक व्यवहार उनसे प्रतिपक्षी जो शुद्धनिश्चय उसका अधिकार कहते हैं ।

प्रथम ही कहते हैं कि जो निरन्तर अपने वश है उसीके निश्चय आवश्यक कर्म होता है:—

जो ण हवदि अण्णवसो, तस्स ढु कम्मं भणंति आवासं ।  
कम्मविणासणजोगो, णिव्वहिमग्गोत्ति पिज्जुत्तो ॥१४१

सामान्यार्थः—जो दूसरेके वश नहीं रहता है उसीके आवश्यक कर्म होता है ॥ यही कर्मोंके नाश करनेमें समर्थ मोक्षका मार्ग है, ऐसा कहा गया है ॥

विशेषार्थः—जो कोई निश्चयसे श्रीजिनेन्द्रके मार्गमें यथार्थ विधिके अनुसार आचरण करनेमें कुशल अर्थात् चतुर है, जो सदा ही अंतरंगमें लीन होकर किसी भी अन्यके आधीन नहीं होता किन्तु साक्षात् अपने आत्माहीके आधीन रहता है वही व्यवहार क्रियाके आडंबरोंके प्रपंचसे उदासीन हो जाता है तथा उसीके अपने आत्माहीके अभयमें रहनेवाला ऐसा निश्चय धर्मध्यानरूपी प्रधान परम आवश्यक कर्म होता है । ऐसा निरन्तर परमतपश्चरणमें लवलीन परम वीतरागी योगीश्वर कहते हैं । प्रयोजन यह है कि मन वचन कायकी गुणियोंमें गुप्त ऐसी जो परम समाधि वही है लक्षण जिसका ऐसा जो परमयोग वही सर्व्व कर्मोंके विनाश करनेका कारण है तथा यही साक्षात् मोक्षका कारण होनेसे निर्वृत्तिकामार्ग है, ऐसी व्युत्पत्ति है । ऐसा ही



भी अमृतचंद्र-सूराने कहा है—यह आत्मा शुद्धोपयोगको प्राप्तकर स्वयं अपने धर्मरूप होता हुआ तथा नित्य आनंदसे व्याप्त सत् ज्ञानतत्त्व-रूपी सरोवरमें डूबाहुआ, अतिशयकरके अपने निश्चलपनसे कम्परहित होता हुआ जो प्रकाश उससे अपनी ज्योतिको स्फुरायमान करता हुआ स्वभावर्हासे शोभायमान जो रत्नत्रयमें रत्नदीप उसमें निवास करनेवाली मुक्ति लक्ष्मीको प्राप्त करता है ॥ टीकाकार कहते हैं कि साक्षात् अपने आत्माके आधीन रहनेवाला जो आवश्यक कर्मरूपी धर्म सो अतिशयकरके सच्चिदानन्द मूर्तिधारी आत्माहीकेविषय नियत-रूपसे प्राप्त होता है । यही धर्म कर्मोंके क्षय करनेमें कुशल है और मोक्षका एक मात्र यही मार्ग है । इसहीके द्वारा मैं जिस तरह होसके शीघ्र ही विकल्परहित सुखको प्राप्त होता हूँ ॥

आगे कहे हैं जो स्वार्थान परम वीतरागी योगीश्वर हैं उन्हींके यह परम आवश्यक कर्म अवश्य होता है:—

ण वसो अवसो अवस,—स्त कम्ममावासयंति बोधत्वा ।  
जुत्तिचिउयाअंति य, णिरघयवो होदि णिज्जेत्ती ॥१४२॥

सामान्यार्थ—जो किसीके आधीन नहीं है वह अवरा है । स्वार्थान के ही आवश्यक कर्म होता है ऐसा जानना चाहिये । यही युक्ति है, यही उपाय है तथा यही अवयव परद्रव्य अर्थात् उससे रहित निश्चिन्ता होती है ।

विशेषार्थ—निश्चयसे योगी अपने आत्मस्वरूपके ग्रहण करनेके कारण अन्य पदार्थोंके वश नहीं होता है अतएव अवरा अर्थात् स्वार्थान रहता है । जो अवरा परम वीतरागी योगीश्वर होता है उसके निश्चय धर्मध्यान स्वरूप जो परम आवश्यक कर्म सो अवश्य ही होता है ऐसा जानना चाहिये । निरवयव (कायसे रहित) होनेका उपाय उक्ति है । अवयवी अर्थात् काय उसका अभाव सो निरवयव है । जो परद्रव्योंके

वश नहीं होता वही निरवयव अर्थात् अक्राय हो जाता है ऐसी निवृत्ति अर्थात् व्युत्पत्ति है ॥ टीकाकार कहते हैं जो कोई योगी अपने आत्म-हित में लीन रहता है वह शुद्धजीवास्तिहायको छोड़कर अन्य पदार्थोंके वश नहीं होता है—इस प्रकार अवस्थाका होना सो निवृत्ति है । इसी कारणसे इस योगीके अमूर्तीकरण प्राप्त होता है । केसा है अमूर्तीकरण, जो इस योगीके पापरूपी अंधकारके नाशसे निच्य स्फुरायमान होती हुई जो ज्योति उससे प्रगट जो स्वाभाविक अवस्था उससे युक्त है ।

आगे कहते हैं कि जो भेदरूप उपचार अर्थात् व्यवहार रत्नत्रयकी परिणतिमें रहता है उस जीवके अवशपना नहीं होता है:—

वद्वि जो सो समणो, अण्णवसो होवि असुहभावेण ।  
तम्हा तस्स दु कम्मं, आवस्सयलक्खणं ण हवे ॥१४३॥

सामान्यार्थः—जो कोई श्रमण अर्थात् मुनि अपने अशुभ भावके-द्वारा आत्माके सिवाय अन्य पदार्थके वश हो जाता है इसी कारणसे उसके आवश्यक कर्म नहीं होता है ॥

विशेषार्थः—अप्रशस्त राग आदि अशुभ भावोंके द्वारा जो कोई श्रमणाभास अर्थात् द्रव्यलिङ्गी मुनि वर्तन करता है और अपने स्वरूपसे भिन्न जो अन्य परद्रव्य उनके वशमें हो जाता है उस जघन्य रत्नत्रयमें परिणमन करनेवाले जीवके अपना आत्मा ही है आश्रय जिसका ऐसा धर्मध्यान लक्षण जो परम आवश्यक कर्म सो नहीं होता है । भोजनके अर्थ द्रव्यलिङ्गको धारके अपने आत्मीक कार्यसे विमुक्त रह परमतप-श्रमणसे उदासीन होकर जिनेन्द्र मंदिर व उसका क्षेत्र व मकान व धन धान्यादि मेरा है ऐसा मनमें किया करता है ॥ भावार्थ । ऐसे द्रव्यलिङ्गीके धर्मध्यान नहीं हो सकता । टीकाकार कहते हैं—तीन भवनरूपी मकानमें भरे हुए अंधकारके समूहसे व्याप्त ऐसे तृणके घरको भी जो मुनि

नीच कोशय भावसे छांद शुक्र है बे ही मुनि यदि हम वांगारियोंक अनुपम वचनके स्थानकी भाद करते हैं तो ऐसे मुनियोंका यह कोई नवीन मांढनी-कर्मका कार्य है ॥

इस कलिबाल पंचमकालमें कभी कोई ही पुण्यात्मा जीव मुनि होकर धियायादि कलक की कीचसे अलग रहता है और अपने मध्य आर्षिक धर्मकी रक्षा करता है । बेधा है मुनि, जो अनेक प्रकारक परिग्रहोंमें ललम है तथा पापकपी धर्मके दूध करनेको अभि है सो मुनि इतनाक और परलोकमें देवसे पूजा जाता है ॥ इस लोकमें यह तपस्या सम्पूर्ण बुद्धिमान शैत पुर्योंको प्राणात प्यारी है तथा निम्नर सो इन्द्रोंसे नम-स्कारके योग्य है ऐसी तपस्याको पाकरके जो कामक अधिकारस प्राप्त संसाधिक शुभमें समता है सो महामुं जरबुद्धि है । यह है कि उमने अपना बहुत बिगाट किया ॥ जो मुनिदेवको धानेशता भी है परन्तु आमाके सिवाय अन्य पर पदार्थके आर्षिन है वह संसाधि है और निश्च सु.सोको भोगनेशता है । तथा जो अपने आत्माके वश है वह जीवन्मुक्त ही है भी जिनेश्वर देवसे कुछ ही कम है ॥ अतएव तीर्थकर भगवानके मार्गके धारी मुनिसमूहमें जो मुनि स्ववश है, अपने आत्माके ही आर्षिन है बे ही धामाको पाते है । परन्तु जो आत्माके सिवाय पर पदार्थके वश होते है वे एते ही प्रतिभासते है जैसे चाकरोंके समूहमें यह चाकर जिसको राजा अपनी सुशामद् व हमें ही मिटा देनेके कारणसे प्यार करता है अर्थात् जो सुशामदी राजब्रह्म चाकर होगा वह सदा परार्षिन होगा । ऐसा ही वह आत्मस्वरूपमें बाह्य मुनि है ॥

आगे फिर भी अन्यके आर्षिन जो अशुद्ध अंतरात्मा जीव उतीका लक्षण करते हैं:-

जो घरदि संजदो खलु, मुहभाये सो हयेइ अण्णवसो ।  
तस्सा तस्स दु कम्मं, आवासयलकखणं ण हये ॥१४४॥

**सामान्यार्थः—**जो संयमी मुनि शुभ भावमें प्रवर्तन करता है भी अन्यके आर्धान हो जाता है इसलिये उसके आरम्भक टङ्गन जिसका ऐसा कर्म नहीं होता है ॥

**विशेषार्थः—**जो कोई साधु त्रिनेन्द्रके मुक्तकमलदास प्रभट जो पर आचार शास्त्र उसके क्रमसे सदा संयमको पालते हुए शुभोपयोगमें चक हैं अर्थात् व्यवहारिक धर्मध्यानमें परिणमन करते हैं। अतएव वा आचरणके पालनेमें प्रधान रहते हैं। स्वाध्याय काठको इसका स्वाध्याय करते हैं, प्रतिदिन एकवार भोजन करके चार प्रकारके आहार का त्याग करते हैं, तीनों सध्याओंमें अर्थात् प्रातः शोषहर और सांझको १०० श्लोमें मंदिनीक अरहंन भगवान् परमेश्वरकी स्तुति पढ़ते हैं, तीनों काठोंके नियमोंमें लीन रहते हैं इस प्रकार रात्रि दिनमें ग्यारह क्रियाओंमें तत्पर रहते हैं। तथा पाशिक, मामिक, चानुमांसिक तथा वापिक प्रतिक्रमण पाठके मुननेमें उत्पन्न हुआ जो मतोप उमम रोमाचित शरीर वा जाते हैं जो मनमान नमोद्वेषे सपरिव्याय मुनिपरिमन्यान, शासनशायनमन जो कायकर्म पमे उः वस तर्पोंमें सदा उन्मातव लीन रहते हैं तथा स्वाध्याय ध्यान, तथा शुभाचरणमें गिरकर फिर उर्सीमें स्थित होना एसा वा प्रायोजन तथा विनय वेष्ट्यावन और व्युत्पन्ने एसे उः अनरम तर्पोंके आचरण करनेमें मनु कुरु मान होने हैं किन्तु वे निरपेक्ष अर्थात् इच्छादिन मुनि साक्षात् मोक्षका कारण जो आत्मस्वरूप उसके आश्रयरूप जो आरम्भक कर्म तर्पोंके निष्कयन परमा मनमाने ईश्वरिक वा निष्कय धर्मों ध्यान तथा दुष्कषयन इनका नहीं जानते हैं इसाद्वय आत्मस्वरूपकी निष्क वा पर इन्ने इनके अर्पित वा है, इसाद्वय इनकी मरदा कर्तरी है क य ही सांकेतिक मुनि वाक्य मन्ने तन्मके अन्ने निष्क वा एन्ने दुष्कषयनका माइ दुष्कीके दुष्कारणने निष्क वा के ईनकाके वाक्यी मन्नेके अन्नाय वन्ने वा है।

प्राप्तु अथ इत्यादी अर्थमें सिद्ध अथवाक गुणादी उद्यम तापा हे  
 त्पु य ही पदम गुणादी दुःखाय प्राप्त नो तस्य आधीक तस्यका अत्यम  
 परिहाराय प्रोय साधयद्यपि यो दुःख विषय इत्यस्य तत्पक्षे परिहारि  
 कस्य निवृत्तक दुःखाय प्राप्त वानत हे । हीकाकार वदत हे कि हे  
 दुःखीयमि प्रथम ' तु त्वयागतक अर्थात् दुःखीययत्पु दुःखीय हे वि  
 वतनाः तादृ, निवोणदी कालता जी पदम दुःखीयमि'य तस्य कालता  
 रक्षाभाविक्त धरणाया तस्यो भ्रमो विवोण हे पदमपया, का पदम आनन्दस्वरूप  
 हे, तस्यो विषय तानका रूपम हे, एते प्रकाशक अर्थतानि  
 गतत हे तथा दुःखम ओ बुद्धयक मर्थम तानता वृ हे ॥

विश्व भी पददे,म सापुका ही स्वरूप वदत हे

**दुःखगुणपञ्चदश, चित्तं चो कुणह सं चि अण्णवसां ।  
 माहाधिपारवसगव,—समणा वाहपति वरिसर्प ॥१४५ ॥**

शामान्यार्थः— जो कोई वादु ए दुःखीक गुण ओ पदाधिक  
 पदमपनमे जने विषयो वासा हे तस भी अन्यके पदा हे—पराधीन हे,  
 पदा अर्थके अथवापय दुःखी की मुनयोन वा हे ॥

विश्वार्थः— जो कोई दुःखीयत्पायी सापु भीअर्हत समान  
 द्वाय दवर्तान ना मुन पदार्थ ओ उनके भर उता पदार्थ उनके  
 अर्थको दर्शन इत्यने प्रतिमान हे ऐसा होकर कभी जीव, पुद्गल, धर्म,  
 अर्थ, नाकार, कात इन उ. दुःखीय अर्थने विलयो पला हे कभी उन  
 दुःखीय मुक्तिक कमृताक चेतन अर्थेनन गुणादि वीधने अर्थने मनको  
 जोदुष हे कभी उन दुःखीकी गुणने परिणमनरूप अर्थवर्षायेने  
 कभी उन दुःखीके स्वरूपने परिणमनरूप व्यंजनवर्षायेने बुद्धि देता  
 हे परन्तु तानी कातेने आधरणहित नित्य आनन्द तस्मादा पायी ऐसा  
 जो अर्थना वाण समस्यार अर्थात् पामान्ना उसके स्वरूपने उच्यते जो

सहज ज्ञान आदि शुद्ध गुण और शुद्ध पर्यायोंको सेवनेवाला अपना अहंकार  
 उसके तत्त्वमें कभी भी अपने उपयोगको नहीं संयोग करता है, इन्हीं  
 कारणसे ऐसा तपोधन अर्थात् मुनि भी अन्यवश है-पराधीन है ऐसा  
 कहागया है। दर्शन मोहनी और चारित्र मोहनी कर्मोंके ध्वंस जपाने  
 क्षय करनेवाले तथा परमात्मतत्त्वकी भावनासे उत्पन्न जो ईश्वर  
 मुरारूपी अमृत उसके पीनेमें दूधचित्त ऐसे जो महामुनि परमधुनिकेवरी  
 आदिक वे निश्चयसे अन्यवश अर्थात् पराधीन मुनिका ऐसा ही स्वप्न  
 कहते हैं ॥ ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है। जो परमज्ञ स्वरूपमें ठहरने  
 यती है उनको आत्मकार्यके सिवाय अन्य प्रत्यक्ष और परंपरासे शिक्षित  
 विताओंसे क्या लाभ है? ॥ टीकाकार कहते हैं-जबतक जीसके  
 विन्ता है जबतक ही सत्ता है, जैसे जबतक ईधन है तभीतक स्वयंसाय  
 (अग्नि) का बढना है ॥

आगे साक्षात् परार्थीन परम जिनयोगीश्वरका स्वरूप कहते हैं.-

परिचिता परभायं, अप्पाणं ज्ञादि जिम्मलसहायं ।  
 अप्पवसो सो होदि तु, तस्स तु रुम्मं भणंति आयासं १४६

सामान्यार्थ-जा साथ परममात्रको त्यागकर निर्विकल्पकस्वामी  
 जानाको क्याता है वही निश्चयों आ मया अर्थात् स्वार्थीन भाग है ।  
 तथा उन्को आशयक कम हुआ ऐसा कहते हैं ।

विशयार्थ-जा कोई मुनि ज्ञानागत ईश्वर निरालस स्वामीकी  
 परमक कारण नादिक आदि परमात्मकी चिद्रूपता ध्यान में है  
 जो वन वन कायस मला-व मला ही आशयसे ही ज्ञान निर्विक  
 स्वामीकी तथा ममूज रायका ही पर्यायोंकी संताकी वाक्यका  
 दृष्टनसक निरकारण परमात्मकी चिद्रूपता ही ही म.नाउ है । वना  
 की-मय है व नव मो ज्ञानागत निश्चय परममात्र कायक का

ऐसे साधुके ही सर्वे बाह्य क्रियाकांड आम्बर सम्बन्धी नानाप्रकार विद्वान्कोके महा कोटाहठ उनसे विराधी ऐसा जो महा आनन्दका देने-  
 कात्य निष्काम धर्मोपदान और शुद्धध्यानरूप परमआक्षरक कर्म से  
 होता है ॥ टीकाकार कहते हैं—यह उदार बुद्धिका धारी स्वार्थिन  
 योगियोंके समूहमें मुख्य मुनि जयन्त होहु । कैसा है मुनि, जिसने  
 संसारके कारण आधवको नष्ट कर दिया है तथा पूर्वमें बाधे हुए कर्मोंके  
 समूहोंको विध्वंस किया है । यही साधु अपने यथार्थ प्रगट और हठ  
 दिवक अर्थान् भेदज्ञानसे हर्षसहित सर्वथा संसारसे निर्गुनिरूप मोक्षको  
 प्राप्त करता है । कैसी है यह निर्गुनि, जहाँ यथार्थ शुद्ध ज्ञान प्रकाशमान  
 है तथा जो सदा ही आनन्दमई है । निम्नोंने कामदेवके पांच वाणोंको  
 छोड़ डाला है, जो दर्शन ज्ञान खरिब तप वीर्य्य ऐसे पांच आचारोंसे  
 शोभनीक है आहूतिज्ञान है तथा मायाचारसे रहित है ऐसे गुरुके  
 वचन ही मुक्तिरूपी संपदाके कारण हैं ॥ जो कोई निर्वाणके कारण  
 त्रिनेन्द्रके मार्गको इस प्रकार जानकर निर्वाणकी संपदाको प्राप्त करता  
 है उसको भे पुनः पुनः नमस्कार करता हूं ॥ हे योगेश्वर अपने आत्म-  
 स्वभावके बरावती योगके होनेसे सुन्दरकी और सुवर्णकी इच्छाको दूर  
 करनेवाले तुम हो । जो कामदेवरूपी व्याधके वाणोंसे पीडित चित्त है  
 उनको इस संसारवनमें कोई वचनियाला नहीं है ॥ अनशन आदि तप-  
 धरणोंसे तो मात्र शरीरका सूखना ही पल है और कुछ नहीं है परन्तु भे  
 आपके चरणकमलोंकी चित्तार्थे लवटीन हू तथा स्वार्थिन हूं इससे मेरा जन्म  
 सदा सफल है ॥ स्वाभाविक तेजके समूहमें मद्य पुरुषकी जय होहु ।  
 कैसा है यह तन्वशानी नर, जो अपने आत्मिक रसके प्रवाहमें पापोंको  
 सर्व तरफसे धोचुका है । स्वाभाविक समताके रससे पूर्ण है, पुन्यात्मा  
 है, समीचीन है, अपने आर्षिन अपने मनको किये हुए निष्काम विराज-  
 मान है तथा अत्यन्त छद्म सिद्ध समान है ॥ श्री सर्वज्ञ वीतराग भगवान-

के और स्वाधीन आत्मवश योगीके कहीं भी कोई भेद नहीं है। एतन्व  
हम लोग मूर्ख जड़बुद्धि हैं, धैतन्य स्वभावको न जानकर मोड़ी हैं।  
इस संसार में एक वही महामुनी सदा धन्य है जो अपने आत्माके रक्ष  
है तथा अन्य पदार्थ में बुद्धिको नहीं रसनेवाला है और जो सब कर्म  
कोटोंसे बाहर रहनेवाला है ॥

आगे शुद्ध निश्चय आरक्ष्यककर्मकी प्राप्तिके उपायके स्वरूपको  
कहते हैं:—

आयासं जइ इच्छसि, अप्पसहायेसु कुणहि धिरमारं ।  
तेण दु सामण्णगुणं, संपुण्णं होवि जीवरस ॥ १४७ ॥

सामान्यार्थ—यदि तू आरक्ष्यक कर्मको प्राप्तता है तो तू आत्म-  
स्वभासमें स्थिरभासको कर । इसीकरके जीवके सामान्यिक गुण संपूर्ण  
होता है ॥

विशेषार्थ:—इस संसारमें सामान्यिक, प्रतिक्रमण आदि चार्थ का  
आरक्ष्यक कर्मके प्रांच जातोंके कटकल सधुको करने तथा  
मुननमें उदाय क शिष्य ! यदि तू संसारसुख समुद्रके मूडको काटनेके  
कुलाइके समान शुद्ध निश्चय धर्मज्ञान तथा शुद्ध ध्यानधर अपन  
की आत्माके प्रात्रयमें रहनेवाला आरक्ष्यक कर्मको प्राप्तता है तो तू  
समस्त विद्वान्जातोंमें मुक्त निरंतर अपने ही परमात्माके सामान्यिक  
अन सामान्यिक दर्शन करिब तथा सामान्यिक गुण आदि भासने  
समस्त नवन निश्चय स्थिर भासको कर । इसी उपायमें निश्चय सामान्यिक  
ज श्रवण रूप के । जो नीच भोजनका इच्छुक है उसके भास काय क  
आरक्ष्यक विद्यासौत्र तथा विद्विहीनो । नरोंने कहे भी उपायक  
अने अत्यंत काल पान्य कटकल जान न होकर ॥ इन कारण भास  
के एक संतान तथा सामान्यिक उदाय तथा ही कारणके निश्चय  
में आरक्ष्यकर्म इसीके द्वारा जोसको आत्मानेके प्राप्तिको पुण्य, कि



लाभ हाँकेग्य ॥ ऐसा ही भी योग्यव्ययने करा है—यदि किसी निमित्तसे तेरा मन अपने स्वरूपसे बाहर जाता है तो मुझे सर्व योग्यका प्रयत्न आता है और यदि हे भव्य ! तू निरन्तर अंतरंगमें मग्न हो अपने ब्रह्मको आपसे लवलीन करता हुआ स्थिर स्वभावरूप हो जाता है तो तेरे समारका अंत हो आता है ॥ टीकाकार कहते हैं—इस प्रकारका जो अपने आत्मामें नियत रूपसे रहनेवाला आचरण है सो सर्व संसारके दुःखोंका निवारणवाला है तथा मुक्तिरूपी सुन्दर ललनासे उत्पन्न होनेवाला जो मुख उसका अतिप्रियसे कारण है । ऐसा भले प्रकार समझकर जो कोई अपरहित समय अर्थात् आत्मा उसके सारको अर्थात् शुद्धात्मस्वरूपको सर्वदा जानता है वही मुनियोंका पति सर्व बाध क्रियासे दटा हुआ पाप बन्के दग्ध करनेको अग्नि समान होता है ॥

आगे शुद्धापर्यायके सन्मुख जो शिष्य उसको शिक्षा करते हैं—

आवागएण हीणो, पम्भटो होदि चरणदो समणो ।

पुप्पुत्तकमेण पुणां, तद्वा आवासयं कुज्जा ॥ १४८ ॥

सामान्यार्थः—जो भ्रमण अर्थात् साधु आवश्यक कर्म नहीं करता है वह अपने चारित्रसे भ्रष्ट है । इसलिये पहले कहे हुए क्रमसे ही आवश्यक कर्म करने चाहिये ।

विशेषार्थः—व्यवहार नयसे भी जो मुनि समता, स्तुति, भवना, प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग आदि छः आवश्यक क्रियाओंको नहीं करता है वह साधु चारित्र भ्रष्ट होता है । तो फिर जो शुद्ध निश्चय नयके परम अध्यात्मिक भाषासे करी हुई जो निर्विकल्प समाधि स्वरूप परम आवश्यक क्रिया उससे रहित है सो मुनि तो निश्चय चारित्रसे भ्रष्ट ही है । इसलिये पहली माध्यात्मिक स्वार्थान परम वीतराग योगीश्वरकेलिये जो निश्चय आवश्यक क्रियाका क्रम बताया है उसके अनुसार अपने

आत्माहीमें है आश्रय जिनका ऐसे निश्चय धर्मध्यान तथा शुद्धध्यानके द्वारा परम मुनिको सदा आवश्यक कर्म करना योग्य है। भावार्थ— प्रथमावस्थामें मुनिको व्यवहार छः आवश्यक करने ही चाहिये परन्तु द्वितीय परमसमाधिरूप निश्चय आवश्यक कर्ममें रत्ननी चाहिये तथा निश्चय हीको उपादेय समझना चाहिये। इस अभ्याससे जब सातवें गुणस्थानके अंतमें पूर्ण निश्चय धर्मध्यानका लाभ करता है तथा आठवें गुणस्थानमें जब शुद्धध्यानको पाता है तब बाह्य आवश्यक अपने आप छूट जाते हैं। क्योंकि वह अवस्था विकल्परहित निश्चल समाधिहोकी है। टीकाकार कहते हैं कि आत्माको अवश्य स्वाभाविक एक परम आवश्यक कर्म करना चाहिये। कैसा है यह कर्म, पाप समूहोंको हरनेवाला तथा मोक्षका मुख्य कारण—मूल भूत है। जो इस कर्मको करता है वह नित्य अपने आत्मिक रसके विस्तारसे पूर्ण, परिवर्ध और समीचीन कहलाता है तथा अविनाशी अन्तर्निहित अपूर्व सुखको प्राप्त करता है ॥ जो मुनीन्द्र स्ववश अर्थात् स्वाधीन हैं अपने आत्मस्वरूपमें लवलीन हैं उन्हींको अपने आत्माका अनुभवरूप यह आवश्यक कर्म प्राप्त होता है। कैसा है यह कर्म, मुनिके सात सुखों का एक अद्वितीय कारण ( मूल ) रूप है ॥

आगे कहते हैं जो तपोपन आवश्यक कर्मसे रहित है वह बहिरात्मा है:—

आवासपण जुत्तो, समणो सो होदि अंतरंगप्पा ।

आवासयपरिहीणो, समणो सो होदि बहिरप्पा ॥१४९॥

सामान्यार्थ—जो मुनि आवश्यक कर्मकरके सहित है वही अंतरंग आत्मा अर्थात् अंतर्गत्मा है और जो आवश्यक कर्मको छोड़ कर रहित है वह मुनि बहिरात्मा निष्प्याहरी है ॥

विहीनार्थे—अर्थात् और उपधाएँ रहित अन्वय स्वरूप जो अपने  
 आत्मा इत्यर्थे अनुष्ठान (आचरण) कर्त्वा कही अन्वय परमाचार्यक कर्म है  
 उत्तरी निम्बपत्राचार्य एता जो अपने आत्माके लीन स्वार्थीक परमसुखि वा  
 कर्त्वा इष्ट अंतर्गता है । हेतु है यह अत आत्मता, जो शीतल कदाच  
 और भी माकथाय एक अध्यायस ए नदही जो क्षीणमाह नाम कदाहं  
 गुणध्यानकी पदवी परका प्राप्त हो चुका है । एता ही अतामा है ।  
 अन्वयान्तर्गमे हेतु है । तथा असंख्य अर्थीक अर्थम रहित अर्थात् परम-  
 एता ही अन्वय अंतर्गता है । इन शीतल अन्वयमे एवं ही अन्वय अंत-  
 र्गता है अर्थात् अन्वयान्तर्गता अन्वय अंतर्गता है । ये तीनों ही  
 अन्वयान्ता अपने ५ गुणध्यानक योग्य व्यवहार निम्बपत्र आचार्यक  
 कर्मको कर्मवले है । तथा निम्बपत्र व्यवहारमेव द्वारा कही एता जो  
 परम आचार्यक विद्या उत्तरी रहितकहिलाया है ॥ एता ही भी मायामका-  
 रामे कही है । हीकाकार कहते हैं—थागी निम्ब ही स्वाभाविक परम  
 आचार्यक कर्मके युक्त है तथा शीतल उत्पन्न जो प्रकृत मुख दुःखकी  
 कनी उत्तरी इष्ट एतर्गता है । इत्यदि वे योगी निम्ब अपने आत्माके  
 लीन अंतर्गता हैं तथा जो अपने आत्माइमाकमे अष्ट है वे बाह्य ताकामे  
 लीन कहीतामा है ॥

अंतर्गता अन्वयान्ता जो अन्वय अर्थीक कथन उसके एवाक्या उपदेश  
 कर्त्ता है—

अंतरबाहिरजल्पे, जो पट्टइ सो हृषइ पहिरण्या ।

जल्पंसु जो ण पट्टइ, सो उचइ अंतरंगण्या ॥ १५० ॥

व्याख्यानार्थ—जो अंतर्गता और बाह्य अन्वय अर्थीक कथन रचनामें  
 वर्तन करता है परन्तु स्वरूप चिन्तनन नहीं करता यह कहीतामा है  
 किन्तु जो इन जल्पोंमें नहीं रहता उहीको अंतर्गता कहते हैं ।

विशेषार्थ—जो कोई जिनलिंगधारी तपोधनाभास अर्थात् मुनि नहीं किन्तु मुनिसा दीखनेवाला पुण्यकर्मकी इच्छा करके स्वाध्याय, प्रत्याख्यान, स्तवन आदि बाह्य कार्योंमें जल्प करता है अर्थात् शब्दोंको कहता है तथा भोजनपान शयनादिके स्थानोंमें अपने आदर सत्कारके पानेका लालची होकर अंतरंग भाववचनरूपी जल्प मनमें कहता है सो बहिरात्मा जीव है। परन्तु जो अपने आत्माके ध्यानमें लीन होकर तथा सम्पूर्णतया अंतरंगमें सन्मुख रहकर शुभ तथा अशुभ समस्त विकल्प जालोंमें कभी नहीं वर्तन करता है सो ही परम तपोधन साधु साक्षात् अंतरात्मा है। ऐसा ही श्रीअमृतचंद्रसूरीने कहा है कि अपनी इच्छापूर्वक उछलते हुए समस्त विकल्प जालोंको तथा महा भारी नयोंकी पक्षरूपी श्रेणीको इस प्रकार उल्लंघन करके जो वर्तता है वही अंतरंग और बहिरंग दोनों अवस्थाओंमें एक समस्ता रसमई स्वभाव जो अपना ही अनुभवमात्र भाव है उसको प्राप्त करता है। टीकाकार कहते हैं—संसारके भयका पैदा करनेवाले सर्व अंतरंग और बहिरंग जालोंको त्यागकर तथा नित्य समता रसमई एक चैतन्यके चमत्कार-मात्र स्वरूपको स्मरण करके ज्ञान ज्योतिके द्वारा प्रकाशमान है अपना अभ्यंतर जिसका ऐसा अंतरात्मा मोहके क्षय होनेपर किसी परम तत्त्वको अंतरंगमें साक्षात् देखने लगा।

आगे कहने हैं कि अपने आत्माके आश्रय जो सुकृप्यान सो ही उपादेय है:—

जो धम्ममुक्कझाण,—मिह परिणदो सोऽपि अंतरंगप्पा ।  
झाणविहीणो समणो, बहिरप्पा इदि विजाणीहि ॥१५१॥

सामान्यार्थ:—जो साधु पुरुष धर्म ध्यान और सुकृप्यानोंमें परिणमन करता है वही अंतरात्मा है। तथा जो मुनि ध्यानमें रहित है सो बहिरात्मा है ऐसा जानो।

विशेषार्थः—जो साक्षात् उत्कृष्ट अंतरात्मा भगवान् क्षीणकषाय है उस क्षीण मोह भगवान्के निश्चयसे १६ कषाय और ९ नोकषायके अभावसे दर्शन मोहनी और चारित्रमोहनीरूपी अंधकार विलयण हैं इसलिये वह महात्मा स्वाभाविक चैतन्यका विलास है लक्षण जिसका ऐसे अत्यन्त अपूर्व आत्माको शुद्ध निश्चय धर्म शुक्लध्यानोंसे नित्य ध्याता है । परन्तु जो इन दोनों ध्यानोंसे रहित द्रव्यलिप्ती द्रव्यभ्रमण है वह बहिरात्मा है ऐसा है, शिष्य ! तुम जानो । टीकाकार कहते हैं—वही असल मुनि है जो कि सदा निर्मल धर्म और शुक्ल ध्यानामृतमई समता रसमें वर्तन करता है, जो इन ध्यानोंसे रहित है वह बहिरात्मा है । मैं पूर्वमें कहे हुए अंतरात्मा योगीकी शरणमें प्राप्त होता हूँ ॥ तथा केवल शुद्ध निश्चय नयका स्वरूप यह है कि वह बहिरात्मा है अथवा वह अंतरात्मा है ऐसा जो विकल्प सो संसाररूपी रमणी ( स्त्री ) उसीको प्यार करनेवाला है । सो यह विकल्प कुधी जाँ मंद विज्ञानरहित मिथ्यादृष्टी उन्हीको होता है परन्तु सुधी जो सम्यग्दृष्टी हैं उनके बिलकुल नहीं होता ।

आगे परम वीतराग चारित्रमें लीन जो परम तपोधन मुनि उनका स्वरूप कहते हैंः—

पडिकमणपहुदिकिरियं, कुर्वंतो णिच्छयस्य चारित्रं ।  
तेण दु विरागचरिए, समणो अब्भुट्ठिदो होदि ॥ १५२ ॥

सामान्यार्थः—प्रतिक्रमण आदिकी निश्चय चारित्ररूप क्रियाको करता हुआ जो रहता है । वही भ्रमण इसी निश्चय चारित्रके द्वारा वीतराग चारित्रमें स्थिर होता है ।

विशेषार्थः—जो इस लोकसम्बन्धी समस्त व्यापारको त्याग करके साक्षात् मोक्षकी अभिलाषा रसनेवाला महा मुमुक्षु साधु सर्व पंच इन्द्रि-

योंके व्यापारोंको त्यागनेसे निभय प्रतिक्रमण आदि मन क्रियाओंको करता रहता है वही परम तपोधन इमी उपायकरके अपने आत्मको स्वरूपमें विभ्रान्ति लेना है लक्षण जिसका ऐसे परम मीतगम चारित्र्यमें तिष्ठता है ॥ टीकाकार कहते हैं—नष्ट होगया है दर्शन और चादित्त मोह जिसका ऐसा अतुल महिमाका धारी आत्मा सामागिक सुसङ्गो करने वाडे कर्मोंसे मुक्त होता हुआ मलरहित मोक्षके मूल चात्रिमें तिष्ठता है वही मुनि आचारकी राशि अर्थात् निधिरूप है । में समता रसस्य अमृतमई समुद्रके बदनेगळे चंद्रमाके समान ऐसे तपोनिधियों बन्दन करता हूं ॥

आगे सर्व वचन सम्बन्धी व्यापारके त्यागका उपदेश है:—

वयणमयं पटिकमणं, वयणमयं पञ्चरसाण नियमं च ।  
आलोच्य वयणमयं, तं सर्वं जाण सज्ज्ञाओ ॥ १५३ ॥

सामान्यार्थः—वचनमई प्रतिक्रमण, वचनमई प्रत्याख्यान तथा नियम, और वचनमई आलोचना ये सर्व स्वाध्यायमें गर्भित है ऐसा जानो ॥

विशेषार्थः—पाक्षिक मासिक आदि प्रतिक्रमणकी क्रिया पढ़ना तथा निर्यापक आचार्यके मुखसे प्रगट समस्त पापोंके क्षयका कारण जो द्रव्यश्रुत उसका पाठ इत्यादि सर्व वचन वर्गणाके योग्य क्रिया सो पुद्गल द्रव्यके आश्रय जड़मई है । इसलिये ग्रहण योग्य नहीं है । प्रत्याख्यान, नियम, आलोचना ये सर्व पुद्गल वचनमई हैं इसलिये स्वाध्याय ही है, ऐसा हे शिष्य तुम जानो ॥ टीकाकार कहते हैं— इसलिये वह भव्यजीव जो निर्वाणरूपी धीके स्तनयुगलके स्पर्शके मुखकी इच्छा करता है सो सर्वदा समस्त वचनकी रचनाकी छोड़कर नित्य आनंदआदि अतुल महिमाके धारक अपने आत्मस्वरूपमें स्थित

ता है। वही एक इस जगतके जालको तृणके समान देखता हुआ रहता । ऐसा ही कहा है—कि वाचना, पूछना, अनुप्रेक्षा, धर्मोपदेश और प्रामाण्य ये सर्व स्तुति मंगल सहित किये जानेसे पांच प्रकारके स्वाध्याय होते हैं ।

आगे कहते हैं कि शुद्ध निश्चय धर्माध्यान स्वरूप ही प्रतिक्रमण आदि करने योग्य हैं:—

नदि सक्तदि कादुं जे, पठिकमणादिं करेज्ज ज्ञाणमयं ।  
रत्तिविहीणो जो जइ, सद्दहणं चेष कायव्वं ॥ १५४ ॥

सामान्यार्थ—हे भाई ! यदि तू करनेकी शक्ति रखता है तो ध्यानमें प्रतिक्रमणादिकोंको कर और जो तेरी शक्ति न हो तो तब तक ऐसा श्रद्धान तो करना ही चाहिये ॥

विशेषार्थ:—मुक्तिरूपी सुन्दरीके प्रथम दर्शन स्वरूप ऐसी जो निश्चय प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त प्रत्याख्यान आदि शुद्ध निश्चय क्रिया उनहीको यदि हे मुनिशार्दूल अर्थात् मुनिसिंह तैरमें संहननकी शक्ति प्रकाशमान है अर्थात् यदि तू उत्तम संहननका धारी है तौ तुझे करना योग्य है । कैसा है मुनिसिंह, परमात्मकी सुरांधमें लीन है मुस जिसका तथा कमलके समान प्रभावान है । पद्मप्रभ है नाम जिसका तथा जो स्वाभाविक वैराग्यके महलके शिखरका शिखरामणि है । और जो परद्रव्योत्ति उदास हो अपने आत्मद्रव्यमें बुद्धिको धरनेवाला है तथा पंचेन्द्रियोंके फेलावसे रहित शरीरमात्र परिग्रहका धारी है । और यदि तू शक्तिकरके हीन है तो इस दग्धकाल अकाल पंचमकालमें तुझे इस केवल उस स्वरूपका श्रद्धान ही करना योग्य है । टीकाकार कहते हैं—इम असार संसारमें पापोंसे भरोहूँ इस क्षेत्रमें इस कलिकाल पंचमकालमें इस अथ रहित तीर्थकर जिनेन्द्रके धर्मके अनुसार मुक्ति नहीं होसकती है ॥ १५४ ॥

लिये किसप्रकारसे उस आध्यात्मिक ध्यानका होना संभव है ? निबुद्धिमानोंकेलिये इसकारण भवभयको हरनेवाला अपने आत्माश्रद्धान ही करना स्वीकार योग्य है ॥

आगे साक्षात् अंतरंगमुर्ती जो परमवीतरागी योगी है उसको शि कहते हैं:-

जिणंकहियपरमसुत्ते, पडिकमणादिय परीकरऊण फुडं  
मोणव्वएण जोई, णियकज्जं साहये णिच्चं ॥ १५५ ॥

सामान्यार्थः--जिनेन्द्र कथित परमसूत्रोंसे प्रतिक्रमण आदिकस्वरूप भले प्रकार परीक्षाकरके जो योगी प्रगटपने मौन वतके साथ धारण करता है वही साधु निश्चय अपने कार्योंको साधता है ॥

विशेषार्थः--श्रीमत् अर्हत्के मुसकमलसे प्रगट सर्ग पदार्थोंको अपने गर्भमें रसनेको चतुर ऐसे द्रव्यश्रुतसे शुद्धनिश्चय स्वरूप परमात्म-ध्यानमें प्रतिक्रमण आदि सतक्रियाओंको समझकर केवल अपने आत्मीक कार्योंमें तत्पर ऐसा परम जिन वीतरागी योगीश्वर शुभ तथा अशुभ सर्ग वचनकी रचनाको त्यागकरके तथा समस्त परिग्रह और अन्यके संगको छोड़ करके अकेला रह मौन वतके साथ तिष्ठ सर्ग अज्ञानी जनोंसे निंदाता जाता हुआ भी अशोभित रह मुक्तिधीके संभोगके सुखके मूल अपने आत्मीक कार्योंको निरन्तर साधता है ॥ टीकाकार कहते हैं--अज्ञानी मनुष्योंसे करी हुई लौकिक निन्दाके भयको छोड़कर जो कोई आत्मज्ञानी मोक्षका इच्छुक आत्मा है सो भयानक संसारको करने-वाला शुभ तथा अशुभ समस्त वचनकी रचनाको हटाकर तथा सुखों और धीके मोक्षको दूरकर अपने आत्माके द्वारा अपने आत्मामें केवल मुक्तिकेलिये निभल स्थिति करता है ॥ अज्ञानी मनुष्योंसे करीगुं

१. १५ वायाचे जवा ही टीकाकारने किया है ।



निन्द्याके भयको त्यागकर तथा सम्पूर्ण लौकीक वचनके जालोंको दूरकर  
आत्मप्रवाद आगममें चतुर ऐसा परमात्मवेदी मुनि निश्चय मुक्तको देने-  
वाले अपने एक आत्मीक तत्त्वको ही प्राप्त होता है ॥

आगे वचन सम्बन्धी सर्व व्यापारोंसे निवृत्ति होनेके कारणका संक्षेप  
कथन करते हैं:-

णाणा जीवा णाणा, कम्मं णाणाविहं हवे लञ्छी ।  
तद्वा पपणाविवादं, सगपरसमएहिं यज्जिज्जो ॥ १५६ ॥

सामान्यार्थः—नाना प्रकारके जीव हैं, नाना प्रकारके कर्म हैं,  
नाना प्रकारकी जीवोंके लब्धियां होती हैं इसलिये अपने और परके  
समयों अर्थात् धर्मोंसे वचनोंका विवाद मिटाना योग्य है ॥

विशेषार्थः—जीव अनेक प्रकारके हैं जैसे मुक्त और संसारी भव्य  
और अभव्य । तथा संसारीके दो भेद हैं—ब्रह्म और स्थावर । क्षीन्द्रिय, तेन्द्री,  
धींद्री, पंचेंद्री असेनी और सेनी ऐसे पांच प्रकार ब्रह्म हैं । पृथ्वी, जल,  
तेज, वायु, वनस्पति ये पांच स्थावर हैं । आगामी कालमें स्वभावसे  
अनंत चतुष्टयमई स्वाभाविक ज्ञान आदि गुणोंकरके होनेयोग्य अर्थात्  
जिनके ये गुण आगामी प्रगट हो सकें सो भव्य हैं । इनसे विपरीत जो  
हैं अर्थात् जिनके अनंत ज्ञान आदि प्रगट न हो सकें वे अभव्य हैं ॥  
कर्म नाना प्रकारके हैं—द्रव्यकर्म भावकर्म और नोकर्म भेदसे तीन प्रकार  
के कर्म हैं, अथवा मूल प्रकृतिके भेदसे द्रव्यकर्म ८ प्रकार हैं तथा  
उत्तर प्रकृति १४८ हैं । तीव्र, तीव्रतर, मंद, मंदतर कर्मोंके उदयसे जीवोंके  
मुक्त आदिकी प्राप्ति सो लब्धि है । तथा काल, उपशम, उपदेस, प्रायोग्य  
और करण लब्धिके भेदसे पांच प्रकार लब्धि है ॥ इसलिये जो परमार्थ  
निश्चयके ज्ञाता हैं उनको अपने तथा परके मतोंसे वाद विवाद नहीं  
करना योग्य है । भावार्थ यह है कि—जबतक जीवोंके शुभ कर्मके

महान पुरुष कोई स्वयंबुद्ध कोई दूसरोंके द्वारा उपदेश लाभकर अप्रमत्तसे ले सयोगिमद्वारक गुणस्थानतक पंक्तिरूप आरूढ़ होतेहुए सम्पूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञानके धारी केवली हो गए । यह सर्व महिमा परम आवश्यक कर्मकी सेवासे प्राप्त होती है ॥ टीकाकार कहते हैं कि प्राचीन कालमें सर्व महानपुरुषोंने अपने आत्माकी आराधना ही करके योगी होकर समस्त कर्मरूपी राक्षसोंके समूहोंको नष्ट कर दिया है—ऐसे जो ज्ञानापेक्षा व्यापक और जिष्णु अर्थात् जयप्राप्त उनको जो कोई संसारका वैरागी मोक्षका इच्छुक एकाग्र मन होकर नित्य प्रणाम करता है वह जीव पापरूपी बर्नीके दग्ध करनेकेलिये आग्निके समान है तथा उसके चरणकमलोंको सर्व मनुष्य पूजन करते हैं ॥ सुवर्ण और स्त्रीके गोचर सर्व मोहको जो त्यागने योग्य है उसको छोड़कर हे मन ! तू परम गुरुके प्रसादसे धर्मका लाभ कर तथा निर्मल आनन्दकेलिये परमात्मामें प्रवेश कर । कैसा है परमात्मा, जो नित्य आनन्दरूप है, अनुपम गुणोंसे शोभायमान है, अलौकिक मोहवाला अर्थात् मुक्तिब्रेही है । तथा जो निराकुल रूप है ॥

इस प्रकार मुकविरूपी कमलोंकेलिये सूर्यके समान, पचेन्द्रियोंके विस्तारसे रहित, शरीर मात्र परिग्रहके धारी श्रीपद्मप्रभमलधारी द्वेव विराचित श्रीनियमसार प्राकृत ग्रंथकी तात्पर्य्य वृत्ति नाम संस्कृत टीकामें निश्चय परमावश्यक नामका ग्यारहवां श्रुतसंक्षेप पूर्ण हुआ ॥ .

## शुद्धोपयोगाधिकार ।



आगे सर्व कर्मोंको नष्ट करनेवाले शुद्धोपयोग नामके अधिकारको कहते हैं ॥

प्रथम कहते हैं कि ज्ञानी जीवके ही किसी अपेक्षासे स्वपर स्वरूपका प्रकाशकपना है:—

जाणदि पस्सादि सच्चं, वचहारणण केवली भयवं ।  
केवलणाणी जाणदि, पस्सादि णियमेण अप्पाणं ॥१५९॥

सामान्यार्थः—केवली भगवान् सर्व पदार्थोंको जानते देखते हैं यह कथन व्यवहार नयकरके है परन्तु नियम करके अर्थात् निश्चयकरके केवल ज्ञानी अपने आत्मस्वरूपको ही जानते और देखते हैं ॥

विशेषार्थः—आत्माके गुणोंको घात करनेवाले कर्मोंको नाश कर देनेसे सर्व प्रकारसे निर्मल केवल ज्ञान और केवल दर्शन प्रगट होते हैं । इनके द्वारा व्यवहार नयसे श्रीअरहंत भगवान् परमेश्वर परमभट्टारक तीन काल सम्बन्धी और तीन जगत्के सर्व चर और अचर अर्थात् ब्रह्म और स्थावर जीव तथा पुद्गलादि द्रव्योंके गुण और पृथ्वीयोंको एक ही समयमें जानते और देखते हैं । व्यवहार नय पराश्रित है ऐसा सिद्धान्तका वचन है, अर्थात् अपनेसे अन्य जो पदार्थ उनके आश्रयसे जो कथन अपनेमें किया जाय सो व्यवहार नय है । परन्तु शुद्ध निश्चयसे परमेश्वर महादेवाधिदेव सर्वज्ञ वीतराग देवके परद्रव्योंको ग्रहण करनेवाला ऐसा जो दर्शकपना तथा ज्ञायकपना आदि नानाप्रकारके विकल्प उनको रखनेवाली नदीसे उत्पन्न जो अवस्था सो मूलध्यानसे अन्य कथन है अर्थात् अपवाद है । भावार्थ—यह उपचार नयसे कथन है कि



रहा है, नित्य उद्योतरूप है, अपनी स्वाभाविक अवस्थाको स्पष्ट करनेवाला है, अत्यन्त शुद्ध है, एक निज आकाररूप है, अपने रससे भरपूर है, अत्यन्त गभीर है तथा धीर है ॥ ऐसा ही दीर्घाकार कहते हैं—यह केवलज्ञान भूर्तिका धारी आत्मा इस सम्पूर्ण जगतको निरंतर देखता है तथा मोक्षरूपी सुन्दर स्त्रीके कोमल मुत्तरूपी कमलमें अपनी किसी अपूर्व तुष्णाको तथा सौभाग्यमई शोभाको विस्तारता है । वह कथन व्यवहारनयमे है । परन्तु निश्चयनयसे वह देवोंका देव जिनेन्द्र, मल समूहसे हटा हुआ अपने ही शुद्ध स्वरूपका अनुभवसे कर्ता है ।

आगे कहते हैं कि केवलज्ञान और केवल दर्शन एक साथ ही आत्मानं वर्तते हैं इसी बातको दृष्टान्त द्वारा प्रगट करते हैं:—

जुगवं वट्टइ णाणं, केवलणाणिस्स वंसणं च तहा ।  
दिणयरपयासतापं, जह वट्टइ तह मुणोयव्वं ॥ १६० ॥

सामान्यार्थः—जैसे सूर्यका प्रकाश और आताप एक ही साथ वर्तन करता है वैसे ही केवटी भगवानके एक साथ ही केवलज्ञान और केवल दर्शन होते हैं, ऐसा जानना योग्य है ॥

विशेषार्थः—जैसे किसी समय मेघोंके आडंबरके दूर होते ही आकाशके मध्यमें विराजित सूर्यका आताप और प्रकाश एक साथ ही होता है वैसे ही तार्थिकर परमेश्वर भगवानके तीन लोक सम्बन्धी समस्त स्थावर और ब्रह्म जीवोंके तथा अन्य द्रव्योंके गुण और पर्यायोंके जाननेमें अर्थात् ज्ञेय पदार्थोंमें एक साथ ही सम्पूर्ण प्रकारसे निर्मल केवल ज्ञान और केवल दर्शन प्रगट होते हैं । परन्तु संसारी जीवोंके दर्शन पूर्वक ही ज्ञान होता है अर्थात् प्रथम पदार्थका निराकार अवलोकन होता है पश्चात् उसका ज्ञान होता है ॥ ऐसा ही श्री प्रयत्नसारमें कहा है ॥ भावार्थ—उग्रस्थोंके दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है दोनों उपयोग

पर के ज्ञाता द्रष्टा है। निश्चय अपेक्षा यह एक अपवाद है। ये भगवान् काव्य परमात्मा होनेपर भी तीनों कालोंमें उपाधिरहित तथा मर्यादा रहित नित्य शुद्ध स्वाभाविक ज्ञान स्वाभाविक दर्शनसे अपने ज्ञान परमात्माको स्वयं जानते और देखते हैं। कैसे जानते देखते हैं, कि यह ज्ञानका धर्म है। यह मेरा धर्म प्रतीपके समान स्वर प्रकाशक है। जैसे पटपट आदि पदार्थोंका प्रकाश करनेगला दीपक है सो प्रकाश होने योग्य पदार्थोंसे भिन्न होनेपर भी अपने स्वाभाविक स्वर प्रकाश अपने स्वभावसे आपकी भी प्रकाशता है तथा दूसरोंको भी प्रकाशित करे। यह आत्मा ही व्यवहार नयसे तीन जगत और तीनों कालोंको प्रकाशक है, वैसे ही यह आत्मा परम ज्योतिस्वरूप होनेके कारण अपने आत्माको भी प्रकाश करता है। ऐसा ही ९६ प्रकारके पासंडोंको विजय करनेसे ज्ञान कीर्ति का प्राप्त करनेगले श्री महाशिव पंडित देवने कहा है कि पदार्थ बन्धुका निर्णय सो ही सम्यग्ज्ञान है। यह ज्ञान प्रतीपके समान ज्ञान और पदार्थोंको निश्चय करने स्वरूप है तथा प्रकृति जो प्रमाणाका फल उभारे किमी अपेक्षा गृह्यक पृथक् है। अथ कहते हैं कि एक ज्ञान निश्चयनयकरक भी स्वर प्रकाशक है। अर्थात् यह ज्ञान निरंतर राम रदि। अपने निरंतर स्वभावमें लीन रहता है अपने स्वरूपका ही भाष्य है, एव निश्चयनयका वचन है। आत्माका जो महान ज्ञान है सो अपने आत्माने सदा संख्या लक्ष्य प्रयोजनही अपेक्षा भिन्न होनेपर भी पदार्थ होने अर्थात् मानवदृष्टिमें ही विद्यमान अपेक्षा भिन्न नहीं है। यह ज्ञान एक ज्ञान आत्माने प्राप्त करने सुख तथा चारों नाईं दुःखको जानता है, जो ही ज्ञान कारण परमात्मा स्वरूपको भी कारण है। ऐसा ही जो अमृतमंथमूर्तिन कहा है कि अपने ज्ञानकी अथवा पाद करने लीन होने सुख एक पूर्णज्ञान प्रकाश मान ही रहा है। ऐसा ही पूर्णज्ञान, जो करनेकरक नाशने अविनाशी अनुराव नाशक मनुष्यक

रहा है, नित्य उद्योतरूप है, अपनी स्वाभाविक अवस्थाको स्पष्ट करनेवाला है, अत्यन्त शुद्ध है, एक निज आकाररूप है, अपने रससे भरपूर है, अत्यन्त गंभीर है तथा धीर है ॥ ऐसा ही टिकाकार कहते हैं—यह केवलज्ञान मूर्तिका धारी आत्मा इस सम्पूर्ण जगत्को निरंतर देखता है तथा मोक्षरूपी मुन्दर स्त्रीके कोमल मुखरूपी कमलमें अपनी किसी अपूर्व तृष्णाको तथा सोभाग्यमई शोभाको विस्तारता है । वह कथन व्यवहारनयसे है । परन्तु निश्चयनयसे वह देवोंका देव जिनेन्द्र, मल समूहसे हटा हुआ अपने ही शुद्ध स्वरूपका अनुभवसे कर्ता है ।

आगे कहते हैं कि केवलज्ञान और केवल दर्शन एक साथ ही आत्मामें वर्तते हैं इसी बातको दृष्टान्त द्वारा प्रगट करते हैं.—

जुगर्घ वद्वद्द णाणं, केवलणाणिस्स वंसणं च तहा ।

दिणयरपयासतापं, जह वद्वद्द तह मुणेयव्वं ॥ १६० ॥

सामान्यार्थः—जैसे सूर्यका प्रकाश और आताप एक ही साथ वर्तन करता है वैसे ही केवली भगवानके एक साथ ही केवलज्ञान और केवल दर्शन होते हैं, ऐसा जानना योग्य है ॥

विशेषार्थः—जैसे किसी समय मेघोंके आडंबरके बुर होते ही आकाशके मध्यमें विराजित सूर्यका आताप और प्रकाश एक साथ ही होता है वैसे ही तीर्थंकर परमेश्वर भगवानके तीन लोक सम्बन्धी समस्त स्थावर और त्रस जीवोंके तथा अन्य द्रव्योंके गुण और पर्यायोंके ज्ञान-नेमें अर्थात् ज्ञेय पदार्थोंमें एक साथ ही सम्पूर्ण प्रकारसे निर्मल केवल ज्ञान और केवल दर्शन प्रगट होते हैं । परन्तु संसारी जीवोंके दर्शन पूर्वक ही ज्ञान होता है अर्थात् प्रथम पदार्थका निराकार अवलोकन होता है पश्चात् उसका ज्ञान होता है ॥ ऐसा ही श्री प्रवचनसारमें कहा है ॥ भावार्थ—उपस्थोंके दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है दोनों उपयोग

साथ नहीं होते हैं जब कि केवली भगवानके दोनों उपयोग एक साथ होते हैं। ऐसा ही टीकाकार कहते हैं—जैसे समस्त अंधकारके सनूहको दूर करनेवाले तेजकी राशिरूप सूर्यके उदय होते आताप और प्रकाश दोनों प्रकट होते हैं तथा जगतके जीवोंके नेत्र खुलते हैं अर्थात् जगत विनादीपकादिके सर्व काय्योंको देखता है और करता है, तैसे हा श्रीभगवान सर्वज्ञ तीर्थंकर देवके सदा ही ज्ञान और दर्शन एक साथ ही होते हैं। कैसे हैं प्रभु, जो असदृश है अर्थात् जिनके समान तीनों लोकोंमें और कोई कपिलादि देव नहीं है तथा जो सर्व लोकके एक अपूर्व ईश्वर हैं ॥ हे जिननाथ ! आप सम्यग्ज्ञानरूपी जहाजपर चढ़कर शीघ्र ही संसार समुद्रको उलुंघकर मोक्षकी अविनाशी नगरमें पधारते भए। उसी ही मार्गकरके मैं भी उसी मोक्षपुरीमें जाऊंगा। क्योंकि उत्तम पुरुषोंको इस मार्गके सिवाय अन्य कोई शरण अर्थात् रक्षक नहीं है ॥ एकमात्र श्रीजिनेन्द्र केवलज्ञानमूर्त्य ही जयवन्त होहु। कैसे हैं ज्ञान सूर्य्य प्रभु, जो भव्यजीवोंके मुसकमलमें किसी अपूर्व चमकको विस्तारते हैं। जो मुक्तिरूपी स्त्री समरसमई अतीन्द्रिय सुखको देनेवाली है तथा प्रेमकी भूमि और परमाप्रिय है उसके सुखको रात्रिदिन देनेकेलिये कौन समर्थ है ? अर्थात् कोई नहीं है। एक श्री जिनेन्द्र ही समर्थ हैं। श्रीजिनेन्द्र भगवान ही मुक्तिरूपी स्त्रीके मुसकमलमें भ्रमरके समान क्रीडा करते हुए रमते भए और फिर अद्वितीय किसी अतीन्द्रिय सुखका लाभ करते भए।

आगे आत्मा स्वपरप्रकाशक है इसके विरोधका निराकरण करते हैं:-  
 णाणं परप्पयासं, दिढ्ठी अप्पपयासया चेव ।  
 अप्पा सपरपयासो, होदित्ति हि मण्णसे जदि हि ॥१६१॥

सामान्यार्थ—यदि कोई आत्माको निश्चयसे स्वपरप्रकाशी है ऐसा मानता है तथा कहता है कि ज्ञान परप्रकाशक ही है तथा दर्शन आत्मप्रकाशक ही है ॥



विशेषार्थ—अब यहाँ कहते हैं कि आत्मा स्वपरप्रकाशक किस प्रकारसे है—ज्ञानदर्शनादि विशेष गुणोंकरके सहित ही आत्मा है । यदि आत्माका ज्ञान शुद्धात्माको प्रकाश करनेमें असमर्थ होनेसे परको ही प्रकाश करनेवाला है तथा इसी प्रकारसे आत्माका दर्शन अंकुशरहित केवल अभ्यंतरमें ही आत्माको प्रकाश करता है इस प्रकारसे स्वपर प्रकाशक आत्मा है । आचार्य्य कहते हैं हे जड़मती यदि तू ऐसा मानता है तो तू मिथ्यादृष्टी है । प्राथमिक शिष्य अर्थात् प्रथम अवस्थामें होनेवाला जो सम्यग्दृष्टी उसको जो सम्यग्दर्शनकी शुद्धता होती है सो भी तुझको प्राप्त नहीं है । तेरे समान अन्य कोई जड़मति नहीं है तथा विरोध रहित स्यादाद विचारूपी देवीके पूजनेवाले सज्जन सम्यग्दृष्टी निरंतर ऐसा ही मानते हैं कि न तो ज्ञान एकान्तकरके परप्रकाशक ही है और न केवल एकान्तसे दर्शन शुद्धात्माहीको देखता है । यह आत्मा निश्चयकरके दर्शन ज्ञान आदि अनेक धर्मोंका आधार है । तथापि व्यवहार नयकरके भी केवल मात्र यह ज्ञान परप्रकाशक ही है ऐसा नहीं है । यदि ऐसा माना जायगा तो आत्मासे सम्बन्ध न रहेगा, क्योंकि वह ज्ञान सदा ही आत्मासे बाहर रहेगा । उस ज्ञानको आत्माकी प्रतीति नहीं होगी । यह ज्ञान सर्वगत हो जायगा । इसलिये वह घातवमें ज्ञान ही न रहेगा किन्तु मृगगुण्याके जलके समान ज्ञानका प्रतिभास मात्र ही होगा । जैसे बालूरेतमें सूर्यकी चमकसे जल समस्त मृग आकुलित होता है ऐसे ही बाहर पदार्थोंमें ज्ञान कल्पकर ज्ञान नहीं मिलता किन्तु ज्ञानसा दीसता है । इसीतरह दर्शन भी केवल अभ्यंतर आत्माके ही प्रतीतिका कारण नहीं है, किन्तु सदा ही सर्वको देखता है ॥ जैसे यह चक्षु अपने अभ्यंतरमें बैठी हुई कर्नानिका अर्थात् पुतली उसको तो नहीं देखती है बाहर सर्वको देखती है । इससे दर्शन परप्रकाशक भी हुआ । इस कारण यह ज्ञान दर्शन दोनों ही सब और

परको प्रकाश करनेवाले हैं इसमें कोई भी विरोध नहीं है। इस कारण यह आत्मा भी स्व पर प्रकाशक ही है, क्योंकि ज्ञान दर्शन लक्षणका धरनेवाला है। लक्षणसे लक्ष्य प्रवेशअपेक्षा भिन्न नहीं है। ऐसा ही श्री अमृतचंद्र सूरीने कहा है कि यह आत्मा एक ही समयमें समस्त भूत, भविष्य और वर्तमान जगतको जानता हुआ भी मोहके अभावसे परस्वरूप कभी नहीं परिणमन करता है। परन्तु वह आत्मा सर्वकर्मोंको नाश करके मुक्तमें प्रतिभासमान होता है। कैसा होता हुआ प्रतिभासमान होता है, तीन लोक सम्बन्धी सर्व ज्ञेय पदार्थोंको प्रगटपने स्पष्ट ३ अलग २ जानता हुआ अर्थात् ज्ञानकी मूर्तिमें उदयरूप रहता है। टीकाकार कहते हैं—आत्माका ज्ञान एक अपने स्वाभाविक परमात्मस्वरूपको जानता हुआ भी लोक और अलोक दोनोंको ज्ञेयके जालके समान प्रकट करता है। इसी तरह दर्शन समस्त आवर्णोंसे रहित होकर निच्य शुद्धताको रखता हुआ साक्षात् स्व और परको देखनेवाला है इन दोनों ज्ञानदर्शनोंसे सहित आत्मा अपनेको तथा परको ऐसे समस्त ज्ञेय राशिको जानता है ॥

फिर भी पूर्वपक्षीको कहते हैं.—

णाणं परप्पयासं, तइया णाणेण वंसणं भिण्णं ।

ण हवदि परद्वयगयं, दसणमिदि यण्णिण्वं तद्धा ॥१६२॥

सामान्यार्थः—जो ज्ञान दूसरे पदार्थोंको ही प्रकाश करता है तब ज्ञानसे दर्शन भिन्न हुआ। इस कारण यही वर्णन हुआ कि दर्शन पर-द्वयका देखनेवाला नहीं है।

विशेषार्थः—यदि ज्ञान केवल परको प्रकाश करनेवाला है तब ऐसे पर प्रकाशक ज्ञानसे दर्शन भिन्न ही रहता, क्योंकि ज्ञान परप्रकाशक

हे ओर दर्शन आत्मप्रकाशक है । ऐसा माननेसे ज्ञान और दर्शन दोनों भिन्न २ हो जायेंगे । जैसे सहाचल और विन्ध्याचल भिन्न २ हैं, अथवा गंगाजी और श्रीपर्वत भिन्न २ हैं । इसी तरह ज्ञान और दर्शन भिन्न २ हैं, ऐसा हो जायगा । यदि दर्शन ही आत्मामें रहनेवाला माना जायगा तो ज्ञान आधाररहित होनेसे शून्य हो जायगा अथवा यदि ज्ञान शून्य न होगा तो जहाँ २ ज्ञान जायगा वहाँ २ की सर्व वस्तुएं चेतनरूप हो जायेंगी । तब तीन लोकमें कोई भी अचेतन पदार्थ न रहेगा यह बड़ा भारी दूषण आ जायगा । क्योंकि ज्ञान जब सर्व पदार्थोंमें रहेगा आत्मामें न रहेगा तब सर्व पदार्थ चेतन हो जायेंगे, अचेतन कोई न रहेगा । इस लिये हे शिष्य ! ऐसा मत कहो कि ज्ञान केवल परको ही प्रकाश करनेवाला है । तथा दर्शन केवल आत्माको ही जानता है । इसलिये निश्चय यही समाधान सिद्धान्तका है कि ज्ञान और दर्शन दोनों ही कथंचित् स्वरूप प्रकाशक ही हैं । ऐसा नहीं कि ज्ञान केवल पर-प्रकाशक है और दर्शन स्वप्रकाशक है । ऐसा ही भी महात्मेन पंडित देवने कहा है—कि ज्ञान आत्मासे न तो सर्वथा भिन्न है, न अभिन्न है किन्तु कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न है । पूर्व और अग्रगामी सर्व पदार्थोंको जाननेवाला जो ज्ञान है सो ही आत्मा है ऐसा कहा गया है ॥ टीकाकार कहते हैं कि न तो आत्मा ज्ञान ही है न दर्शन ही है परन्तु ज्ञान और दर्शन सहित आत्मा है । इन दोनोंकरके सहित आत्मा आप और पर दोनोंको अवश्य ही जानता है । संज्ञा संख्या लक्षण प्रयोजनकी अपेक्षा ज्ञान और दर्शनसे तथा आत्मासे कथंचित् भेद है परन्तु निश्चय-नयसे पापसमूहको नाश करनेवाले आत्मामें और ज्ञानदर्शनमें कोई भेद नहीं है, ऐसा अभि और उसकी उष्णतामें भेद नहीं है ॥

आगे एकान्त नयसे आत्मा परप्रकाशक नहीं है ऐसा करते हैं:—

अप्पा परप्पयासो, तद्वया अप्पेण वंसणं भिण्णं ।  
ण हवदि परद्व्यगयं, वंसणमिदि वण्णिदं तम्हा ॥ १६३ ॥

सामान्यार्थः—यदि आत्मा केवल परको ही प्रकाश करनेवाला है तो आत्मासे स्वप्रकाशक दर्शन भिन्न ही रहेगा । कारण कि दर्शन पर-द्रव्यगत नहीं है ऐसा कहा गया है ।

विशेषार्थः—जैसे एकान्तसे ज्ञानका परप्रकाशकपना पहले निषेध्या है तैसे ही यहां आत्माके केवल परप्रकाशकपने होनेका निराकरण करते हैं । क्योंकि अपने स्वभावके अभावसे स्वभाव और स्वभाववान वस्तुका एक अस्तित्व न रहेगा । आत्मा स्वपरप्रकाशक है । पहले कह चुके हैं कि जो ज्ञानको परप्रकाशक माना जायगा तो दर्शनसे उसकी भिन्नता हो जायगी । अब जो आत्माको भी परप्रकाशक मानोगे तो आत्माकी भी दर्शनसे भिन्नता हो जायगी । क्योंकि ज्ञान परप्रकाशक है इसी-कारण दर्शनसे भिन्न हुआ है, यह बात प्रतिपादन की जाचुकी है । इसलिये आत्मा भी दर्शनसे जुदा हुआ । और जो कहोगे कि आत्मा परद्रव्योंको जानता है परन्तु दर्शन गुणसे भिन्न नहीं है तो फिर यही सिद्ध हो जायगा कि आत्मा स्वपरका प्रकाश करनेवाला है । जैसे पहले किसी अपेक्षासे ज्ञानमें स्वपरप्रकाशकपना सिद्ध कर चुके हैं तैसे ही आत्मामें भी स्वपर प्रकाशकपना निश्चय करना चाहिये क्योंकि धर्म और धर्मी एक स्वरूपमई होते हैं ॥ जैसे अग्नि और उष्णताका एक स्वरूप है अर्थात् प्रदेश भेद नहीं है ॥ टीकाकार कहते हैं कि आत्मा तो धर्मी है और ज्ञान दर्शन उसके धर्म अर्थात् स्वभाव हैं । सम्यग्दृष्टी जीव इस आत्माके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान करके उस आत्मामें ही निश्चलपने अपनी स्थिति करता है तथा नित्य अभ्यासके बलसे उसका लाभ कर संपूर्ण इंद्रियोंके ग्रामरूपी हिम अर्थात् पाला उसके ढेरसे बाहर निकले हुए सूर्यके समान प्रकाश

करता हुआ मुक्तिको प्राप्त करता है । कौसी है मुक्ति, जहां स्पष्ट अपनी स्वाभाविक अवस्थासे प्रकाशमान श्री सिद्ध भगवान विद्यमान हो रहे हैं ॥

आगे व्यवहार नयकी सफलताको दिखलाते हैं:—

णाणं परप्पयासं, व्यवहारणयेण दंसणं तम्हा ।

अप्पा परप्पयासो, व्यवहारणयेण दंसणं तम्हा ॥१६४॥

सामान्यार्थ.—व्यवहार नयसे ज्ञान परको प्रकाशनेवाला है इसलिये दर्शन भी परप्रकाशक है तथा व्यवहारनयसे जैसे आत्मा परप्रकाशक है तैसे दर्शन भी पर प्रकाशक है ॥

विदोपार्थ—सर्व ज्ञानावरणी कर्मके क्षय होजानेसे प्रगट हुआ जो बिल्कुल निर्मल केवल ज्ञान सो किस प्रकारसे तथा किम अपेक्षासे पुद्गल आदि मूर्तिक तथा धर्मादि अमूर्तिक तथा अन्य चेतन अचेतन परद्रव्य तथा उनके गुण और पर्यायोंके समूहको प्रकाश करनेमें समर्थ होसकता है ? इसका समाधान यह है कि व्यवहारनयकरके प्रकाशता है क्योंकि परके आश्रितभावपनेहीमें व्यवहारका प्रयोजन है । जैसा कहा है “ पराश्रितो व्यवहारः ” इसलिये इसीप्रकार दर्शन गुण भी परका प्रकाशक है । तथा तीन लोकको आनंदके कारण सो इन्द्रसि प्रत्यक्ष वन्दना योग्य श्रीतीर्थकर परमदेव कार्य परमात्माके भी इसी ही प्रकार परपदार्थोंका प्रकाशकपना सिद्ध होता है जैसे ज्ञानके सिद्ध होता है । सो व्यवहार नयके बलकरके जानना । तैसे ही उस केवली भगवानके केवल दर्शनको भी परप्रकाशक समझना । ऐसा ही भुतबंधुमें कहा है कि सर्व दोषोंको विजय करनेवाले श्रीजिनेन्द्र भगवान जयवन्त होहु । कैसे है प्रभु, जिनके शरणाविदको मनुष्य और मनुष्योंके इंद्र चक्रवर्ती अपने मुकुटसि शोभायमान तथा

हृदयमें पड़ी हुई मालाओंकरके सहित पूजन करते हैं तथा जिनको तीन लोक और अलोक इसप्रकार एक ही समयमें प्रतिभास होरहा है कि विपरीत पदार्थोंमें एक दूसरेके रहनेका अभाव है, अर्थात् छः द्रव्योंको पृथक् २ देखनेवाले हैं । टीकाकार कहते हैं—जब यह आत्मा केवल ज्ञानका पुंज होता है और अत्यन्त प्रगटरूप केवल दर्शनका धनी होता है तब व्यवहारनयकरके सर्व लोकको देखनेवाला ऐसा हो जाता है कि एक ही काल सर्व मूर्तीक और अमूर्तीक पदार्थ अपने यथार्थ स्वरूपको लिये उसमें प्रगट होते हैं । तब ही यह आत्मा परममोक्षरूपी जो छी उसके रूपका मोहनेवाला होता है ।

आगे निश्चयनयसे स्वरूप कहते हैं:—

णाणं अप्पपयासं, णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा ।

अप्पा अप्पपयासो, णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा । १६५।

सामान्यार्थ—निश्चयनयसे ज्ञान आत्माका प्रकाशक है इसलिये दर्शन भी आत्मप्रकाशक है । निश्चयसे आत्मा अपने आत्माका प्रकाशकर्ता है इसलिये दर्शन भी आत्माका प्रकाश करनेवाला है ॥

विशेषार्थ—निश्चयनयसे स्व अर्थात् आपको प्रकाश करना है लक्षण जिसका ऐसा ज्ञानको कहा गया है, तैसे ही सर्व दर्शनावरणीसे रहित होकर शुद्ध दर्शन भी आत्मस्वरूपका ही दिसलानेवाला है । तथा सर्व इंद्रियोंके व्यापारोंसे रहित होनेके कारण निश्चयसे आत्मा अपने आपको प्रकाश करनेवाले लक्षणसे लक्षित होता है । तथा दर्शन भी वास्तव पदार्थोंसे रहित होकर अपने आपको ही प्रकाश करता है, यह निश्चयनयकी प्रधानता है । इस प्रकार अपने स्वरूपके प्रत्यक्ष लक्षणसे लक्षित यह आत्मा असंदिग्ध अपने स्वाभाविक ज्ञान तथा शुद्ध दर्शनसे परिपूर्ण रहता है । निश्चयनयसे यह आत्मा प्रकाश्य और प्रकाशक इत्यादि

विकल्पोंसे दूर है । अर्थात् मैं प्रकाशक हूँ और तीन जगत तीन कालके स्थावर और जंगमरूप सर्व द्रव्य तथा उनके गुण और पर्याय प्रकाश्य हैं, ऐसा विकल्प नहीं करता है । तथा यह आत्मा अपने आत्मस्वरूपहीमें अपने आत्माके ही लक्षणरूप प्रकाश्यको प्रकाशता है । सम्पूर्णपने अंतरंग लीन होकर निरन्तर खंडरहित तथा द्वैततारहित चैतन्यके चमत्कारकी मूर्तिके समान यह आत्मा निश्चयसे विराजता है ॥ टीकाकार कहते हैं—निश्चयसे आत्मा ही अपने आत्मस्वरूपको प्रकाश करनेवाला ज्ञानरूप है तथा बाह्य अलयनसे रहित साक्षात् जो दर्शन उसरूप ही आत्मा है । अपने एक आकारको लिये हुए अपने आत्मीक रससे पूर्ण पवित्र समीचीन ऐसा जो आत्मा सो अपनी विकल्परहित महिमामें निश्चय वास करता है ॥

आग शुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षासे आत्मा परका देखनेवाला है इस बातका निराकरण करते हैं:—

अप्पसरूवं पेच्छदि, लोयालोयं ण केवली भयवं ।  
जइ कोइ भणइ एवं, तस्स य किं दूसणं होइ ॥१६६॥

सामान्यार्थ—केवली भगवान् आत्मस्वरूपको देखते हैं लोक और अलोकको नहीं देखते हैं, जो कोई इस प्रकार कहे उसको क्या दूषण दिया जा सकता है ? ।

विशेषार्थ—व्यवहारनयकरके पुत्रल आदि द्रव्योंके तीनकाल सम्बन्धी गुण पर्यायोंको एक समयमें जाननेको समर्थ ऐसा जो सम्पूर्णपने निर्मल केवल ज्ञान उसको आदि ले नाना प्रकारकी महिमाको धारण करनेवाला होनेपर भी वह भगवान् केवल दर्शनरूप तीसरे नेत्रको धारण-वाला है तथापि वह भगवान् अभ्यन्त निरपेक्ष होकर पूर्णपने अंतरंगमें लीन होता है तथा अपने केवल स्वरूप ग्रन्थस्य मान व्यापारमें लवलीन

निरंजन ऐसे अपने आत्मस्वभावको स्वाभाविक रीतिसे देखनेके कारण वह प्रभु निश्चयनयसे सच्चिदानंदमई आत्माको ही देखता है । भावार्थ—व्यवहारनयसे ऐसा कहनेमें आता है कि केवली भगवान लोकालोकको देखते हैं परन्तु निश्चयसे वे अपने शुद्ध स्वरूपको ही देखते हैं । शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षासे जो कोई शुद्ध अंतरगतत्वके ज्ञाता परम जितेन्द्री योगीश्वर हैं वे ऐसा ही कहते हैं । उनको निश्चयसे कोई दूषण नहीं होता है । टीकाकार कहते हैं कि—यह आत्मा अपने अंतरंगकी शुद्धि करके एक विशुद्ध स्वाभाविक परमात्माको देखता है । कैसा है परमात्मा, जो अपूर्व महिमाको धारनेवाला है तथा अच्यन्त धीर है तथा अतिशय निश्चलरूप रहकर अपने आत्मामें सदा निमग्न है । तथा उसी परमात्माके स्वभावमें यह जगतका बड़ा प्रपंच प्रगट है अर्थात् वह लोकालोकको देखता है यह कहना सर्व व्यवहारका कथन है ॥ भावार्थ—यही है कि शुद्ध निश्चयनयकरके यह आत्मा अपने आपको ही देखता है परको नहीं । परको देखता है ऐसा कहना सो व्यवहार नयका विषय है ॥

आगे केवलज्ञानका स्वरूप कहते हैं:—

मुत्तममुत्तं दद्वयं, चेयणामियरं सगं च सद्वयं च ।

पेच्छंतस्स दु णाणं पच्चकस्समणिंदियं होई ॥ १६७ ॥

सामान्यार्थः—जो ज्ञान मूर्तीक अमूर्तीक द्रव्य ऐसे चेतन तथा अचेतन पदार्थोंको तथा अपनेको और सर्वोंको देखता है वही ज्ञान प्रत्यक्ष और इन्द्रिय रहित होता है ॥

विशेषार्थः—छः द्रव्योंमें पुत्रल द्रव्य मूर्तीक है तथा अन्य पांच द्रव्य अमूर्तीक हैं । जीव चेतन ही है पांच द्रव्य सर्व अचेतन हैं । इस प्रकार मूर्त अमूर्त चेतन अचेतन सर्व अपनेको और पर द्रव्योंको तीन



कालसम्बन्धी सर्वको एक ही समयमें निरन्तर देखनेवाले श्री अरहंत भगवान परमेश्वरके ही केवलज्ञान होता है । कैसा है केवल ज्ञान, जो क्रमपूर्वक ज्ञानसे रहित है, अतीन्द्रिय है, तथा सर्व प्रकारसे निर्मल और प्रत्यक्ष है ॥ श्री प्रवचन सारमें ऐसा ही कहा है । उसका अभिप्राय ऊपर आय गया ॥ टीकाकार कहते हैं—वे तीर्थकर श्री जिनेन्द्र भगवान अपने स्वरूपमें भले प्रकार वर्तन कर रहे हैं । कैसे हैं प्रभु, जो तीन लोकके गुरु हैं, शाश्वत और अनंत ज्योतीके धारी है, तथा अपने केवल ज्ञानरूपी तृतीयनेत्रकरि जिनकी महिमा प्रगट है । कैसा है केवल ज्ञान, जो लोक और अलोकको तथा आप और पर समस्त चेतन अचेतन द्रव्योंको देखनेवाला है ॥

आगे कहते हैं कि केवल दर्शनके अभावसे केवलीके सर्वज्ञपना नहीं हो सकता:—

पुटवत्तसयलद्वयं, णाणा गुणपज्जएण संजुत्तं ।  
जो ण य पेच्छइ सम्मं, परोक्खदिट्ठी हवे तस्स ॥१६८॥

सामान्यार्थः—पूर्वमें कहे गए सम्पूर्ण द्रव्योंको नाना गुण और पर्यायोंकरके सहित जो कोई भले प्रकार नहीं देखता है उसके परोक्ष दृष्टि होती है ॥

विशेषार्थः—पूर्व सूत्रमें कहे हुए जो मूर्तादि द्रव्य तथा उनके गुण और पर्याय हैं उनमें मूर्तीके द्रव्यके मूर्तीके गुण हैं, अचेतन पदार्थके अचेतन गुण हैं, अमूर्तीके अमूर्तीके गुण हैं तथा चेतनके चेतनमें गुण हैं । पर्याय दो प्रकारकी हैं एक अर्थपर्याय दूसरी व्यंजन पर्याय । पट्टगुणी वृद्धि हानिरूप अत्यन्त सूक्ष्म परमाणुके द्वारा जानने योग्य जो द्रव्योंके गुणमें स्वाभाविक परिणामन से अर्थपर्याय है । यह अर्थपर्याय सर्व उः द्रव्योंमें साधारण है । पांच प्रकार द्रव्य क्षेत्र काल भव भावरूप संसारमें

परिभ्रमण करनेवाले जीवोंके नर नारक देव पशु वदनके भेदरूप जो पर्याय सो जीवकी व्यंजन पर्याय हैं। पुद्गलकी अति-स्थूल, स्थूल, स्थूल सूक्ष्म आदि छः प्रकार व्यंजन पर्याय हैं। धर्म अधर्म, आकाश और काल इन चार द्रव्योंकी शुद्ध स्वभावमई पर्याय ही होती हैं क्योंकि इनमें विकार भाव नहीं होते। इत्यादिक गुण पर्यायोंकरके सहित सर्व द्रव्योंके समूहको जो कोई एक कालमें नहीं देख सकता है उस संसारी जीवके परोक्ष दर्शन है प्रत्यक्ष दर्शन नहीं है। जब प्रत्यक्ष दर्शन नहीं है तब सर्वज्ञपना कैसे संभव है। ऐसा ही टीकाकार कहते हैं—जो कोई सकलको जाननेवाला ज्ञानी जीव होकर शीघ्र ही एक ही कालमें सर्व तीन लोक और तीन कालकी वस्तुओंको नहीं देख सकता है उसके उपमारहित ऐसी प्रत्यक्ष दृष्टि अर्थात् केवल दर्शन कैसे हो सकता है? और जब केवल दर्शन नहीं है तब उस जड़ बुद्धी आत्माके नित्य सर्वज्ञपना कैसे हो सकता है। अर्थात् नहीं हो सकता ॥

आगे व्यवहारनयको प्रगटपने कहते हैं:—

**लोयालयं जाणइ, अप्पाणं णेव केवली भययं ।**

**जइ कोइ भणइ एवं, तस्स य किं वूसणं होइ ॥१६९॥**

सामान्यार्थः—केवली भगवान लोका लोकको जानते हैं परन्तु अपनेको नहीं जानते हैं यदि कोई व्यवहारसे ऐसा भी कहे तो भी उसको श्रेय नहीं हो सकता है।

विशेषार्थः—सर्व प्रकार निर्मल जो केवलज्ञान उसरूप तीसरे नेत्रको धारनेवाले तथा मोक्षरूपी मनोज्ञ धीके जीवनके स्वामी श्री जिनेन्द्र भगवान् छः द्रव्योंसे भरे हुए लोकाकाशको तथा शुद्ध आकाश है जहाँ ऐसे अलोकाकाशको इस प्रकार सर्व लोक और अलोकको जानते हैं तथा पराप्रित जो व्यवहार उस व्यवहारकी प्रयानतासे

सागादिरहित शुद्धात्म-स्वरूपको नहीं जानते हैं । इसप्रकार भी कदाचित्त कोई जिनेन्द्रके तत्त्वविचारको जाननेवाला मुनि व्यवहारनयकी अपेक्षासे कहे तो उस मुनिको भी कोई दोष नहीं हो सकता है । भावार्थ—यह व्यवहारनय दूसरेके निमित्त व सहारेसे माने हुए स्वरूपको कहनेवाली है—लोकालोक सर्व ही शुद्धात्मस्वरूपसे भिन्न हैं । उनका ज्ञाता कहना सो व्यवहारनयका विषय है । तथा यह आत्मा अपने शुद्ध स्वरूपको जानता है यह विषय निश्चय नयका है क्योंकि निश्चय नय स्वाश्रित है । श्रीसमन्तभद्राचार्य्य स्वामीने कहा है । यह अचर और अचर जगत प्रत्येक क्षणमें उत्पाद व्यय भ्रौव्यरूप है—यह लक्षण सर्वज्ञ द्वारा सिद्ध है, हे व्याख्यान करनेवालोंमें श्रेष्ठ तुम्हारा ऐसा ही वचन है । टीकाकार कहते हैं—तीर्थनाथ श्रीजिनेन्द्र इस सर्व लोकको जानते हैं तथा एक कर्मरहित अपने ही सुखमें लीन ऐसे अपने आत्माको नहीं जानते हैं ऐसा भी यदि कोई मुनि व्यवहारमार्गीकी अपेक्षासे कहता है तो भी उस मुनिको दोष नहीं है ॥

अब वितर्ककरके कहते हैं कि यह जीव ज्ञानस्वरूप है:—

णाणं जीवस्वरूपं, तद्भा जाणेद्द अप्पमं अप्पा ।

अप्पाणं णवि जाणदि, अप्पादो होदि विदिरिचं ॥१७०॥

सामान्यार्थ:—ज्ञान जीवका स्वरूप है इसलिये आत्मा निश्चयसे अपने आत्मस्वरूपको जानता है यदि ज्ञान अपने आत्माको नहीं जानता है तो ज्ञान आत्मासे अलग हो जायगा ।

विशेषार्थ:—ज्ञान जीवका स्वरूप ही है । इसलिये ऐसे ज्ञानका धारी कोई भव्य आत्मा संहरहित, द्वैतरहित, अपने स्वभावमें लीन अत्यन्त अतिशय भावका स्वामी, मुक्तिरूपी धीका नाथ, तथा बाह्यचेष्टासे रहित ऐसे परमात्माको जानता है । यह निश्चयसे स्वभावका कथन

है। जो वितर्क है सो इससे विपरीत है। वही वितर्क विभावको कथन करनेवाला है। यह विभाववाद प्राथमिक शिष्यका अभिप्राय है। सो अभिप्राय किस प्रकारसे है सो कहते हैं—आत्मा पूर्वमें कहे हुए अपने आत्मस्वरूपको नहीं जानता है, केवल यह आत्मा अपने स्वरूपमें लीन हुआ रहता है। जैसे उष्ण स्वरूप अग्नि सो अपने उष्ण स्वरूपको क्या जानती है अर्थात् नहीं जानती है, उसीप्रकार ज्ञान और ज्ञेयके विकल्पोंसे रहित हो वह आत्मा अपने आत्मस्वरूपमें ही तिष्ठता है अपने ज्ञान स्वरूपको जानता नहीं है। ऐसा अभिप्राय प्राथमिक शिष्यका है उसको श्रीगुरु कहते हैं कि हे शिष्य ! क्या यह आत्मा अग्निके समान अचेतन है ? जिस कारणसे यह आत्मा अपने ही ज्ञानस्वरूपको नहीं जानता है। यदि ऐसा मानोगे तो यह आत्मा ज्ञानविना फरसीरहित देवदत्तके समान हो जायगा। जैसे फरसीबिना देवदत्त फरसीद्वारा होनेवाली क्रियाको न करेगा क्योंकि वह फरसी देवदत्तके स्वरूपसे भिन्न है। इसप्रकार आत्मा भी ज्ञानविना जाननेकी क्रियाको न करेगा। इस कारण आत्मा ज्ञानसे भिन्न नहीं है। आत्मा और ज्ञानका स्वभाव संबन्ध है, संयोग संबन्ध नहीं है। स्वभावके कथन करनेवालोंको यह बात नहीं मान्य है कि यह आत्मा ज्ञानसे अलग है। ऐसा ही श्रीगुणभद्रस्वामीने कहा है—ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावात्प्रातिरच्युतिः। तस्मात्प्रच्युतिमाकाशश्च भावयेत् ज्ञानभावनो ॥ अर्थ—यह आत्मा ज्ञानस्वभाव है। आत्मा अपने स्वभावसे कभी गिरता नहीं है। इसलिये इस आत्माको स्वभावसे अपनित इच्छा करता हुआ ही जो प्राणी है उसे इस आत्माकी ज्ञान भावनाका भावना योग्य है ॥ टीकाकार कहते हैं कि यह ज्ञान शुद्ध जीवका स्वभाव है। इसी ही ज्ञानसे यह आत्मा अपने एक आत्माको जानता है। वह ज्ञान प्रकटपने अपनी स्वाभाविक अ-

त्यासे अपने ही निकट अविद्यत आत्मस्वरूपसे अपने आत्माको भिन्न नहीं जानता है ॥

जैसे कहा है कि, ज्ञान जीवसे वृषक नहीं है । ज्ञानही इन्द्र आत्मा जाननेमें आता है । यदि ज्ञान आत्माको भिन्न जानना है तो यह ज्ञान जीवसे भिन्न हो जायगा ।

आंग कहें हैं कि गुण और गुणीके भेदका अभाव है—

अप्पाणं विणु णाणं, णाणं विणु अप्पगो ण संदंटां ।  
तम्हा सपरपयासं, णाणं तह वंसणं होदि ॥ १७१ ॥

सामान्यार्थः—आत्माको जान जानो । ज्ञानको अन्तर रूप । इसमें कोई संदेहकी बात नहीं है । इसलिये ज्ञान स्व और अन्तर रूप वाला है तैसे ही दर्शन भी है ॥

विशेषार्थः—हे शिष्य ! सम्पूर्ण पर दृष्टमें 'अप्यु' स्व रूपसे अपने ही स्वरूपके जाननेमें शक्तिमान ऐसे 'अप्यु' स्व रूपसे तू जान । इसलिये जो विज्ञान है सो ही आत्मा है ऐसे 'अप्यु' स्व रूपसे तू जान । तत्त्व स्वरूप प्रकाशक है वैसे ही उसके गुण स्व रूपसे ऐसे 'अप्यु' स्व रूपसे प्रकाशक है । इसमें कोई शकाका स्थान नहीं है । 'अप्यु' स्व रूपसे तू जान कि आत्मा ज्ञान दर्शन स्वरूप है । 'अप्यु' स्व रूपसे तू जान कि आत्मा अनुभव करो । आत्मा अपने और 'अप्यु' स्व रूपसे तू जान कि आत्मा उद्योत करनेवाला है ॥

आंग सर्वज्ञ वीतराग भगवानके 'अप्यु' स्व रूपसे तू जान कि आत्मा जानतो पसंतो, ईहानुन्दं च इन्द्र हे इन्द्रियतो ।  
केयलिणाणी तम्हा, देव इन्द्र हे इन्द्रियतो ।

ज्ञान  
राका  
भाव  
ही

**सामान्यार्थ**—केवली भगवानके जानना देखना इच्छापूर्वक नहीं होता है। इसी कारणसे केवल ज्ञानी हैं और इसीसे उनको बन्धाहित कहा गया है ॥

**विशेषार्थ**—भगवान अर्हत परमेष्ठी आदि सहित और अंतरहित अमूर्त अतीन्द्रिय स्वभाववान हैं। शुद्ध सद्भूत व्यवहारनयकरके केवल ज्ञान आदि अपने शुद्ध गुणोंके आधाररूप हैं, इस हेतुसे विना परिश्रमके सर्व जगतको जानते देखते हैं तो भी मनकी प्रवृत्तिके विना ईहापूर्वक ज्ञानका वर्तन उन केवली परम भंडारकके नहीं होता है। इसीकारण वे भगवान केवल ज्ञानी इस नामसे प्रसिद्ध हैं तथा इसीलिये वे भगवान कर्मके बंधसे रहित हैं। **भावार्थ**—इच्छा होनेहीसे राग सिद्ध होता है और राग ही बंधका कारण है। प्रभुके राग न होनेसे बंध नहीं होता, केवल ईर्यापथ आम्रव योग-परिस्पन्दसे होता है परन्तु कपाय विना ठहरता नहीं है ॥ श्रीप्रवचनसारमें ऐसा ही कहा है—उन पदार्थोंके स्वरूप आप न तो परिणमन करता है न उन्हें ग्रहण करता है न उन-रूप आप उत्पन्न होता है केवलमात्र जानता है, इसीसे ही आत्मा अबंधक है ॥ टीकाकार कहते हैं कि श्री जिनेन्द्रदेव सर्व देवोंमें श्रेष्ठ देव है। यह उनके स्वभावकी महिमा है जिससे वे तीन लोकरूपी भवनके भीतरके सर्व पदार्थोंको जानते और देखते हैं। मोहका प्रभुके सर्वथा अभाव है इसलिए अपने आत्मा सिवाय अन्य किसी भी पर पदार्थको ग्रहण नहीं करते हैं। वे भगवान नित्य अपनी ज्ञानज्योतिसे कर्मरूपी मलके समूहको नष्ट करनेवाले हैं तथा सर्व तीन लोकके एक साक्षीभूत हैं अर्थात् मात्र दर्शक हैं उनसे कोई सम्बन्ध नहीं है ॥

आगे कहते हैं कि ज्ञानीके बंधका अभाव है—

**परिणामपुञ्जवयणं, जीवस्त य बंधकारणं होई ।**

**परिणामरहियवयणं, तम्हा णाणिस्त ण हि बंधो ॥१७३॥**

इहापुर्व्वं वयणं, जीवस्स य बंधकारणं होई ।

इहारहियं वयणं, तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो ॥१७४॥

सामान्यार्थ—मनके परिणमनपूर्वक जो वचन जविके निकलते हैं वे बंधके कारण होते हैं परन्तु जो वचन मनकी परिणतिके बिना निकलते हैं वे बंधके कारण नहीं हैं । इसीसे सम्यग्ज्ञानीके बंध नहीं होता । जो वचन इच्छापूर्वक जीवके होवेंगे वे वचन बंधके कारण होवेंगे परन्तु जो बांछारहित वचन हैं सो बंधके कारण नहीं हैं । इसीलिये सम्यग्ज्ञानी केवल ज्ञानीके बंध नहीं होगा ।

विशेषार्थ—सम्यग्ज्ञानी केवलज्ञानी जीव कहीं कभी भी अपनी बुद्धिपूर्वक वचन नहीं कहता है अर्थात् उसके मनके परिणाम नहीं चलते क्योंकि सिद्धान्तका वचन है कि 'अमनस्काः केवलिनः' अर्थात् केवली भगवान् मन रहित हैं । भावार्थ केवलीके संकल्प विकल्पमई मनका अभाव है । इस कारणसे जीवके वे ही वचन बंधके कारण हैं जो मनकी परिणतिपूर्वक कहे गए हैं । केवली भगवान्के मनपरिणति पूर्वक वचनोंका प्रगटपना नहीं होता । इच्छापूर्वक वचन ही जीवको बंधके कारण होते हैं । केवली महाराजके मुसकमलसे प्रगट जो दिव्य ध्वनि सो भगवान्की इच्छाबिना ही प्रगट होती है । भावार्थ—उसकी प्रगटतामें भव्य जीवोंके पुण्यका उदय ही कारण है । वह वाणी समस्त सभामें विराजित मनुष्योंके हृदय कमलोंको आनन्द देनेवाली है । इसलिये जो सम्यग्ज्ञानी केवलज्ञानी है उनके बंधका अभाव है ॥ टीकाकार कहते हैं—श्रीकेवली भगवान्के इच्छा पूर्वक वचनोंकी रचना नहीं होती है यह इनकी साक्षात् महिमा प्रगट है । प्रभू समस्त जगतके एक मात्र रक्षक हैं । जब बांछाका कारण मोह प्रभुके नहीं है तब किसप्रकारसे भगवान्के द्रव्य और भाव बंध होवेंगे क्योंकि रागद्वेषादिका जाल मोहके बिना निश्चयसे होता ही

नहीं है ॥ चार पातिया कर्मोंके नाशमें केवली भगवान तीन लोहके गुरु महादेव हैं अपने सम्पत्ज्ञानमें विराजमान हैं । सम्पूर्ण लोह सुम्बन्धी वस्तुओंके समूहोंके शाता हैं । ऐसे श्री केवली भगवान जिनंदमें न तो कोई बंध है और न कोई मोक्ष है और न रहा मूर्ख है न कर्म और कर्मफलमें धनना है ॥ इन केवली जिनंदमें धर्म और कर्मका प्रबंध-जाल नहीं है । रागके अभावे अपनी अतुल मोहमाका लियेकूप वीतगम स्वरूप हैं तथा अपने आत्मीक सुरामें लीन हैं सिद्धिरूपी स्त्रीके स्वामी हैं तथा अपनी जानज्यातिसे समस्त भुवनके पदार्थोंको चारों ओरसे प्रगट करनेवाले हैं ।

आगे केवली भगवानक अमनस्क हैं इस बातको प्रकाश करते हैं:-

ठाणणिसेजविहारा, इहापुच्चं ण होइं केवलिणो ।  
तम्हा ण होइ बंधो, साकटं मोहणापिस्स ॥ १७५ ॥

सामान्यार्थ—तिष्ठना, बैठना तथा विहार केवली भगवानके इच्छा-पूर्वक नहीं होते हैं इसीलिये उनके बंध नहीं होता है । मोहनीय कर्म-सहित जीवके इन्द्रियोंके प्रयोजन सहित होनेहीसे बंध होता है ।

विशेषार्थ—परम अरहंतपनेकी लक्ष्मीसे शोभायमान परमवीतराग सर्वज्ञ केवली भगवानके कोई भी वर्तन इच्छापूर्वक नहीं होता है । इसीलिये वे भगवान मनकी प्रवृत्तिके अभाव होनेपर 'अमनस्काः केवलिनः' इस सिद्धान्तके अनुसार न तो बांछापूर्वक तिष्ठते हैं, न बैठते हैं और न विहार आदिक करते हैं । इसकारणसे उस तीर्थकर परमदेवके द्रव्य और भावमें कोई बंध नहीं होता है अर्थात् चारों बंध नहीं होते हैं । आगममें जो योगकी प्रवृत्तिके निमित्तसे प्रकृति और प्रदेशबंध कहा है सो उपचारमात्र है । जो मोहनीय कर्मके विलासमें लवलीन हैं उन्हींके यह बंध होता है । किसलिये होता है, उसका कारण यही है कि उनके



इन्द्रियोंके विषयोंका प्रयोजन है । अर्थात् मोहनीय कर्मके वशमें पड़े हुए इन्द्रियोंके विषयोंके अभिप्रायको धारनेवाले संसारी जीवोंके ही यह बंध होता है । ऐसा ही प्रवचनसारमें कहा है—सडा होना, बैठना, विहार करना व धर्मोपदेश होना यह अरहत अवस्थाके कालमें नियमसे ही होता है, जैसे स्त्रियोंके मायाचार नियमसे होता है । शीकाकार कहते हैं—जिसके प्रगट होते ही इन्द्रोंके आसन कंपायमान होते हैं ऐसे केवल ज्ञानके उदय होनेपर केवली भगवानका सर्व वर्तन मनःकी प्रवृत्तिते रहित होता है । कैसे हैं प्रभू, मुनिरूपी सुन्दर ललनाके मुरकमलके प्रफुल्लितकरनेको सूर्यके समान हैं तथा सच्य धर्मकी रक्षाकेलिये मणिसमान हैं । पुराणपुरुषके मनका अभाव है । यह सर्व भगवानके उत्कृष्ट अगम्य केवल ज्ञानकी महिमा है । कैसे हैं भगवान, जो पापरूपी बर्नके भस्म करनेकेलिये आगिके समान हैं ॥

आगे शुद्धजीवको अपनी स्वभावमें गतिको प्राप्त करनेके उपायका संक्षेप कथन करे हैं:—

आउस्स रायेण पुणो, णिण्णासो होइ सेसपयडीणं ।  
पच्छा पावइ सिग्घं, लोयग्गं समयमेत्तेण ॥ १७६ ॥

सामान्यार्थः—आयु कर्मके नाश होते ही शेष कर्मोंकी सर्व प्रवृत्तियोंका नाश हो जाता है फिर यह जीव शीघ्र ही एक समयमात्रमें जाकर लोकके अग्रभागमें विराजता है ॥

विशेषार्थः—जब केवली भगवान अपने स्वभावके भीतर जो क्रिया उसमें परिणमनरूप होते हैं तब उनके परम शुद्ध ध्यान अर्थात् चौथे शुद्धध्यानसे आयुकर्मके क्षय होते २ ही वेदनीय, नाम और मोक्ष ऐसे तीन कर्मोंकी शेष प्रवृत्तियोंका नाश हो जाता है । कैसे हैं केवली भगवान, जो उस समय पृथ्वी आदि छः कायके जीवोंके वशसे अलग हो  
नि. छ. १४

जाते हैं तथा सिद्ध क्षेत्रों में गन्मुख होने हैं । तथा कैसा है वह शुद्ध ध्यान, जो ध्यान, ध्येय, ध्याता और ध्यान का फल इत्यादि प्रयोजनों के विकल्पों से शून्य है तथा अपने आत्मीय स्वरूप में निश्चल स्थिति रूप है । सब क्रमों के नाश होने पर केवल ज्ञानी भगवान शुद्ध निश्चयन प्रकार के अपने निजस्वरूप ही स्वभाविक महिमामें लीन हैं तभी व्यग्रहार नयन के वे भगवान जो क्षण में अर्थात् एक समय में लोके के अग्रभाग तनुवात पलयमें गा विगजते हैं । यह गति स्वभावमे ही होती है । जहां तक धर्म द्रव्य है यज्ञोत्सव गमन होता है ॥ टीकाकार कहते हैं—यद् ध्यायके क्रम में फलें हुए प्राणियों के लक्षणसे सिद्धों का लक्षण अलग है, इसलिये वे सिद्ध परमेशो ऊर्ध्व गमन करते हैं और सदाशिव (कल्याण) रूप मोक्षस्वरूप में निश्चल तिष्ठते हैं ॥ वंशके छेद हो जाने में श्री सिद्ध भगवान अपनी अनुल महिमामें विराजमान रहते हैं उस समय देव और विधावर प्रत्यक्षरूपसे उनकी स्तुति नहीं कर सकते । वे देवों के देव प्रसिद्ध सिद्ध भगवान व्यवहारनयसे लोके के अग्रभाग में विराजते हैं परन्तु निश्चय नयसे अपने आत्मस्वरूप में ही अविचल रूपसे तिष्ठते हैं ॥ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पांच प्रकार संसारसे मुक्त पचमगति धारी तथा पांच प्रकार संसारसे छुड़ाने के कारण ऐसे सिद्धों को मैं पांच प्रकार संसारसे मुक्ति पानेके लिये वंदना करता हूँ ॥

आगे कारणतत्त्वका स्वरूप कहते हैं:—

जाइजरमरणरहियं, परमं कम्मट्टवज्जियं सुद्धं ।  
णाणाइचउसहावं, अक्खयमविणासमच्छेयं ॥ १७७ ॥

सामान्यार्थः—जन्म, जरा, मरणसे रहित, उत्कृष्ट, अष्ट क्रमोंसे दूरवर्ती, शुद्ध, ज्ञान दर्शन सुख वीर्य चार स्वभावधारी, क्षयरहित, विनाशविना तथा छेदरहित, जो तत्त्व है वही कारण परमात्मा है ॥

विशेषार्थः—स्वभावसे ही जिसके संसारमें भ्रमणका अभाव है इस-  
लिये वह तत्त्व जन्म जरा मरणसे रहित है । अपने उत्कृष्ट पारिणामिक  
भावको रखनेके कारण परमस्वभावमें होनेसे परम (महान) है, तीनों का-  
लोंमें उपाधिरहित है स्वभाव जिसका ऐसा होनेसे आठों कर्मोंसे रहित है तथा  
द्रव्यकर्म और भावकर्मोंसे रहित है इस कारण शुद्ध है । स्वाभाविक ज्ञान,  
स्वाभाविक दर्शन, स्वाभाविक चारित्र तथा स्वाभाविक चैतन्य शक्तिको धारण  
करनेके कारण वह तत्त्व ज्ञानादि चार स्वभावरूप है ॥ आदि सहित और  
और अंत सहित मूर्तोंके इन्द्रियमें विजातीय विभाव व्यंजन पर्याय  
अर्थात् नर नारकादि पर्यायोंके अभावसे वह तत्त्व क्षयरहित है, शुभ  
अशुभ गतिर्याममें प्राप्त होनेकेलिये कारणभूत जो पुण्य और पापकर्म  
इन दोनोंके अभावसे वह तत्त्व विनाशरहित है, तथा बंध,  
बंध और छेदने योग्य मूर्तोंके अभावसे वह तत्त्व अच्छेय है । ऐसा वह  
कारण तत्त्व अर्थात् परमात्मा है ॥ टीकाकार कहते हैं:—हे भव्य जीव !  
तू जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रगट जो दिव्य सुररूपी अमृत उसको ही वार-  
वार भज । भावार्थ—परम तत्त्वका मनन कर । ऐसा है यह अमृतमें तत्त्व  
जो अच्छेय है, अखंड ज्ञानमें है, दैततासे रहित है, प्रिय है, तथा  
समस्त पापरूपी क्लेशोंके समूहोंको जटानेकेलिये आधिक समान है ।  
इसीसे तुझे परम निर्मल केवल ज्ञानदा लाभ हावेगा ॥

फिर भी निरुपाधि अर्थात् उपाधिरहित है स्वरूप जिसका ऐसे लक्ष-  
णोंके धारी परमात्म तत्त्वका स्वरूप कहते हैं:—

अव्याबाहमणिंदिय,—मणोवमं पुण्णपावणिम्मुद्धं ।

पुणरागमणविरहियं, णिच्छं अचलं अणाट्ठम्भं ॥१७८॥

सामान्यार्थः—वह परमात्म तत्त्व अव्याबाध अर्थात् बाधरहित  
है, अतीन्द्रिय अर्थात् इन्द्रियोंकी जहाँ गम्य नहीं है, अनुपम अर्थात्

जाते हैं तथा सिद्ध क्षेत्रके मन्मुन होते हैं। तथा ऐसा है वह मुकुट्यान, जो ध्यान, ध्येय, ध्याता और ध्यानका कल इत्यादि प्रयोजनांके दिङ्-  
 ल्यांसे शून्य है तथा अपने आत्मीक स्वरूपमें निश्चल स्थितिरूप है।  
 सर्व कर्मोंके नाश होनेपर केवल ज्ञानी भगवान् शुद्ध निश्चयनयकरके  
 अपने निजस्वरूप ही स्वाभाविक महिमामें लीन हैं तीनी व्यवहार नयक-  
 रके वे भगवान् अर्थ क्षणमें अर्थात् एक समयमें लोकके अग्रभाग तनु-  
 वात प्रलयमें जा विराजते हैं। यह गति स्वभावसे ही होती है। जहांतक  
 धर्म द्रव्य है वहांतक गमन होता है ॥ टीकाकार कहते हैं—पट्ट कायके  
 कर्ममें फंसे हुए प्राणियोंके लक्षणसे सिद्धोंका लक्षण अलग है, इसलिये  
 वे सिद्ध परमेशी ऊर्ध्व गमन करते हैं और सदाशिव (कन्याण) स्व  
 मोक्षस्वरूपमें निश्चल तिष्ठते हैं ॥ बंधके छेद होजानेसे श्री सिद्ध भगवान्  
 अपनी अतुल महिमामें विराजमान रहते हैं उससमय देव और विधावर  
 प्रच्यक्षरूपसे उनकी स्तुति नहीं करसकते। वे देवोंके देव प्रसिद्ध सिद्ध  
 भगवान् व्यवहारनयसे लोकके अग्रभागमें विराजते हैं परन्तु निश्चय  
 नयसे अपने आत्मस्वरूपमें ही अचिचल रूपसे तिष्ठते हैं ॥ द्रव्य, क्षेत्र,  
 काल, भव, भावरूप पांच प्रकार संसारमें मुक्त पंचमगति धारी तथा पांच  
 प्रकार संसारसे छुड़ानेके कारण ऐसे सिद्धोंको में पांच प्रकार संसारसे  
 मुक्ति पानेकेलिये वंदना करता हूँ ॥

आगे कारणतत्त्वका स्वरूप कहते हैं:—

जाइजरमरणरहियं, परमं कम्मद्ववजियं सुद्धं ।  
 पाणाइचउसहायं, अक्खयमविणासमच्छेयं ॥ १७७ ॥

सामान्यार्थः—जन्म, जरा, मरणसे रहित, उत्कृष्ट, अष्ट कर्मोंसे  
 दूरवर्ती, शुद्ध, ज्ञान दर्शन सुख वीर्य चार स्वभावधारी, क्षयरहित,  
 विनाशविना तथा छेदरहित, जो तत्त्व है वही कारण परमात्मा है ॥



टीकाकार कहते हैं—जिसके सदा ही संसारीक मुरा तुरा नहीं है, न जिसके कोई बाधा है, न जन्म है, न मरण है, न पीड़ा है उसी ही आत्म-तत्त्वको मैं यहाँ नित्य कामदेवके मुरासे विमुक्त होकर मुझको मुराके-लिये नमस्कार करता हूँ, उसीकी स्तुति करता हूँ तथा उसीकी भावना भाता हूँ ॥ जो जीव आत्माकी आराधनासे रक्षित है, यत अपराधी है, ऐसा आगममें कथित है । मैं नित्य ही आनन्दके मन्दि-र आत्माको नमस्कार करता हूँ ॥

हिर भी परम निर्माणके योग्य जो परम तत्त्व उसीका स्वरूप हने हैं-

परिद्वंद्विय उधसग्मा, णधि मोहो विभिद्यो ण णिडा य ।  
 पा य तिण्हा णेय लूहा, तच्छेय य ह्यदि णिड्याणी ॥१८०॥

सामान्यार्थः - जो न तो इन्द्रियो है, न शार्म है, न कुछ भाव है, न जायग है, न निद्रा है, न दृग्मा है और न धृग्मा है वही निर्माण है । विशेषार्थ - जो तत्त्व अण्ड एक माने परेशामें लोक-स्वरूप है इस कारण एक एक भाजन, समन, प्राण, वायु और ओज को पात्र इन्द्रियोका व्यापार ना है । इह, मनुष्य, विदेन, वेदान, सचनन हुए इत्यनेन तिमका नया है । शक्तिके ज्ञान तथा यथास्थान यामिजने इत्यनेन एक न तो इहेन नापनी है, न यति इमोहीनी है - हीनी यका के न-तो है । इह नर इताएन तो शक्ति है इस कारण एक कोर्षे शिल्पके त्वापे अन्तरे नया है । नि य प्रकाशमान है इहूही लोकस्वरूपे शि-का यका न नने एक एक निद्रा नहीं है, नया यका य इहूही एकको नर नरुन नय केनके इत्यनेन एक न तो धृग्मा है, न दृग्मा है, इहूही ही परम तत्त्व ही निर्माण तत्त्व ही है । यही ही समुत्पत्तिवर्णने

करा है, कि जहाँ ज्वर जन्म तथा जराकी वेदना नहीं होती, न जहाँ मरण है, न वहाँसे आना है, न कहीं जाना है, ऐसा तत्त्व सो गुणोंमें श्रेष्ठ ऐसे श्रीगुरुके चरणकमलोंकी सेवाके प्रसादसे हम लोगोंको भी अपने अत्यन्त निर्मल चित्तके भीतर प्राप्त होता है । टीकाकार कहते हैं:—जिस विकल्परहित, तथा अनुपम गुणोंसे अलंकारित ब्रह्मस्वरूपमें इन्द्रियोंका नानाप्रकारका भयानकरूपसे वर्तना कुछ भी नहीं है, न जहाँ संसारके मूल कारण ऐसे अन्य सासारिक गुणोंके समूह हैं ऐसे ही परमात्म स्वरूपमें आत्मीक सुरास्वरूप अविनाशी एकरूप ऐसा जो निर्वाण सो प्रकाश मान होता है ॥

आगे सर्व कर्मोंसे रहित, शुभ, अशुभ तथा शुद्ध ध्यान और ध्येय त्यागि विकल्पोंसे मुक्त जो परम तत्त्व उसके स्वरूपको कहते हैं—

गवि कम्मं णोकम्मं, णवि चिंता णेव अहुरुद्दाणि ।

गवि धम्ममुक्कझाणे, तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥१८१॥

सामान्यार्थः—न तो जहाँ द्रव्य कर्म हैं, न जहाँ नो कर्म हैं, न चिंता है, न आर्च और रात्रिध्यान हैं तथा वहाँ धर्म और शुद्धध्यान भी नहीं है । ऐसी अवस्थामें ही निर्वाण होता है ॥

विशेषार्थः—वह परम तत्त्व सदा निरंजन अर्थात् कर्मरूपी अंजनसे रहित है इस कारण उसके आठों ही जातिके द्रव्य कर्म नहीं हैं, तानिकाओंमें उपाधिरहित स्वरूपका धारो है इससे उसके पार्श्वो नो कर्म नहीं है, मनाहित है इस कारण उसके कोई चिंता नहीं है, औद्ययिक आदि विभाव भावोंका जहाँ अभाव है इससे वहाँ आर्त और रात्रिध्यान नहीं है । धर्म और शुद्धध्यान करनेके योग्य अन्तिम औद्ययिक शरीरक न होनेसे नो कर्म है, न शुद्धध्यान है । ऐसे ही परम तत्त्वमें

निर्वाणका महा आनन्द प्राप्त करता है। टीकाकार कहते हैं—सर्वे कम्मोके अधकारके समूहका जहां नाश हो गया है ऐसे निर्वाणके स्वरूपमें कोई भी कम्म नहीं है, न वहां चारों ध्यानोमिसे कोई ध्यान है। जब परब्रह्मस्वरूप ज्ञानका पुंज सिद्धरूप हो जाता है तब कोई ऐसी मुक्तिही अवस्था हो जाती है जो बचन और मनसे दूर है अर्थात् न तो जिसे कह सकते और न मनसे विचार सकते हैं ॥

आगे कहते हैं कि श्री सिद्ध भगवानके स्वभाव गुण होते हैं—

विज्जदि केवलणाणं, केवलसोक्खं च केवलं पिरियं ।  
केयलादिदि अमुत्तं, अत्थित्तं सप्पदेसत्तं ॥ १८२ ॥

सामान्यार्थः—उक्त सिद्ध भगवानके केवल ज्ञान, केवल गुण, केवल वीर्य्ये, केवल दर्शन, अमूर्तीकरण, आस्तित्वभाव तथा सपदेशीयता अर्थात् अमंख्यात प्रदर्शयिता होता है ॥

विशेषार्थ - सम्पूर्णपने अंतर्गह सम्मुख होकर अपने ही आमाका है आश्रय जिसमें ऐसे निश्चय परम शुद्धध्यानके कर्ममें निर्वाण ज्ञानात्म-गादि नाउ कर्म नाश हो जाने हैं उस भगवान सिद्ध परमेश्वरके केवल ज्ञान केवलदर्शन केवलवीर्य्य केवलगुण अमूर्तता अस्तित्व और सपदेशीय आदि सर्व स्वाभाविक गुण होते हैं। टीकाकार कहते हैं—कर्मका उच्छेद होने पर श्री भगवान अर्थात् परम शुद्ध होकर सर्वज्ञ सिद्ध हो जाते हैं। ऐसे सिद्ध भगवानमें निश्चय है केवल ज्ञान केवलदर्शन का है जो साक्षात् सर्व परब्रह्मके ज्ञानके द्वाराके है तथा उक्त सिद्ध परमेश्वरके अस्तित्व तथा अस्तित्व गुण केवल है। अस्तित्व वीर्य्य आदि सर्व गुणकारी भाग्योके सम्पूर्ण परम शुद्ध कर्मोंमें निश्चय होता है ॥



आगे सिद्ध असिद्ध जीवमें एकता दिखाने हैं —

पिच्छाणमेव सिद्धा, सिद्धा पिच्छाणमिदि समुद्धिहा ।  
कम्मविमुक्को अप्पा, गच्छइ लोयग्गपज्जंतं ॥ १८३ ॥

सामान्यार्थः—निर्माण ही सिद्ध है तथा सिद्ध जीव ही निर्वाण है ऐसा कहा गया है । जो आत्मा कर्मोंमें गति होता है वह लोकके जन्ममग्नक जाता है ॥

विशेषार्थः—निर्माणशब्दके यहां दो अर्थ हैं । सिद्ध भगवान व्यव-  
हानयसे सिद्ध क्षेत्रमें तिष्ठते हैं परन्तु निश्चयसे भगवान अपने स्वरूपमें  
ही रहते हैं । इस कारण जो निर्माणरूप है वही सिद्ध है और जो सिद्ध है  
वह निर्वाणरूप है । इस कर्मसे निर्वाण शब्द और सिद्ध शब्दकी एकता  
सार्थक हुई । तथा जो कोई अभ्यन्त निकट मध्य जीव है सो परम  
पुरुषकी कृपासे प्राप्त जो परमभाव उसकी चार २ भावना करनेसे सर्व कर्म  
कटककी कीचटसे मुक्त होकर परमात्मा होता हुआ लोकके अमपर्यता  
चला जाता है ॥ और इसप्रकार निर्वाण प्राप्त कर सिद्ध हो जाता है  
टीकाकार करते हैं कि जिनमतमें मुक्ति और मुक्तजीव में कोई भी  
भेद नहीं प्रगट है, न कोई भेद युक्तिसे माटूम होता है और न आगमसे ।  
तथा यही ससारी मध्यजीव जब सर्व कर्मोंका नाश कर देगा तब परम  
मुक्तिरूपी सुन्दर कामनीका मोहनेवाला हो जावेगा ॥

आगे करते हैं कि सिद्ध क्षेत्रके ऊपर जीव और पुद्गलोंका गमन  
नहीं होता:—

जीवाण पुग्गलाणं, गमणं जाणंहि जाव धम्मत्थं ।  
धम्मत्थिकायभावे, तत्तो परदो ण गच्छंति ॥ १८४ ॥

सामान्यार्थः—जहातक धर्मास्तिकाय द्रव्य है वहातक जीव और

पुद्गलोंका गमन होता है ऐसा मैं जानता हूँ । धर्मास्तिकायके अभावसे उसके ऊपर कोई नहीं जा सकता है ॥

**विशेषार्थः—**जीवोंकी स्वाभाविक क्रिया सिद्ध लोकमें गमन है तथा विभावक्रिया छः कायके प्राणियोंके क्रमकरके सहित है अर्थात् छः कायोंमें भ्रमण करना है । पुद्गलोंमें स्वभावसे गति करनेवाला एक परमाणु होता है तथा दो परमाणुओंके स्कंध इनको आदि ले जो पुद्गलके स्कंध हैं वे विभाव क्रियावान हैं, इसकारण इन सर्वकी गमनक्रिया त्रिलोक शिखरके ऊपर नहीं है । क्योंकि आगे गमनका कारण जो धर्मास्तिकाय सो नहीं है, जैसे जलके अभाव में मछली की चलनरूप क्रिया नहीं हो सकती ॥ जहांतक धर्मास्तिकाय है उसी क्षेत्रतक ही चेतन व अचेतन जड़ पुद्गल गमन करेंगे इसके आगे नहीं । टीकाकार कहते हैं कि जीव और पुद्गल दोनोंकी गतिक्रिया तीन लोकके ऊपर नहीं हो सकती है क्योंकि आगे गमनमें सहायक जो धर्मद्वय उसका अभाव हो गया है ॥

आगे इस शास्त्रकी आदिमें जो नियम शब्द कहा गया है उसके फलको संक्षेपमें कहंत हैंः—

**णियमं णियमस्स फलं, णिद्धिद्वं पवयणस्स भत्तीए ।  
पुट्वावरयविरोहो, अवणीय पूरयंतु समयणहा ॥ १८५ ॥**

**सामान्यार्थः—**नियम और नियमका फल प्रवचनकी भाँतिकरके कहे गए हैं । यदि कहीं पूर्वापर विरोध भाँसे तो आगमके ज्ञाता उसको दूरकर उसकी पूर्ति करें ॥

**विशेषार्थः—**शुद्ध रत्नत्रयका ध्याख्यान जो किया गया उसके द्वारा नियम शब्दको समझाया है । तथा इस नियमका फल परम निर्वाण है सो भी कहा गया । यह सर्व कथन कविपनेके अभिमानसे नहीं किया .



वचनोंको सुनकर जिनेश्वर भगवान् कथित शुद्ध रत्नत्रयके मार्गमें हे मध्य! अपनी अरुचि मतकर, किन्तु अपनी भक्ति ही करनी योग्य है ॥ टीकाकार कहते हैं:-जहां देहरूपी युद्धस्थल जारूपी युद्धसे अति भयानक है, दुःसोंके समूहरूपी हिंसक पशु जहां विचर रहे हैं, समस्त जगतको नाश करनेवाली भयानक कालरूपी अग्नि जहां जल रही है, युद्धरूपी जल जहां मूरा गया है, नानाप्रकारकी सौटी नय तिनकरके भयानक अंधकार जहां फैल रहा है, ऐसे संसाररूप संकटमई जंगलमें मिथ्या-दृष्टी जीवोंकेलिये एक जैन दर्शन ही शरणरूप है अर्थात् रक्ष करनेगला है । जिस प्रभुका ज्ञानरूपी शरीर लोक अलोकको अपनेमें रत्नेगला है, व जिसने गृहस्थावस्थामें नाकसे संस्र वजाकर समस्त भुवनको कम्पायमान किया है अथवा दिव्यध्वनिसे तीनों लोकको क्षोभित किया है ऐं श्री नेमिनाथ तीर्थंकरकी स्तुति करनेकेलिये तीन भुवनमें ऐसे षोडश या मनुष्य हैं जो समर्थ हो सकते हैं अर्थात् कोई नहीं है, तौभी इन जगतमें उनही स्तुति किये जानेका कारण मात्र एक उनकेपैरे परम उन्माहरूपमई भक्ति ही है । मैं ऐसा मानता हूं ।

आगे शास्त्रका नाम कहते हैं, शास्त्रके कथनको संक्षेपतः है:-

णियभावणाणिमित्तं, माए कर्दं णियमसारणामसुई ।  
बुद्धा निणोवदंसं, पुब्बावरदोसणिम्मूअं ॥ १८७ ॥

सामान्यार्थः:-मेने यत्त नियमसार धन्य करने आत्मभावनाके निमित्त ही श्री त्रिनेन्द्रके पुराण शेष गदित उपदेशको सबलरूपे किया है ॥

विशेषार्थः:-दशहर अनाथ्यं श्री बुद्धशुभार्थ्य आने नलिये किये यत्त धन्यको पुराणके जलपन्न कृतार्थे जपनेको मानने हुए किये



ADARSHANAND BHARATI  
JAIN LIBRARY  
BIKANER, RAJPUTANA.

